संत साहित्य

(भाषापरक अध्ययन)

डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल

प्रकाशक
ग्रन्थम,
रामबाग, कानपुर–२०८०१२
द्वितीय संस्करण, १९८६
मुद्रक :
ग्रन्थम प्रिंटिंग प्रेस
साकेतनगर, कानपुर–२०८०१४
मूल्य : १२५.००

आचार्य प्रवर डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'

सतगुरु की महिमा अनत, अनत किया उपकार।

\+ + + +

क्या ले गुरु संतोषिए, हौंस रही मनमाहिं।

मेरे जीवन-निर्माता

गुरुदेव डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'

के

कर कमलों में

सादर समर्पित

आत्मनिवेदन

संत साहित्य का द्वितीय संस्करण सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव होना स्वाभाविक है। यह संस्करण आवृत्तिमात्र नहीं है। यथास्थान एवं यथावश्यकता परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं पृथकीकरण द्वारा इस ग्रन्थ को अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

९/६८ आर्यनगर,
कानपुर—२

—प्रेमनारायण शुक्ल

प्राक्कथन

हिन्दी-साहित्य की भक्तिकालीन धारा में संत-साहित्य का एक विशिष्ट स्थान है। संतों ने अपनी साधना द्वारा जहाँ एक ओर वैयक्तिक जीवन को समुन्नत किया, वहीं दूसरी ओर लोक-जीवन को भी उदात्तता की ओर अग्रसर करने का पुण्य प्रयास किया। अन्त: एवं बाह्य, दोनों ही रूपों की पवित्रता तथा कथनी एवं करनी की एकरूपता संतों की जीवन-यात्रा का प्रधान संबल थी। उन्होंने साधना की जिस उच्च मनोभूमि पर प्रतिष्ठित होकर तत्व का दर्शन किया वह आध्यात्मिक चिन्तन की एक महत्वपूर्ण घटना सिद्ध हुई।

राजनीति तथा शासन-व्यवस्था जीवन-दिशा में परिवर्तन की सृष्टि करती है। फलत: समाज अपनी युगीन प्रवृत्तियों के आकलित स्वरूप को लेकर चलता है। जब किसी देश में दो या दो से अधिक सभ्यताओं का सम्मिलन होता है, अथवा राजकीय परिवर्तन होते हैं, तब सामान्य जीवन का क्षुब्ध हो जाना स्वाभाविक है। इसी परिस्थिति में मानव के धैर्य का, उसके विवेक का परिचय मिलता है। यह निर्विवाद है कि संतों ने अपने युग की आवश्यकताओं को समझा था और बड़ी ही निष्ठा के साथ अपनी विमल वाणी के उद्घोष द्वारा जन-जीवन में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी थी। धर्मान्धता, रूढ़ियों का अन्धानुकरण, जातिगत भेदभाव, सम्प्रदायगत कट्टरता आदि उन समस्त विघटनकारी प्रभावों के प्रति उन्होंने विद्रोह किया और उस व्यापक सत्य को, परमतत्व को प्राप्त करने का आग्रह किया जो हमारे प्राणों का प्राण है, जो विश्वात्मा में अगोचर होकर रमण कर रहा है और जिसे हमारे वैदिक ऋषियों ने सर्वद्रष्टा एवं सर्वशक्ति सम्पन्न जानकर अपना उपास्य माना था।

तमध्वरेषु ईडते देवं मर्त्ता अमर्त्यम्। यजिष्ठं मानुषे जने।

—ऋ० ५-१४-२

इन संतों ने अपनी ज्ञान-साधना एवं उपदेश-प्रक्रिया में विभिन्न धार्मिक धाराओं का प्रभाव ग्रहण करते हुए एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखा है। विरोध केवल वहीं पाया जाता है जहाँ शास्त्रों के तत्व को ग्रहण न करके उनका विवेकहीन अनुकरण किया गया है। विगत वर्षों में संत-साहित्य की इन विशेषताओं पर मान्य विद्वानों द्वारा गंभीरतापूर्वक मनन हुआ है, और चिन्तन सम्बन्धी अनेक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किए गए हैं जिससे संतों की लोकपरक दृष्टि तथा

उनके आध्यात्मिक विचारों का स्वरूप स्पष्ट होता है। विवेचना के विविध रूपों के साथ ही साथ सन्तों की भाषा, विशेष रूप से कबीर की भाषा पर भी यत्र-तत्र विचार किया गया है। कबीर-साहित्य का अध्ययन एवं अध्यापन करते हुए मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि संत-साहित्य का भाषा-परक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय तो कदाचित् संत-साहित्य की विवेचना में एक विशिष्ट अंग की पूर्ति हो सकेगी।

विश्व में कोई भाव या विचार जितना अधिक प्राचीन है, भाषा भी उतनी ही अधिक प्राचीन है। विभिन्न भौगोलिक सीमाओं, राजनीतिक एवं धार्मिक क्रान्तियों तथा नाना घटनाचक्रों के प्रभाव-स्वरूप भाषा भी अपना रूप बदलती रहती है तथा क्षेत्रगत विशेषताओं के कारण भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित होती है। भाषा की इस विविधरूपा प्रकृति के दर्शन हमें संतों की रचनाओं में विशेष रूप से प्राप्त होते हैं। संतों की उदारचेता प्रवृत्ति जिस प्रकार विभिन्न धार्मिक मान्यताओं के द्वारा परम सत्य का दर्शन करना चाहती थी उसी प्रकार विभिन्न भाषागत स्वरूपों के माध्यम से उसी दर्शन को—जीवन के सत्य को व्यक्त करना भी उसका अभीष्ट था। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि हमारे समस्त धार्मिक ग्रंथ, शास्त्रादि संस्कृत भाषा में ही लिखे गये। व्याकरणिक नियमों से जटिल होती हुई यह भाषा जन-सामान्य के क्षेत्र से हटकर एक विशिष्ट वर्ग (पंडित समाज) तक ही सीमित रह गई। इसीलिए संस्कृत भाषा को उस कूप-जलवत् माना गया है जिसकी संप्राप्ति कष्टसाध्य है। वस्तुत: लोक-मानस लोक-भाषा में ही विकसित होता है। धर्म की जो ज्योति लोक के अन्तस से प्रस्फुटित होती है, वही लोक-कल्याण करने में सक्षम होती हैं। इस ज्योति की संवाहिका लोक-भाषा ही बन सकती है जो घर-घर में उसके प्रकाश को फैला सके। लोक-भाषा का स्वरूप उस पयस्विनी के समान है जो अपने दोनों कूलों से बँधी रहकर भी अपनी स्वतन्त्र प्रकृति का परिचय देती है। वह अपने उद्गम स्थान पर भले ही अत्यंत संकुचित एवं सीमित हो, पर उत्तरोत्तर विकासोन्मुखी होती हुई वह विभिन्न भूमिखण्डों का संस्पर्श प्राप्त करती है तथा अपने जल-सीकरों द्वारा समीपस्थ प्रदेश को उर्वर बनाती है। संतों ने लोकवाणी की इसी उर्वराशक्ति द्वारा अपने अन्तस के निगूढ़ रहस्यों, अनुभूतियों, उपदेशों आदि को व्यक्त किया। संतजन प्राय: परिव्राजक होते थे जो इतस्तत: भ्रमण करते हुए साधनापरक मार्गों एवं लोकोन्नयन के सम्बन्ध में उपदेश दिया करते थे। अपने भ्रमण-काल में ये संत विभिन्न प्रान्तीय बोलियों से प्रभावित न हुए हों, यह संभव नहीं है। उपदेश देते समय क्षेत्र-विशेष की भाषा के प्रभाव को किसी न किसी रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है। इसीलिए इनकी भाषा में वैविध्य पाया जाता है। एक बात और, जहाँ-जहाँ ये संत भ्रमण करते थे वहाँ-वहाँ वे अपना प्रभाव भी छोड़ते चलते

थे । इस प्रकार उनकी शिष्य-मंडली में प्राय: अनेक क्षेत्रों के व्यक्ति रहे होंगे । अस्तु उस समय मुद्रण–कला के अभाव में उनके उपदेश गुरु-परम्परा के माध्यम से मौखिक रूप से ही प्रचलित हुए जिन्हें विभिन्न क्षेत्रीय व्यक्तियों ने अपने-अपने ढंग से उपस्थित किया । बाद में जब उनका संग्रह हुआ तो उनकी भाषा में विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होने लगा, इसीलिए आलोचकों ने उनकी भाषा को परिमार्जन एवं परिष्कार के अभाव में 'पंचमेल खिचड़ी' की संज्ञा प्रदान की है । यह ठीक है कि संतों की भाषा में एकरूपता का अभाव है, पर इस अभाव को हमें हेय दृष्टि से नहीं देखना है । हमें उस युग के स्वरूप और लोक–संस्कार के आधार पर ही उनकी भाषा पर विवेचन करना चाहिए । संस्कृत के पश्चात पालि-प्राकृत एवं अपभ्रंश के अंचल से लोक-भाषाएँ विकसित हुईं । हिन्दी भाषा का परिनिष्ठित रूप उस समय लोक-जीवन के समक्ष न आ सका था, अत: लोक-कल्याण की दृष्टि से संतजन जिस भाषारूप को अपना सके वही हमें उनकी बानियों, शब्दों, साखियों आदि में उपलब्ध होता है । इसमें सन्देह नहीं कि उनकी भाषा अपनी अनेक रूपता में भी एक रूपता रखती है । इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि राष्ट्रभाषा (राज-भाषा) को लेकर इस समय भारतवर्ष में जो समस्या उपस्थित है उसका समाधान संतों की भाषा ने बहुत पहले ही उपस्थित कर दिया है । उत्तर से लेकर दक्षिण तक संतों की भाषा जिसमें संस्कृत, गुजराती, मराठी, पंजाबी, राजस्थानी, ब्रज, अवधी, अरबी, फारसी आदि भाषाओं के शब्द पाए जाते हैं, अन्त:प्रांतीय भाषा के रूप में प्रचलित थी । उस समय इस प्रकार का भाषा-विवाद न था ।

संतों ने भाषा-शास्त्र के नियमों का सम्यक् अध्ययन किए बिना ही किस प्रकार अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त बनाया और उसे कौन-कौन शब्द-परिधान प्रदान किए आदि कितने ही प्रश्न आज हमारी जिज्ञासा का विषय बने हुए हैं । प्रस्तुत प्रबन्ध उसी जिज्ञासा के शमन का एक सामान्य प्रयास मात्र है ।

इस ग्रंथ में भाषा से सीधा सम्बन्ध रखने वाले विषय ही विवेचना का अंग बन सके हैं । भाषा जीवन, सभ्यता, प्रकृति, धर्म आदि के प्रभाव को लेकर चलती है । अत: संत-साहित्य की भाषागत प्रकृति पर विचार करते समय इन विषयों को ध्यान में रखा गया है । संत कवियों की रचनाओं में अनेक पारिभाषिक शब्द पाये जाते हैं जो कहीं-कहीं प्रतीक-रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं । इनका अध्ययन इतना जटिल एवं दुरूह है कि वह सम्प्रदायगत गुरु-शिष्य परम्परा से ही संभव हो सकता है । प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने अतिप्रचलित पारिभाषिक एवं प्रतीकात्मक शब्द–रूपों को लेकर विचार किया है । मैं यह अनुभव करता हूँ कि यह अध्ययन एक स्वतंत्र ग्रन्थ का विषय बन सकता है । अस्तु, यह विवेचन एक अंग की पूर्तिमात्र है, पूर्ण विवेचन नहीं ।

किसी भी साहित्य की भाषा का अध्ययन उसके व्याकरणिक स्वरूप तथा शब्दों की वैज्ञानिक प्रक्रिया के परिचय की अपेक्षा रखता है। अत: संत-साहित्य की भाषा का अध्ययन करते समय इस दृष्टि से भी विचार किया गया है।

कबीर तथा अन्य संत कवियों का साहित्य विद्वज्जनों के समक्ष काव्यात्मक दृष्टि से विवेचना का महत्वपूर्ण अंग नहीं रहा है। वस्तुत: काव्यात्मक सृष्टि न तो संतों का उद्देश्य था और न उसके लिए उनके पास अवकाश ही था। भाव की भूमिका में प्रतिष्ठित होते ही वाणी स्वत: काव्यमय हो जाती है। इसीलिए संतों की अभिव्यक्तियों में भी काव्यात्मक गुणों की संप्राप्ति स्वाभाविक है। प्रश्न केवल मात्रा का रह जाता है। इसी दृष्टि से संत-साहित्य में पाए जाने वाले काव्य-तत्त्वों को देखा गया है।

शब्द और उनके प्रयोग मानव-मस्तिष्क की चिंतनधारा का परिचय प्रदान करते हैं। इसी माध्यम से किसी जाति की सामाजिक चेतना के इतिहास का भी हमें ज्ञान प्राप्त होता है। विवेच्य सामग्री के अन्तर्गत इस तथ्य को ओझल नहीं होने दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री-चयन के अभिप्राय से मैंने विशेष रूप से भक्तिकाल के प्रमुख निर्गुण संत-कवियों को ही लिया है। समस्त संत-कवियों को लिया जाना संभव भी न था। प्रबंध के कलेवर को अत्यधिक विस्तार से बचाने के विचार से हमने उद्धरण देते समय यह आवश्यक नहीं समझा कि प्रत्येक उदाहरण के लिए प्रत्येक संत कवि की पंक्तियाँ उद्धृत की ही जावें, अत: कहीं पर किसी एक कवि की पंक्ति है तो कहीं पर किसी दूसरे कवि की पंक्ति। पर इतना ध्यान अवश्य रखा गया है कि यथासाध्य विवेच्य विषय का प्रतिपादन किसी न किसी उद्धरण द्वारा अवश्य हो जाय।

संत-कवियों के उपलब्ध साहित्य की प्रामाणिकता का भी प्रश्न मेरे सामने रहा है। इस सम्बन्ध में अपने सीमित साधनों के कारण मैंने उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर विवेचना करनी उचित समझी है जिनको अन्य विद्वज्जन आधार बनाते आये हैं।

वस्तुत: पूर्व लिखे गए ग्रन्थ भावी लेखक के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य करते हैं। मैंने जिन विद्वानों के ग्रन्थों एवं विचारों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में लाभ उठाया है उनके प्रति श्रद्धावनत होकर मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

गुरु पूर्णिमा
संवत् २०२२

—प्रेमनारायण शुक्ल

विषय-सूची

●

संक्षिप्त संकेत

अ०	अध्याय
ऋ०	ऋग्वेद
क० ग्रं०	कबीर ग्रन्थावली
क० बी०	कबीर बीजक
क० सा०	कबीर साहब
क० ज्ञान०	कबीर ज्ञान गूदड़ी
क० शब्द०	कबीर शब्दावली
गुलाल०	गुलाल साहब की बानी
चरन०, चरनदास	चरनदास की बानी
दरिया०	दरिया साहब की बानी
दा० द०, दादू०	दादू दयाल की बानी
दूलन०	दूलन साहब की बानी
धरमदास०	धरमदास की बानी
धरनी०, धरनीदास०	धरनीदास की बानी
पृ०	पृष्ठ
बुल्ला०	बुल्ला साहब की बानी
बा०	बानी
भा०	भाग
भीखा, भीखादास०	भीखादास की बानी
मलूक०, मलूकदास०	मलूकदास की बानी
यजु०	यजुर्वेद
यारी०	यारी साहब की बानी
रत्न०	रत्नावली
वृह०	वृहदारण्यक उपनिषद्
शिव०	शिवसंहिता
सहजो०	सहजोबाई की बानी
सं० बा० सं०	संतबानी संग्रह
सं० सु०	संत सुधासार
स्कं०	स्कंद पुराण

१. संत-समीक्षा

सन्त : परिभाषा एवं परिवेश

न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापत्वाय संत्य ।।

–ऋग्वेद ८।१९।२६

उद्धृत मंत्र में 'संत्य' शब्द परमात्मा का विशेषण है। 'संत्य' से अभिप्राय है होने के योग्य। परमात्मा ही एक ऐसी सत्ता है जो समग्रभावेन होने के योग्य है। वही एक ऐसी शक्ति है जो है; और जो है वही अन्यों के अस्तित्व का भी कारण है। अत: अस्तित्व की आकांक्षा रखने वाले उसी की शरण में जायंगे, उसी का भजन करेंगे। 'संत्य' का अर्थ ही है ऐसी सत्ता जिसका भजन किया जा सकता है। अस्तु 'संत्य' का तात्पर्य होगा संभजनीय अर्थात् जिसके गुण गाये जायँ। वेद में सन्, सत्ता तथा सत् शब्दों का प्रयोग भी संत शब्द के अर्थ में हुआ है।[1]

अध्यात्म विद्या के सुगूढ़ातिगूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करने वाले उपनिषद् ग्रन्थों में परमात्मा को 'सत्यम्' कहा गया है[2]–

तानि ह व एतानि त्रीण्यक्षराणि "संति यमिति" तद्यत् "सत्"
तदमृतमथ यत् 'ति' तन्मर्त्यमथ यत् 'यम' 'तेनोभे यच्छति। यदनेनोभे
यच्छति तस्मात् 'यम्' अहरहर्वा एवं वित्स्वर्गं लोकमेति।

–छान्दोग्य उपनिषद् ८।३।५.

'सत्यम्' शब्द 'सं्'+'ति' और 'यम्' के योग से बनता है। 'स्' का तात्पर्य अमरता अर्थात् जीव है। 'ति' से तात्पर्य है नाशवान जगत। 'यम्' का अर्थ है जीव और नाशवान जगत। इन दोनों को वश में–नियम में रखने वाला अर्थात् ईश्वर। इसीलिए ईश्वर की संज्ञा हुई 'सत्यम्'। इस 'सत्यम्'–ईश्वर का जानना बड़ा कठिन

१– त्वंहि अग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन् सता। ऋ० ८।४३।१४
एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋ० १।१६४।४६

२– उपनिषद्=उप—नि—सद्—क्विप्। 'सद्' धातु का अर्थ है विशरण (नाश होना), गति (प्राप्त होना), अवसादन (शिथिल करना)। अस्तु उपनिषद् का तात्पर्य है वह विद्या विशेष जिसके द्वारा अविद्या का विनाश होता है और ब्रह्म की प्राप्ति होती है तथा जिसके सतत अनुशीलन द्वारा जन्म-मरण के बंधन शिथिल पड़ जाते हैं। कठोपनिषद् के शांकरभाष्य के उपोद्घात में इसे "ब्रह्म विद्या" कहा गया है।

है। इस पर नाना प्रकार के आवरण पड़े हुए हैं। ईशोपनिषद् में कहा गया है कि सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से ढका है। अतः वहाँ ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि सत्य की संप्राप्ति के लिए वह आवरण हट जावे:–

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।

–ईशोपनिषद्, मंत्र १५

यह आवरण क्या है? यह आवरण अनृत–असत् का आवरण है। जिस प्रकार अरणी में व्याप्त अग्नि का, भूमि के गर्भ में व्याप्त धन-राशि का ज्ञान हमें नहीं हो पाता, उसी प्रकार अन्तस्तल में स्थित ब्रह्म का ज्ञान भी अनृत के आवरण के कारण नहीं हो पाता। इसीलिए इस आवरण के हटाने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस आवरण के हटते ही उस परम सत् का दर्शन उपलब्ध हो जाता है।

गीता के सत्रहवें अध्याय में सत् और असत् की विवेचना इस प्रकार की गई है–

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥
यज्ञेतपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

ब्रह्म में ही मन के अटके रहने की स्थिति का नाम है 'सद्भाव'। साधन-क्रिया में अविरत रूप से संलग्न रहने की स्थिति की संज्ञा है 'साधुभाव'। जितने प्रशस्त कर्म हैं, उन्हें 'सत्' कहा जाता है। प्रशस्त का अर्थ है (प्र+शंस्+क्त) प्रशंसा के योग्य। मंगलविधान करने वाले–कल्याणकारी कर्म ही सत् कोटि में आते हैं। आत्यन्तिक मंगल का विधान तभी संभव है जब मन निष्काम भाव से ब्रह्म में लीन हो जाय। जिस साधना की सम्पन्नता के आधार से यह परम शान्ति की मंगलमय स्थिति प्राप्त होती है उसे ही 'सत्' कहा जायगा और जो उस मंगलविधान के कर्म में संलग्न है उसे साधु की पदवी प्राप्त होगी। यज्ञ (क्रिया) काल में, तपस्या (कूटस्थावस्था) में एवं जीव के कल्याण के लिए किए गए दान में जो स्थिति होती है वह सब सद्भाव ही है। इसी सद्भाव को ब्रह्मभाव भी कहा जाता है, क्योंकि इन समस्त कार्यों में ब्रह्म का ही मूल उद्देश्य विद्यमान रहता है। कोई भी कार्य ब्रह्म से पृथक् नहीं रहता है। जो साधु प्राणी इस साधना में सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं वे ही सच्चे साधु माने जाते हैं। इन साधुओं का समस्त कर्म-विधान सत्यमय ही

होता है । कर्म का तदर्थीय होना अत्यावश्यक है । कर्म का तदर्थीय रूप ही जिसे गीता ने यज्ञार्थ कर्म कहा है और जो कर्म बंधन का कारण नहीं बनता, सात्विक रूप की सृष्टि करता है । इस रूप में श्रद्धा का विकास और अभिमान का विनाश हो जाता है । श्रद्धा-संवलित कर्म का रूप केवल भगवत्प्रीत्यर्थ होने के कारण सत् माना जाता है । इसके विपरीत फलाफल, लाभ-हानि-जनित अथवा प्रवृत्ति परक कर्म असत् माने जाते हैं । कामोपभोग से मुक्त होकर सत्व बुद्धि की प्राप्ति के लिए ही "ॐ तत सत्" मन्त्र का उपदेश दिया जाता है ।

ऐसा व्यक्ति जिसने संसार की असारता को समझ लिया है, और इसके प्रपंचात्मक रूप से पूर्ण विरक्त होकर उस अणोरणीयान्–महतोमहीयान् के प्रति निष्काम भाव से अपनी समस्त प्रवृत्तियाँ एवं क्रिया-शक्ति को समग्रतः अर्पित करके उसी में पूर्णतः लय हो गया है, वह संत-पद का अधिकारी है । संसार के प्रति पूर्ण उपरामता की स्थिति ही सात्विक स्थिति है । इसी में सत् भाव एवं साधुभाव का उदय होता है ।

वार्ता-साहित्य में 'संत' शब्द का प्रयोग अनेक बार आया है । नैमिषारण्य में जिन शौनक ऋषि तथा उनके साथ के अट्ठासी सहस्र ऋषि-मुनियों ने दीर्घकालीन सत्र किया था वे सब संत कोटि के ही प्राणी थे ।

इस प्रकार संतों की परम्परा भारतीय साहित्य के मूल स्रोत तक पहुँचती है । वैदिक साधना को लेकर दो प्रकार के व्याख्यापरक ग्रन्थ हमारे सामने आते हैं । एक ब्राह्मण-ग्रंथ और दूसरे उपनिषद् ग्रंथ । ब्राह्मण ग्रंथ कर्मकाण्ड की उपादेयता प्रतिपादित करते हुये ब्रह्मानुभूति के लिये जप-तप, व्रतादि अनुष्ठानों को आवश्यक बताते हैं, किन्तु उपनिषद् ग्रंथों के ऋषियों ने भक्ति के स्वरूप को ज्ञानकाण्ड के आधार से प्राप्त करना चाहा । वैदिक भक्ति अपने मूलरूप में लोक-परलोक दोनों का समन्वय स्थापित करती हुई चली । पर कालान्तर में आध्यात्मिक जीवन एवं लौकिक जीवन का संतुलित रूप मिटने लगा । भागवत धर्म के विकास-क्रम का विवेचन करते हुये विद्वद्वर डा० मुंशीराम शर्मा का कथन है कि "भागवत धर्म, हमारी समझ में इसी प्रकार की परिस्थिति में उत्पन्न हुआ होगा । जब वेद का वास्तविक अर्थ विस्मृत हो चुका था और वैदिक पुरोहित उसके बाह्य रूप अर्थात् याज्ञिक विधि-विधान से ही चिपटे हुए थे ।"[1] आगे चल कर महाभारत काल के ऐसे कितने ही प्रसंग आते हैं जहाँ ब्राह्मण अपनी हिंसापरक-प्रवृत्ति का प्रदर्शन करता है, किन्तु ऋषि अहिंसा धर्म का पालन करने के लिए अपनी समस्त शक्तियों से सचेष्ट एवं सक्रिय दिखाई पड़ता है । भागवत भक्ति हिंसा-प्रधान यज्ञों-अनुष्ठानों के नितान्त विपरीत थी । इसमें जातिगत संकीर्णता को हटा कर सभी जातियों के प्राणी, चाहे वे पापी हों या

१–डा० मुंशीराम शर्मा–भक्ति का विकास, पृष्ठ २३८

या पुण्यात्मा, समान रूप से भक्ति के अधिकारी माने गये—

किरातहूणान्ध्र-पुलिन्द-पुल्कसा आभीरकंका यवनाः खशादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवेनमः ।।

—श्रीमद्भागवत २।४।१८

ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार पर होने वाले "द्रव्य यज्ञों के स्थान पर प्राणयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि का प्रचार किया गया। छान्दोग्य उपनिषद् (३।१५।४) में लिखा है 'अथ यत्तपोदानमार्जवमहिंसा सत्य वचनमिति सा अस्य दक्षिणा'। जो तप, दान, सरलता, अहिंसा और सत्य वचन है वही यज्ञ की दक्षिणा है। इन शब्दों से द्रव्य रूप दक्षिणा का ही नहीं, द्रव्यमय यज्ञों का भी निषेध हो जाता है। गीता (४।३३) में भी द्रव्यमय यज्ञों से ज्ञानमय यज्ञ को श्रेष्ठ कहा गया है।[1] इस ज्ञानयज्ञ में समस्त कर्म अपने फलों के साथ परिसमाप्त होते हैं।

उपनिषद् ग्रंथों में श्रेय और प्रेय मार्ग[2] तथा परा और अपरा विद्या[3] को लेकर जो विवेचन प्रस्तुत किया गया है वह पारलौकिक, आध्यात्मिक ज्ञान की ही महत्ता प्रतिपादित करता है। परा विद्या द्वारा उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान की संप्राप्ति गुरू के बिना संभव नहीं है। इसी से भक्ति के इस विकास-क्रम में गुरू का महत्व भी प्रतिपादित किया गया। कठोपनिषद् का कथन है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।।

१।३।१४

यहां पर ऋषि का उद्बोधन है कि आलस्यमयी निद्रा में सोने वाले ऐ प्राणियो! यह अविद्यात्मक निद्रा तुम्हारे जीवन के लिए अत्यन्त भयावह है। अतः चैतन्य होकर उठो और ब्रह्मज्ञानी (गुरू) की खोज करके उससे अपनी वास्तविक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करो। वस्तुतः अध्यात्म विद्या अत्यन्त गुह्य विद्या है जिसका ज्ञान बिना गुरू के सम्भव ही नहीं। गुरू ही अंधकार को दूर करके ज्ञान का प्रकाशपुंज प्रदान करता है।

१— श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।

२— श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौसम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयोहि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।।

—कठोपनिषद १।२।२

३— तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं
निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।

—मुंडक १।१।५

उपनिषद् ग्रंथों की चिंतनपद्धति को जैनियों एवं बौद्धों ने भी स्वीकार किया। उपनिषद् के ऋषियों की भाँति ही इन सम्प्रदाय वालों ने हिंसापूर्ण यज्ञों का विरोध किया। कर्मकाण्ड-प्रधान भक्ति के स्थान पर प्रभु की आंतरिक साधना पर इन दोनों सम्प्रदायों ने विशेष बल दिया। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् ग्रंथों के ऋषि, जैनियों के तीर्थंकर और बौद्धों के श्रमण, परिव्राजक, अर्हत आदि सब एक-सी ही विचार-परम्परा के पोषक थे। ये साधु-महात्मा जिन्हें ब्रह्मतत्ववेत्ता होने के कारण संत कहा गया है, भक्ति के बाह्याचार सम्बन्धी रूप पर आस्था नहीं रखते थे। भक्ति के साधन उनके लिए महत्वहीन थे, क्योंकि साधारणतः लोग उन साधनों—जप-तप, यज्ञ, पूजा, पाठ, व्रत, दान आदि को ही भक्ति मान बैठे थे। ये रूप भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था में माने जा सकते हैं, पर दुर्बल मन प्रायः इन्हीं के महत्व से अभिभूत होकर इन्हीं तक सीमित रह जाता है और उसके मन में कर्ता होने का दर्प-अहंकार घर कर लेता है। अहंकार के जाग्रत होते ही चित्त की सात्विक स्थिति नष्ट हो जाती है और सात्विक भाव की अनुपस्थिति में सत् एवं साधु भाव कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इसीलिए ज्ञानकांड के मानने वाले संतों ने उस परम सत् की अनुभूति प्राप्त करने के लिए अन्तस्साधना पर विशेष बल दिया है। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की भाँति हिन्दी के संत कवियों ने भी गुरु की महिमा का उल्लेख किया है।[1] यथा—

कोई बादी कोई बिबादी, जोगी कौं बाद न करनां।
अठसठ तीरथ समंदि समावैं, यूं जोगी कौं गुरुमुखि जरनां॥

—गोरखबानी, पृष्ठ ५.

सच्चा जोगी खंडन-मंडन के पचड़े में नहीं पड़ता है। जिस प्रकार अड़सठों तीर्थों (नदियों) का जल समुद्र में समाता है उसी प्रकार शिष्य को भी अपने गुरू के प्रति पूर्ण आस्था रखनी चाहिए, और उसी की वाणी को—उपदेश को मनन-चिंतन द्वारा निरन्तर पचाना (जरनां), आत्मसात करना चाहिए। मुंडक उपनिषद् का ऋषि भी शिष्य के कर्तव्य का निर्देश करता हुआ कहता है कि परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिष्य को जिज्ञासु रूप में गुरू के पास हाथ में समिधा लेकर (समित्पाणिः) जाना चाहिए। इस प्रसंग में ऋषि ने गुरू की भी व्याख्या कर दी है कि वह वेदज्ञाता तथा ब्रह्मनिष्ठ हो—

"तद्विज्ञानार्थं स गुरूमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"

—मुण्डक १।२।१२

संत की कार्य-पद्धति

उपनिषद्काल से लेकर भक्तिकाल तक की इस परम्परा को देखने से यह भी

१—**"गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रु शब्दस्तन्निरोधकः।"**

—अद्वयतारकोपनिषद।

पता चलता है कि हमारे ऋषि, संत या गुरु देश-काल के अनुसार अपनी कार्यपद्धति या कार्यसीमा को परिवर्तित करते रहे हैं। उपनिषद् काल का ऋषि लौकिक व्यक्ति की ही भाँति अपना लोक-व्यवहार चलाता है पर उसका एकमात्र लक्ष्य है अध्यात्म-चिंतन। वह प्रत्येक लौकिक कर्मकाण्ड की आध्यात्मिक व्याख्या उपस्थित कर देता है। यह स्थिति रामायण काल के प्रारंभ तक चलती है। रामायण काल में आकर ऋषि (संत) को विशिष्ट महत्व प्राप्त होता है। उसकी सम्मति के बिना किसी भी गुरुता-पूर्ण कार्य का होना संभव नहीं है। वह विभिन्न यज्ञादि कर्मकाण्डों का विधान करता है। लोकैषणा की दृष्टि से वह अपने मानापमान का ध्यान भी रखता है, पर आत्मस्थ होने के कारण वह निरभिमानी भी है। महाभारत काल तक आते-आते ऐसा प्रतीत होता है कि जो व्यक्ति अध्यात्मचिंतन में रत हैं वे लोक-सम्पर्क से कुछ अधिक दूर हो गये हैं। उदाहरणार्थ नारद और व्यास को ही ले लीजिए। ये नाना अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न हैं और कभी-कभी इनका प्रयोग भी करते हैं, किन्तु सामान्यत: ये लोकजीवन के प्रति उदासीन हैं। इस स्थिति की प्रतिक्रिया का होना भी स्वाभाविक था जो भगवान कृष्ण द्वारा प्रारम्भ हुई। उन्होंने निष्काम कर्म की प्रतिष्ठा की—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वर:॥
गीता ३।३०॥

बौद्ध काल तक आते-आते गुरु की प्रतिष्ठा बढ़ती है। "संघं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि" से स्पष्ट है कि लोक-जीवन से ऊबा हुआ व्यक्ति गुरु की चरण-शरण में ही जाकर शान्ति लाभ करता है। वस्तुत: गुरु जीवन की कला सिखा देता है। उसकी संगति पाकर यह मिट्टी का शरीर सुवर्ण के समान दीप्तिवान बन जाता है। गुरु स्वत: तो साधना द्वारा सिद्धि की प्राप्ति करता ही है, साथ ही अपनी सिद्धावस्था में मग्न होता हुआ लोक-हित-साधन भी करता है। भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी इसके उदाहरण हैं। सामान्यत: बौद्धकाल से संत का वह स्वरूप विकसित होने लगता है जिसे हम मध्ययुग के संत-सम्प्रदाय में देखते हैं। इसमें तीन बातों की प्रधानता है-(१) गुरु की रहनी (२) गुरु की करनी और (३) गुरु की कथनी।

'रहनी' के अन्तर्गत गुरु का रहन-सहन आता है जिसमें उसके दो रूप देखे जाते हैं—एक लोकव्यवहार की रहनी और दूसरी आत्मस्थिति की रहनी। साधना पथ इसी रहनी का ही एक रूप है। इसमें हम गुरु की परहित-चिंतना, मानापमान में समभावत्व, परम संतोषी वृत्ति आदि पाते हैं। 'करनी' के अन्तर्गत गुरु द्वारा लोक-हित के कार्यों को सम्पन्न होता हुआ देखते हैं। गुरु सामाजिक स्थिति को सुव्यव-

स्थित करता है। समाजपरक एवं व्यक्तिपरक आचार-व्यवस्था को नियंत्रित करता है। 'कथनी' के अन्तर्गत गुरू के लोक–हित सम्बन्धी उपदेश आते हैं। इसमें हम करनी और कथनी का समन्वय पाते हैं। गुरू के व्यक्तित्व का परिचय उसकी 'कथनी' में प्राप्त होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह दृष्टव्य है कि संतों की जो परम्परा उपनिषद् काल से चली उसमें कालान्तर में क्रमश: नाम–भेद होता गया और संत शब्द उन विशिष्ट महात्माओं के लिए प्रयुक्त होने लगा जो साम्प्रदायिक रूप में निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते थे। इस संबंध में विट्ठल एवं वारकरी सम्प्रदाय के नाम लिए जाते हैं। निर्गुणोपासना के कारण ही ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ तथा तुकाराम के लिए संत शब्द का प्रयोग होता है। विद्वद्वर परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि "संत शब्द क्रमश: रूढ़–सा हो गया और कदाचित् अनेक बातों में उन्हीं (ज्ञानदेव, नामदेवादि) के समान होने के कारण उत्तर भारत के कबीर साहब तथा अन्य ऐसे लोगों का भी पीछे वही नामकरण हो गया।"[1] श्री चतुर्वेदी जी ने अपने इस मत की पुष्टि में 'मिस्ट्रीसिज्म–इन–महाराष्ट्र' नामक पुस्तक के लेखक प्रो० आर० डी० रानाडे के मत[2] का उल्लेख किया है। वे भी संत शब्द को विट्ठल सम्प्रदाय विशेष की वस्तु मानते हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि दूसरे सम्प्रदाय में सन्त शब्द का प्रयोग नहीं है। डा० बड़थ्थवाल कबीर, दादू नानक आदि महात्माओं को सन्त न कह कर "निर्गुण सम्प्रदाय के कवि" कहते हैं।[3]

व्याकरणिक दृष्टि से 'सन्त' शब्द संस्कृत के 'सत्' शब्द का बहुवचनान्त[4] रूप है जो 'अस्' धातु से बनता है। 'अस्' का अर्थ है होना। 'अस्' में शतृ प्रत्यय लगा कर 'सत्' शब्द बनता है। 'सत्' से तात्पर्य है 'रहने वाला' अथवा 'होने वाला' शुद्ध रूप में होने वाला या रहने वाला एकमात्र ब्रह्म ही है। इसीलिए उसे भी सत् कहा गया है और साधक भी ब्रह्मनिष्ठ होने के कारण अपना अस्तित्व अक्षुण्ण रखता है, इसीलिए उसकी भी 'सन्त' संज्ञा हुई। इस प्रसंग में 'संत' शब्द की व्याकरणिक व्याख्या में न लग कर संतों के स्वभाव, आचरण आदि से परिचय पाना अधिक समीचीन होगा।

---

१. उत्तरी भारत की संत परम्परा—पृष्ठ ७।

2. Now 'Sant' is almost a technical word in the Vitthal Sampradaya, and means any man who is a follower of that Sampradaya. Not that the followers of other Sampradaya are not Santas, but the followers of the Varkari Sampradaya are Santas par excellence' P. 42.

3. Preface in the Nirgun school of Hindi Poetry. Page 1.

४. "सन्त: परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धि:।"—कालिदास।

संत का परिचय उसका रूप नहीं, गुण है। जो व्यक्ति, सत्, चित् और आनन्दरूप प्रभु में अपने को निरन्तर लीन किए रहता है वही सच्चा सन्त है। कृपा सन्त के रूप में साकार हो उठती है। सुख उसकी अन्तश्चेतना को कभी प्रमादी नहीं बनाता और न दुख कभी उसे कर्तव्यपथ से विचलित करता है। कामनाओं का कलुषित व्यापार उसकी बुद्धि को कभी मलिन नहीं बना सकता। उसके स्वभाव में गम्भीरता एवं प्रकृति में धैर्य का निरन्तर वास रहता है। भूख-प्यास उसे कभी व्यथित नहीं करती। शोक और मोह उसे कभी चंचल नहीं बनाते। जन्म और मृत्यु से वह उपरामता प्राप्त कर लेता है। श्रीमद्भागवत में भगवान कृष्ण ने उद्धव से अपने भक्त का परिचय देते हुए कहा है:—

कृपालुरकृत द्रोहस्तितिक्षुः सर्व देहिनाम्।
सत्यसारो नवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामैरहत धीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान्जित षड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥

—श्रीमद्भागवत—११।११।२९-३१

साधारण प्राणियों के समान सन्त के समक्ष भी विषयों का जाल बिछा रहता है, पर ब्रह्मानन्द-मग्न होने के कारण विषयों की मोहकता उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाती। वे समुद्र के समान अटल और अविकारी बने रहते हैं। समुद्र में चाहे जितना जल प्रविष्ट हो और चाहे उससे कितना ही जल निकल जाय, पर उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। सदैव एकरसता एवं एकरूपता बनी रहती है। पर, हाँ, जैसे चन्द्र की अमृतोपम मरीचिकाओं को देखकर उन्हें पाने के लिए वह अपनी सहस्रातिसहस्र बाहुओं से लपकता है उसी प्रकार ब्रह्मध्यानावस्थित सन्त भी उसकी सोममयी ज्योत्स्ना की संप्राप्ति के लिए सहस्रातिसहस्र कामनाओं को उसकी ओर संचालित करता है। उसकी समस्त कामनायें ब्रह्मोन्मुख होती हैं। वह अहंकार से शून्य एवं भोग—साधन में ममता—रहित होकर पूर्ण शान्ति का उपभोग करता है। यही भक्त की ब्राह्मी स्थिति मानी गई है जिसमें अवस्थित होकर अन्तःकरण पूर्णतः विशुद्ध हो जाता है। गीता का कथन है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

—द्वितीय अध्याय, श्लोक ७०, ७१, ७२

सन्त का मन सदव ब्रह्मनिष्ठ होने के कारण दुख का बोध नहीं कर पाता। इसी हेतु वह दुख के कारणों के प्रति द्वेष का अनुभव भी नहीं करता। वह संसार के समस्त प्राणियों को कूटस्थदेव के रूप में देखता है तथा अपने घोरातिघोर शत्रु को भी मित्रवत् देखकर उसके प्रति निरन्तर स्नेह की अजस्र धारा प्रवाहित करता रहता है। वह ध्यानावस्थित होकर करुणाप्लावित हृदय से अवनीतल के अगणित ताप-तप्त प्राणियों को शान्ति प्रदान करने के लिये प्रतिक्षण अपने प्रभु को विलख-विलख कर पुकारा करता है। वह अपनी परावस्था में पहुँच कर यही सोचा करता है कि न तो मेरा कोई अस्तित्व है और न मेरा कुछ अपना ही है। अस्तु उसके लिए "कः शोकः को मोहः ?" क्योंकि वह तो "एकत्वमनुपश्यतः" है न ? गीता के बारहवें अध्याय में कृष्ण ने अपने प्रिय भक्त के रूप की जो व्याख्या की है, वही सन्त की व्याख्या है।[1] सन्त-प्राणी आत्मज होने के कारण प्रियत्व और अप्रियत्व के चक्र में नहीं पड़ता। वह आनन्दोपलब्धि के लिए बाहर की दौड़-धूप से सर्वथा दूर रहता है। क्रिया की नितान्त परावस्था में प्रतिष्ठिता होने के कारण वह सर्वथा एक रूप, एक रस रहता है। उसका चित्त सतत उद्वेग-रहित अवस्था में संसार के समस्त प्राणियों का मंगल-विधान करता रहता है। श्रेयस की प्राप्ति ही उसके जीवन का मूल मन्त्र है। उसके "शुद्ध अन्तःकरण में आत्मा का अपापविद्ध परमानन्दभाव समुदित होता है।" महात्मा कबीर ऐसे ही सन्त के मिलन की निरन्तर प्रतीक्षा किया करते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि सन्त के शरीर का स्पर्श जीवन के समस्त-पाप शाप को शान्त कर देगा—

कबीर सोई दिन भला, जा दिन संत मिलाहिं।
अंक भरे भर भेंटिया, पाप सरीरौ जाहिं॥

—क० ग्रं०, पृ० ५०

संतों की व्याख्या करते हुए कबीर का कथन है—

निरबैरी निहकांमता, सांईं सेती नेह।
विषया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह॥
संत न छाड़ैं संतई, जो कोटिक मिलैं असन्त।
चंदन भुवंगा बैठिया, तऊ सीतलता न तजंत॥

—क० ग्रं०, पृ० ५०-५१

संत अपनी ब्रह्म-निष्ठा के कारण ब्रह्म रूप ही हो जाता है। संत-काव्य में

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥१५
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भ यो परित्यागी मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६

—गीता द्वादश अध्याय।

ईश्वर और ब्रह्म में भेद नहीं माना गया।

साईं सरीखे संत हैं, यामें मीन न मेख।
संत औ राम को एक कै जानिये॥
दूसरा भेद ना तनिक आनै॥

—पलटू साहब की बानी।

महात्मा तुलसीदास भी संत और अनन्त (ब्रह्म) में भेद-दृष्टि नहीं रखते—
'जाने सुसन्त अनंत समाना।' —मानस, उत्तरकांड।

साधु-संगति से ही राम की उपलब्धि हो सकती है। इस तथ्य को संतों द्वारा अनेक बार कहा गया है—

मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णों एक रांम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नांम॥

—क० ग्रं०, पृ० ४९

साध मिलै तब ऊपजै, हिरदै हरि का हेत।
दादू संगति साधु की, कृपा करै तब देत॥१९॥
साध मिलै तब हरि मिलै, तब सुख आनंद मूर।
दादू संगति साध की, राम रह्या भरपूर॥२२॥

—दादू० की बानी, प्र० भाग, साध को अङ्ग।

संत का हृदय बड़ा दयालु होता है। श्रीमद से रहित वह निरन्तर परोपकार वृत्ति में ही लीन रहता है।[1] इसीलिए तो महात्मा तुलसी सतसंग के सुख को स्वर्ग और अपवर्ग के सुख से भी कहीं अधिक श्रेयस्कर मानते हैं—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग।
तुल न ताहि सकल मिल, जो सुखलव सतसंग॥

—मानस, सुन्दरकांड

जीवन के दो पक्ष हैं—एक आध्यात्मिक जीवन और दूसरा भौतिक-जीवन। इन दोनों में से किसी एक के प्रति व्यक्त की गई अतिशयता जीवन के स्वाभाविक रूप की सृष्टि नहीं कर पाती। जीवन की पूर्णता उसके संतुलन में है, समन्वय में है। इस विचार के समर्थन में यहाँ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का यह कथन द्रष्टव्य है कि ..."संत वह है जो पृथ्वी पर निवास करते हुए दिव्यलोक का संदेश भूतल पर

---

१. ये दीनेषु दयालवः स्पृशति यानल्पोऽपि न श्रीमदो।
व्यग्रा ये च परोपकारकरणे हृष्यन्ति ये याचिताः॥
स्वस्थाः संति च यौवनोन्मद महा व्याधि प्रकोपेऽपि ये,
तैः स्तम्भैरिव सुस्थितैः कलिभर बलान्ता धरा धार्यते।

—सुभाषित रत्नभाण्डागारम्, पृ० ५४

लाता है । जो पक्षी के समान आकाश में उड़ कर भी वृक्ष पर आकर विश्राम करता है । जो व्यष्टि के केन्द्र में ऊँचा उठ कर समष्टि गत जीवन के प्रति आस्थावान होता है, जो स्वार्थ को त्याग कर सामूहिक हित की बात सोचता है, ऐसे व्यक्ति का जीवन नीरस और शून्य नहीं होता, वह दिव्य आनन्द से प्लावित एवं अक्षय प्रेरणा से संचालित होता है । जिस क्षेत्र में इस प्रकार का एक भी व्यक्ति प्रकट हो जाय, वहाँ ही ईश्वरीय ज्योति के सक्षात् दर्शन समझने चाहिए । ईश्वर अपने आप को संतों के रूप में ही प्रकट करता है ।[1]

संत-हृदय की शील-सम्पन्नता एवं पर-दुख-कातरता ऐसे दो प्रमुख गुण हैं जिनके कारण सभी प्राणी उसकी ओर खिंचे चले आते हैं । वह अपने को तो सदैव महत्त्व-हीन समझता है, पर दूसरे को सदा सम्मानित करने में उसे आत्मसंतोष होता है । कामादि विकारों से रहित होने के कारण उसकी चित्त की वृत्तियाँ सतत शान्त रहती हैं और इसी कारण वह जीवन में सदैव उत्फुल्लता एवं उत्साह का अनुभव करता रहता है । मनसा-वाचा-कर्मणा प्रभु पर प्रीति होने के कारण वह समस्त प्राणियों में ब्रह्म की ही सत्ता को प्रतिभासित होता हुआ देखता है । इसी-लिए वह सब का और सब उसके बन जाते हैं । ऐसी स्थिति में किससे प्रेम और किससे द्वेष ? सभी तो उसके अपने हैं । सभी में वही आत्मतत्व विद्यमान है । अस्तु सभी के कल्याण के लिए उसके हृदय में शांत एवं शीतल अमृत की धारा निरन्तर प्रवाहित रहती है । वह दूसरे के अणुमात्र गुण को भी पर्वत के समान विशाल एवं महान रूप में देखता है ।

मनसि वचसि काये पुण्य पीयूष पूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकार श्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
पर गुण परमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं-
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ।।

–भर्तृहरि –नीतिशतक

महात्मा तुलसीदास ने मानस के उत्तरकांड में संतों के इन्हीं उपर्युक्त लक्षणों की विवेचना करते हुए लिखा है—

विषम अलंपट सील गुनाकर । पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ।।
सम अभूतरिपु विमद विरागी । लोभामरष हरष भय त्यागी ।।
कोमल चित दीनन्ह पर दाया । मन वच क्रम मम भगति अमाया ।।
सबहिं मानप्रद आपु अमानी । भरत प्रानसम मम ते प्रानी ।।
विगत काम मम नाम परायन । सांति बिरति बिनती मुदितायन ।।
सीतलता सरलता मयत्री । द्विज पद प्रीति धर्म जनयित्री ।।

१. साहित्य-संदेश का संत-साहित्य विशेषांक–१९५८

ये सब लच्छन बसहिं जासु उर । जानेहु तात संत संतत फुर ।।
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं । परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं ।।
निंदा अस्तुति उभयसम, ममता मम पदकंज ।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय, गुन मंदिर सुख पुंज ।।

संतों के जीवन की इस पुनीत गति को देख कर ही तो पुराणकार कहता है—

"प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति संतः ।"
—स्कं० १, अ० १९, श्लोक ८

२. साहित्य-परिचय

भारतीय दृष्टिकोण

मानव मननशील प्राणी है। वह अपने मनन को सुरक्षित भी रखना चाहता है। इसके लिए भाषा एक उपकरण है। वैदिक ऋषि ने भाषा की कल्पना एक बैल के रूप में की है–

> चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा : द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश ॥
>
> –ऋ० ४।५८।३०

उस भाषा रूपी बैल के चार सींग–नाम (संज्ञा) आख्यात (क्रिया) उपसर्ग और निपात; तीन पैर (तीन लिंग–स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग); दो शिर (कृदन्त और तद्धित); सात हाथ (सात कारक-कर्ता, कर्म करण, सम्प्रदान, अपादान, संबंध और अधिकरण) हैं; तथा वह त्रिधाबद्ध (तीन वचनों-एक वचन, द्वि वचन और बहुवचन से बंधा हुआ) है। ऐसा बैल (भाषा) मर्त्य लोक में गर्जन करता हुआ घुस आया है। ऋषि के इस कथन का तात्पर्य यह है कि बैखरी वाणी ने व्याकरण-सम्मत शब्दों के माध्यम से मानव-भावनाओं को शाश्वत जीवन प्रदान करने का साधन दे दिया। प्राप्त साक्ष्य के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्य जाति को कदाचित् इसी बैखरी वाणी का सर्व प्रथम दर्शन हुआ था। संभव है कि यह वेदवाणी उस प्रारम्भिक वाणी का कुछ अधिक विकसित रूप हो जिसे मंत्र-द्रष्टा ऋषियों से पूर्व प्राकृत जन बोलते रहे हों; पर साहित्य का प्रथमावतार इसी वाणी में आर्य जाति को प्राप्त हुआ जिसे उसने अपने विभिन्न उपायों द्वारा आज तक सुरक्षित रखा है।

इस प्रकार जो साहित्य हमें सर्व प्रथम उपलब्ध हुआ वह वैदिक साहित्य ही है। इस साहित्य में वे समस्त मूल तत्व प्राप्त होते हैं जिनसे आगे चल कर विभिन्न विचार-परम्पराओं का जन्म हुआ। ये विचार-परम्पराएँ शासन के रूप में उपस्थित हुईं। विचारों की विधि-निषेधात्मक अभिव्यंजना के कारण यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या इसे साहित्य की संज्ञा प्रदान की जाय। सामान्यत: यह देखा जाता है कि वेद को तथा तत्संबंधी साहित्य को शास्त्र की पदवी तो प्राप्त हुई पर वह साहित्य न बन सका।

वेद द्वारा कर्त्तव्य-सम्बन्धी तीन मार्ग निश्चित किए गए–(१) ज्ञान-मार्ग,

(२) कर्म-मार्ग, (३) उपासना-मार्ग। विचार सम्बन्धी इन मार्गों ने मानवात्मा को इतना अधिक प्रभावित किया कि आज तक विचारकों के दल इन्हीं तीन मार्गों में विभक्त हैं। ये मार्ग साधना के मार्ग तो बने, पर साहित्य के मार्ग बनने का इन्हें सौभाग्य न प्राप्त हो सका। ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य में सब कुछ शासन ही नहीं है, उसमें तीव्र अनुभूति की कोमल व्यंजना भी विद्यमान है। हाँ, इतना अवश्य है कि यह अनुभूति शुद्ध और पवित्र आत्मा के लिए ही है। यथा—

का ते उपेतिः मनसो वराय भुवदग्ने शंतमा का मनीषा।
को वा यज्ञैः परिदक्षं त आप केन वा ते मनसा दाशेम॥

—ऋग्वेद, १।७६।१

(हे प्रभो, तेरे मन को वरण करने के लिए कौन-सा उपाय है। हमारी कौन-सी स्तुति तेरे लिए सुखकारी है। ऐसा यहाँ कौन है जो यज्ञ-कर्मों द्वारा तेरी शक्ति को व्याप्त कर सके। वह मन ही हमारे पास कौन-सा है जिससे हम हवि प्रदान कर सकें।)

\+ \+ \+

य आपिर्नित्यो वरुणप्रियः सन्, त्वां आगांसि कृणवत्सखाते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम, यन्धिष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्॥

—ऋग्वेद ७।८८।६

(हे प्रभो, जीवात्मा तेरा सदा का बन्धु और साथी है, पर तेरा प्रिय होकर भी तेरे प्रति अपराध किया करता है। हे पूज्यदेव, पाप करते हुए हम भोग न भोगें। आप सर्वज्ञ हैं। अपने स्तुति कर्ता भक्त को शरण प्रदान करें।)

\+ \+ \+

भारतीय वाङ्मय के प्रारम्भिक स्वरूप एवं उसके स्रोत की विवेचना में वाल्मीकि का निम्नांकित श्लोक प्रायः उद्धृत किया जाता है—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समा;
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥

एक दिन व्याध ने क्रौंच मिथुन में से एक का वध कर दिया। वाल्मीकि की वाणी सहानुभूति से विगलित हो उठी और उनकी करुणा साहित्य के प्रथम अवतार का कारण बनी। विद्वज्जनों ने उक्त श्लोक का एक दूसरा भी अर्थ[1] लिया—"हे शोभा से सम्पन्न, तुम सदैव प्रतिष्ठा को प्राप्त हो, क्योंकि तुमने क्रुञ्चवंशजात काम-मुग्ध युग्म (रावण-कुम्भकरण) में से एक का वध किया।

१— मा—शोभा या लक्ष्मी। निषाद—आश्रय। त्वमगमः शाश्वती समाः—तुम अनन्त-वर्षों तक प्रतिष्ठा को प्राप्त करो। क्रौंच मिथुन—कुंचा की संतति के जोड़े।

इन दोनों प्रसंगों के आधार से हमें दो प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं। पहला तो यह कि साहित्य की प्राथमिक विशेषता 'भाव' है जिसकी ओर संकेत करते हुये किसी कवि ने कहा है—"श्लोकत्वमाऽपद्यत यस्य शोकः।" अर्थात् भाव-प्रवण हृदय जिस अनुभूति से विगलित हो उठे उसकी व्यंजना साहित्य है। इसकी दूसरी विशेषता 'शब्द' है। दूसरे अर्थ में श्लिष्ट शब्दों के आश्रय से साहित्य का प्रथमावतार यही श्लोक मानों इस दिशा की ओर संकेत कर रहा है कि साहित्य में प्रयुक्त शब्दावली केवल संकेतार्थवाचिका ही नहीं होनी, वरन् उसे सांकेतिक अर्थ से सम्बद्ध अन्यार्थवाची भी होना चाहिए। साथ ही प्रासंगिक अर्थ सम्बन्धवशात् अन्यार्थ की प्रतीतिकारक ध्वनि भी साहित्य का अंग बनती है।

इस प्रथम श्लोक में एक वस्तु और व्यक्त होती है जिसने साहित्य के दो रूपों को उपस्थित कर दिया है, (१) यह छन्द स्तुतिपरक होने के कारण किसी नायक की स्तुति का वाचक है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि साहित्य किसी बाह्यार्थ साधन में प्रयुक्त होकर किसी ख्यात चरित्र का वर्णन करता है। इस विचार-परम्परा ने महाकाव्यों, नाटकों, आख्यानों और कहानियों की सृष्टि की। (२) स्वानुभूति की तीव्र व्यंजना करता हुआ यही छन्द मुक्तक गीति-परम्परा का प्रथम श्लोक है।

इस प्रकार इस प्रथम श्लोक से हमें पांच विचार-मार्ग प्राप्त होते हैं—

१—रस सम्प्रदाय

२—ध्वनि सम्प्रदाय

३—अलंकार सम्प्रदाय

४—कथानक काव्य या इति वृत्तात्मक काव्य

५—स्वानुभूति परक मुक्तक काव्य

इनके अतिरिक्त साहित्य की अन्य समस्त परिभाषायें भी प्रथम श्लोक में ही अन्वित हो जायँगी। प्रस्तुत विवेचन भारतीय दृष्टिकोण को लक्ष्य में रख कर हुआ है। भारतवर्ष में साहित्य शब्द की व्याख्या करते हुए विद्वानों ने जिस अर्थ पर विचार किया है वह आगे की व्याख्या से स्पष्ट हो जायगा।

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से साहित्य शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि 'धा' धातु के साथ 'क्त' प्रत्यय के संयोग से 'हित' शब्द निष्पन्न होता है। 'स' के योग से सहित का अर्थ हुआ साथ-एकत्र। सहित का अर्थ है, हित के साथ। इस 'सहित' शब्द से भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए 'ष्यञ' प्रत्यय करने पर 'साहित्य' शब्द बनता है। इस प्रकार साहित्य शब्द का अर्थ हुआ सहित होने का भाव। व्याकरण-सम्मत इस अर्थ में दो बातें स्पष्ट हैं। पहली एकत्र की हुई ज्ञान-राशि का होना और दूसरी इस ज्ञान-राशि का मानव-हिताय होना। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी-कृत साहित्य की यह परिभाषा—"ज्ञान-राशि के संचित कोष का

नाम साहित्य है'' साहित्य के शब्दार्थ के अनुकूल है ।

भारतीय वाङ्मय में 'ज्ञान-राशि के संचित कोष' को दो भागों में विभक्त कर दिया गया है । पहला भाग शास्त्र कहलाता है और दूसरा भाग काव्य अथवा साहित्य । शास्त्र शब्द ''शासु अनुशिष्टौ'' धातु से 'ष्ट्रन' प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है शासन । हम पहले कह आये हैं कि वैदिक वाणी (वाङ्मय) शास्त्र है । न केवल वैदिक वाणी अपितु स्मृतियों से लेकर काम-शास्त्र तक सभी शास्त्र ही हैं । इन सब में कर्तव्याकर्तव्य का ही समावेश है । यद्यपि शास्त्र शब्द से गृहीत अनेक ग्रन्थों में ऐसे प्रसंगों का अभाव नहीं है जो हृदयाह्लादकारित्व में काव्य की परिभाषा के निकट आ जाते हैं, फिर भी विधि-निषेधात्मक प्रवृत्ति के कारण ऐसे समस्त ग्रन्थों को शास्त्र की संज्ञा प्राप्त हुई है ।

भारतीय वाङ्मय का वह भाग भी जिसे साहित्य की संज्ञा दी गई है, शासन करता है, परन्तु उसका शासन रहीम के इस दोहे की भाँति है—

रहिमन राज सराहिए, ससि सम सुखद जु होइ ।
कहा बापुरो भानु है, तप्यौ तरैयनि खोइ ।।

सूर्य तपता है और तारागणों की ज्योति को अपने में विलय कर लेता है । परन्तु चन्द्र का तपना (शासन) दूसरे प्रकार का है, वह तारागणों को अपनी सुधा-रश्मियों से आप्यायित करता हुआ ज्योत्स्ना को छिटका देता है ।

भारतीय वाङ्मय का शास्त्र मनोवृत्तियों की दीप्ति का अपहरण करके चमकता है, परन्तु साहित्य मनोवृत्तियों को तृप्त करता हुआ चन्द्रिका बिखेर देता है । प्रकाशरूप शासन दोनों का है जिससे अज्ञान का अन्धकार नष्ट होता है, परन्तु एक के शासन में तीक्ष्णता है, अयोगी मानस उसकी ओर देख नहीं सकता, किन्तु दूसरे का शासन मृदु है; योगी-अयोगी सब उससे आँखें मिला कर तृप्त हो सकते हैं । इसीलिए शास्त्र शास्त्र है, उसके पास राजदंड है । परन्तु साहित्य साहित्य है; इसके पास मानवहित-साधन की मधुर-भावना है ।

इस प्रकार भारतीय साहित्य की प्रमुख तीन विशेषतायें हैं—

१—हित-साधन करना

२—मानव-मनोवृत्तियों को तृप्त करना

३—मानव-मनोवृत्तियों को उन्नत करना

विद्वानों ने साहित्य की अनेकानेक परिभाषायें की हैं । प्रस्तुत प्रसंग में हम इनका विवेचन करते हुए यह देखने की चेष्टा करेंगे कि ये सब परिभाषायें साहित्य की इन्हीं तीन विशेषताओं के अन्तर्गत हैं ।

हित-साधन

१—हितं पिहितं तत्साहित्यम् ।

२–हितं सन्निहितं तत् साहित्यम् ।
३–हितं सम्पादयति इति साहित्यम् ।

तृप्ति–

४–सहितं रसेन युक्तम् तस्य भावः इति साहित्यम् ।
५–हितेन निरतिशय प्रेमास्पदेन इतरेच्छा अनाधीन इच्छा विषयेण सहितं साहित्यम् ।

उन्नयन–

६–सम्यक् निहितं सद्भिः तत् सहितं तस्य भावः साहित्यम् ।
७–अवहितं मनसा महर्षिभिः तत् साहित्यम् ।
८–प्रहितं परमेश्वरेण इति सहितं तस्य भावः साहित्यम् ।

पहिली परिभाषा के द्वारा जिस रचना में हित छिपा हो उसे साहित्य कहा गया है । उसका मूल उद्देश्य हित-प्रकाशन नहीं होना चाहिए, वह उसमें छिपी रहना चाहिए । उस हित को खोज निकालना भावुक हृदय का काम है । भावुक हृदय इस निहित हित को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार निकाल लेते हैं । उदाहरण के लिए वाल्मीकि की रामायण मनुष्य को कर्तव्य की शिक्षा देती है अथवा निर्वेद की शिक्षा, यह बात वाल्मीकि ने कहीं भी नहीं कही, पर सहृदय पाठक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भाव ग्रहण करते हैं ।

दूसरी परिभाषा के अन्तर्गत हित को साहित्य में सन्निहित माना गया है । अस्तु, हित साहित्य-सेवन का अवश्यम्भावी परिणाम होकर साहित्य-सेवन करने वाले के पास स्वतः पहुँच जाता है ।

तीसरी परिभाषा में साहित्य को हित-उत्पादन का कारण माना गया है । यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मन जिस प्रकार की भावनाओं में रमण करता है । मनुष्य का आचार भी उसी प्रकार का बन जाता है । सत् साहित्य की सतत सेवा मनुष्य के आचरण–निर्माण में अवश्य कारण बन सकती है । टाल्स्टाय मार्क्स से इसीलिए अधिक शक्ति-सम्पन्न है कि उसने हित-सम्पादन करने वाले साहित्य का निर्माण किया, कोरे वाद के आधार पर वर्ग–युद्ध की प्रेरणा नहीं दी ।

उक्त तीनों परिभाषाओं में साहित्य की पहिली विशेषता हित-साधन करना दिखाई देती है । चौथी परिभाषा में रस से युक्त शब्दार्थ को साहित्य की संज्ञा दी गई है । मानव-प्रकृति के साथ रस के दो परिणाम होते हैं–(१) स्वादु (२) तोष । साहित्य की विशेषता यही है कि इसका शासन स्वादु मय होता है और वह मनोवृत्तियों को तोष प्रदान करता है । रामनाम की विशेषता की ओर संकेत करते हुए तुलसीदास कहते हैं—

"स्वादु तोष सम सुगति सुधा के ।"

सूर का भी कथन है–

"परम स्वाद सब ही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै ।"

यह परिभाषा साहित्य के उस परिणाम की ओर संकेत करती है जो मानव-वृत्ति को तृप्त करके आह्लाद प्रदायक होता है ।

साहित्य की पाँचवीं परिभाषा में इसकी ही विशेष व्याख्या दी गई है । उसको "निरतिशय प्रेमास्पद कहा गया है ।" अर्थात् उससे अधिक प्रेमास्पद कोई अन्य वस्तु नहीं । प्रेमास्पद शब्द का अर्थ कोई पात्र विशेष न समझना चाहिए । रस काव्य या साहित्य पात्र से सम्बद्ध न होकर भावुक से सम्बद्ध होता है । इसी की व्याख्या आगे के इस सूत्र में है–"इतरेच्छा अनाधीन इच्छा विषयेण ।" अर्थात् यह रस दूसरे की इच्छा का वशवर्ती नहीं होता, वरन् स्वीय इच्छा का विषय होता है । अतएव कोई दूसरा हमें रस-बोध नहीं करा सकता । रस-बोध तो हमें स्वयं होता है । हमारी मनोवृत्ति की जो तृप्ति काव्य विषयक आनन्द से तादात्म्य प्राप्त करके होती है उसी का नाम 'इतरेच्छा अनाधीन इच्छा विषय' कहा गया है ।

उक्त दोनों परिभाषाएँ मनोवृत्ति को तृप्त करने की भावना व्यक्त करती हैं । छठी परिभाषा के अनुसार सज्जन लोग जिसे भली प्रकार धारण करते हैं उसे साहित्य कहते हैं । तात्पर्य यह है कि साहित्य केवल क्षुद्र वासनाओं की वस्तु नहीं है, वह मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियों को उन्नयन (सब्लिमेशन) की ओर प्रवृत्त करने वाली वस्तु है । यद्यपि सत् और असत् परस्पर सापेक्ष शब्द हैं, परन्तु प्रत्येक देश और प्रत्येक काल अपने विशिष्ट मापकों के द्वारा इनकी विशिष्ट परिभाषाएँ बनाता रहता है । उन परिभाषाओं के अनुसार सत्-असत् का स्वरूप निश्चय होता है और साहित्य असत् पर सत् की विजय दिखाने में समर्थ होता है । संसार का कोई भी साहित्य इस विषय का अपवाद नहीं है ।

सातवीं परिभाषा के अनुसार सत् का सम्यक् विकास भारतीय साधक महर्षियों में मानते हैं । महर्षि भी जिस वाङ्मय का निरन्तर मनन करते हैं वह साहित्य है । महर्षि वेदव्यास का श्रीमद्भागवत और महाभारत यदि साहित्य नहीं तो और क्या है ? इस प्रकार के साहित्य की प्रवृत्ति मनुष्य की मनोवृत्ति को सदैव ऊँचा उठाने में सहायक रही है और यह शक्ति आज भी वैसी ही सजीव है ।

आठवीं परिभाषा के अनुसार भारतीय साधक अपने प्रत्येक कार्य में परमात्मा को देखता है । उसकी समस्त गतियों का नियामक भी वही परमात्मा है । अतएव वह मानता है कि साहित्य की हित-साधक शक्ति प्रभु-प्रदत्त है । वही अपनी अनुकम्पा से लोक-विषयिणी मानव-मनोवृत्ति को जब अलोक-विषयिणी बनाने की इच्छा करता है तब साहित्य का सृजन होता है । मानव-मन सांसारिकता से ऊपर उठ कर "ब्रह्मा-स्वाद सहोदर काव्यानन्द की प्राप्ति करके ऊँचा उठता है और जिससे उसकी वृत्तियों

का उन्नयन होना है। इस प्रकार ये अन्तिम दोनों मत भी साहित्य की तीसरी विशेषता 'उन्नयन' के अन्तर्गत आते हैं।

पश्चिमी दृष्टिकोण

भारतवर्ष की साहित्य सम्बन्धिनी यह विचार-धारा विश्वजनीन है। संसार की प्रसिद्ध भाषाओं में साहित्य का प्राथमिक स्वरूप इसी रूप में ग्रहण किया गया है। अंग्रेजी भाषा में साहित्य के लिए 'लिटरेचर' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में 'लिटरेचर' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है–

A general term which, in default of precise definition may stand for the best expression of the best thought reduced to writing. Its various forms are the result of race peculiarities, or of diverse individual temperament, or of political circumstances securing the predominance of one social class which is thus enabled to propogate its ideas and sentiments,

'लिटरेचर' का शाब्दिक अर्थ 'अक्षर' से सम्बद्ध 'आक्षर' है अर्थात् वे विचार जो व्यञ्जनादि की सहायता से व्यक्त किए जायँ। इस अर्थ में लिटरेचर' शब्द का प्रयोग उन समस्त विचारों के लिए हो सकता है जो मनुष्य की अनुभूति में किसी प्रकार आते हैं। पर साहित्य वस्तुत: कोमल एवं श्रेष्ठ वृत्तियों की व्यञ्जना है। मैथ्यूआरनाल्ड की साहित्य सम्बन्धिनी परिभाषा इसी भाव को व्यक्त करती है।[1]

कभी-कभी साहित्य का स्वरूप वैयक्तिक मानस की प्रवृत्ति की विभिन्नता के कारण साहित्य की समकालीन सामान्य धारा से नितान्त विभिन्न रूप में उपस्थित होता है। मिल्टन का व्यक्तित्व और उसका साहित्य दोनों ही इस तथ्य के उत्तम उदाहरण हैं।

अंग्रेजी की साहित्य सम्बन्धिनी समस्त व्याख्याओं के अवलोकन करने पर यह पता चलता है कि पश्चिम के प्राचीन दार्शनिकों ने ये सब व्याख्याएँ पहले ही प्रस्तुत कर दी थीं। प्लेटो जीवन के तथ्यों से सीधा संबंध रखने वाले ज्ञान-संग्रह को साहित्य मानता है। उसका कथन है कि मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। उसकी चिन्तना के स्थायित्व के लिए साहित्य की आवश्यकता है। अतएव दार्शनिक अथवा आलोचनात्मक मार्ग पर चलने वाली उसकी चिन्तना जिस ज्ञान का संग्रह करती है, उसी का वाहक साहित्य बन जाता है। साहित्य के इस रूप में सौन्दर्य विचारक की रचनात्मक शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है। उसकी रचनात्मक तथा विचारात्मक शक्तियों के संयोग से जिस कृति का जन्म होता है वह कला-कृति कहलाती है। हम देखते हैं कि प्लेटो ने सबसे अधिक बल साहित्य के अन्तरंग विचारांश पर दिया

1. Literature is the best that has been thought and said in the world.

है। उसके बहिरंग स्वरूप शैली को वह विचार से सदैव गौण मानता रहा है।

प्लेटो अपने दार्शनिक विचारों में समाज का अधिक महत्व समझता है। उसकी दृष्टि में साहित्य व्यक्ति की अपेक्षा समाज के लिए है। समाज की दृष्टि में वह व्यक्ति की उपेक्षा करता है। इसीलिए उसने साहित्य के विचारात्मक और चारित्रिक अंश पर विशेष बल दिया है। जो वस्तु जितनी अधिक नैतिकता के निकट होगी वह उतनी ही सुन्दर होगी, क्योंकि कला-कृतियों का प्रभाव मानव-जीवन पर पड़ता है और कलाकृति में कलाकार के व्यक्तित्व की नैतिकता प्रतिफलित होती है।

अरस्तू पहला पश्चिमी दार्शनिक था जिसने कलाओं की व्याख्या की है। कलाओं को पाँच भागों में विभक्त करके उसने काव्यकला को सर्व श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया था। वह कला का मूल उद्‌गम अनुकरण में मानता है अर्थात् जीवन व्यापारों की सच्ची अनुकृति का नाम ही कला है। कला के सम्बन्ध में उसका मत यह है कि शब्द के माध्यम से सत्य की अनुकृति काव्य की उत्पादिका है। शब्द-माध्यम से व्यक्त होने वाली अनुकृति में जब शब्द के साथ छन्द और गीतात्मकता का योग हो जाता है तब काव्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अरस्तू की दृष्टि में साहित्य-काव्य के मौलिक तत्व इस प्रकार हैं–

१–वास्तविक जगत से प्रेरणा
२–अनुकृति की भावना
३–अनुकृति में शब्द-छन्द और गीतात्मकता का समायोजन

अनुकृति की इस भावना को वर्ड्सवर्थ ने भी स्वीकार किया। वह अपनी पुस्तक 'पोएट्री एण्ड पोएटिक डिक्शन' में कहता है–

The principal object proposed in these poems was to choose incidents and situations from common life and to relate or describe, throughout, as far as possible in a selection of language really used by men and at the same time to throw over them a certain colouring of imagination....and above all, to make these incidents and situations interesting by tracing them, truely though not ostentatiously the primary laws of our nature.

स्पष्ट है कि वर्ड्सवर्थ जीवन की वास्तविक घटनाओं के सत्य वर्णन को काव्य मानता है, यद्यपि इस वर्णन में कल्पना के कुछ ऐसे रंगों की आवश्यकता स्वीकार करता है जिससे वह वर्णन रुचिकर हो जाय। उसकी दृष्टि में कला के मूल तत्व इस प्रकार हैं–

१–जीवन की घटनाएँ

२–उन घटनाओं के मूल में मानव-प्रकृति की प्राथमिक मौलिक वृत्तियाँ
३–उन वृत्तियों का मनुष्य की अपनी बोली में सत्य वर्णन ।
४– इस वर्णन पर कल्पना की छाया ।
५–वर्णन की रुचिरता ।

पी० बी० शैली के मतानुसार कल्पना की अभिव्यक्ति ही काव्य है। कला के शैशव काल में प्रत्येक व्यक्ति एक नियम का प्रत्यक्षीकरण करता है जिसके द्वारा मनुष्य लगभग उसी स्थिति के निकट पहुँच जाता है जिससे सर्वोच्च आनन्द की उपलब्धि होती है। परन्तु यह व्यक्तिगत भिन्नता इतनी स्पष्ट नहीं होती। यह भेद केवल उन्हीं स्थितियों में दिखलाई पड़ता है जिनमें सौन्दर्य के निकट पहुँचाने की यह शक्ति बहुत अधिक होती है और जिनमें यह शक्ति अत्यधिक होती है वे ही कवि होते हैं।[1]

जेम्स हेनरी ले हण्ट (James Henry Leigh Huat) कविता को पैशन मानता है। उसका कथन है—

कविता एक तीव्र वासना है, क्योंकि यह गम्भीरतम अनुभूतियों का अन्वेषण करती है तथा उसे उन अनुभूतियों को वहन करने योग्य होना चाहिए।[2]

आगे वह पैशन (वासना) की व्याख्या करता हुआ कहता है–यह वासना सत्य की ओर उन्मुख होती है, क्योंकि सत्य के बिना अनुभूतियाँ अशुद्ध तथा दोष. पूर्ण रहती हैं।[3]

यह सौन्दर्यानुगत तीव्र वासना है क्योंकि इसका कार्य आनन्दमूलक उदात्ती-करण तथा विशदीकरण है और इसलिए भी कि आनन्दानुभूति का प्रियतम स्वरूप

1. "Poetry may be defined as the expression of imagination...every man in the infancy of art observes an order which approximates more or less closely to that from which the highest delight results, but the diversity is not sufficiently marked... except in those instances where the predominance of the faculty of approximation to the beautiful is very great. Those in whom it exists in excess are poets."

—A Defence of Poetry".

2. Poetry is a passion, because it seeks the deepest impression, and because it must under go in order go convey them.
3. It is a passion for truth, because without truth the expression would be false or defective.

ही सौन्दर्य है ।[1]

यह शक्ति की ओर जाने वाली तीव्र वासना है, क्योंकि शक्ति ही वह विजय-शील प्रभाव है जिसकी कवि स्वत: इच्छा करता है, अथवा यह कवि के द्वारा पाठक पर पड़ने वाला प्रभाव है ।[2]

जिन वस्तुओं अथवा प्रतिबिम्बों से इसका सम्बन्ध रहता है उनको कल्पना की सहायता से वह 'कविता' धारण करती है और उदाहरणों के द्वारा व्यक्त करती है । इस व्यंजना के लिए यह (कविता) अन्य प्रतिबिम्बों को भी स्वीकार करती है जिससे मूल वस्तुओं अथवा प्रतिबिम्बों पर अधिक प्रभाव पड़ सकता है ।[3]

ऊपर के इन विचारों के आधार पर काव्य या साहित्य के मूल उपादान इस प्रकार माने जा सकते हैं—

१– जागतिक वस्तुयें
२– तत्सम्बन्धी तीव्र राग या वासना ।
३– वासना से उत्पन्न जागतिक वस्तुओं का मानसिक प्रतिबिम्ब ।
४– इस प्रतिबिम्ब का शुद्ध और सत्य होना ।
५– इस प्रतिबिम्ब में आनन्दप्रदायिनी शक्ति की बहुलता तथा तज्जनित शक्ति सम्पन्नता ।

हण्ट महोदय की दृष्टि में काव्य के मौलिक उपादान कवि में अन्तर्निहित नहीं होते । बाह्य उत्तेजकों द्वारा एक रागमयी तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है और उस राग-मयी तीव्र इच्छा के द्वारा कवि-हृदय बिम्ब ग्रहण करता है । यह बिम्ब-ग्रहण जितना ही शुद्ध और सत्य होता है उतना कवि-हृदय उसको व्यक्त करने में अधिक समर्थ होता है । इस व्यंजना में कवि की कल्पना उसकी सहायिका होती है । हेनरी ले हण्ट ने अपनी विवेचना में उन सभी बाह्य उपादानों का संग्रह कर दिया है जिससे सत्का-व्य की उत्पत्ति होती है । परन्तु वह उस प्रतिभा की ओर संकेत नहीं करता है जो कवि-हृदय के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है । इस प्रतिभा के अभाव में तीव्रतम

1. It is a passion for beauty, because its office is to exalt and refine by means of pleasure and because beauty is nothing but the loveliest form of pleasure.

2. It is a passion for power, because power is impression or tri-umphant, whether over the poet, as desired by himself or over the reader, as affected by the poet.

3. It embodies and illustrates its impress on by imagination or images of the objects of which it treats, and other images bro-ught in to throw light on those objects.

उत्तेजकों के द्वारा प्राप्त अनुभूतियाँ भी लौकिक होकर रह जाती हैं और उनसे चरम आनन्द की उपलब्धि नहीं हो पाती । कल्पना शुद्ध प्रातिभ व्यापार नहीं है,वरन् बाल्यावस्था से साथ चलने वाली सहज मनोवृत्ति है । इस मनोवृत्ति को संतुलित अवस्था में लाने वाली भाव-प्रवण प्रतिभा के बिना सत्काव्य अथवा सत्साहित्य का उदय नहीं होता । संभवत: हण्ट कल्पना में ही इस प्रतिभा को अन्तर्भुक्त मानते हैं । प्राय: सभी पश्चिमी दार्शनिकों ने काव्य का फल आनन्द (Pleasure) माना है । सम्भवत: 'प्लेजर' शब्द का प्रयोग भारतीय रस के समान ही है, क्योंकि काव्य-जनित सुख वस्तुत: लौकिक सुख नहीं है । पश्चिम के विद्वानों ने इस आनन्द की भावना को इतना आगे बढ़ाया कि वहाँ एक ऐसा सम्प्रदाय ही खड़ा हो गया, जिसने आनन्द को रस की उच्च भूमि से गिरा कर कला की कलाबाजी में मिला दिया । इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक फ्रान्स के विद्वान थे जिन्होंने 'कला को केवल कला के लिए' मान लिया और लोक से इसका सम्बन्ध छुड़ा कर उसे केवल खिलौना बना दिया । बाडलेयर कहता है –"Postry has no end beyond itself" अर्थात् काव्य का स्वभिन्न कोई भी प्रयोजन नहीं है । आस्कर वाइल्ड (Oscar wilde) इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त करता है—'काव्य सदाचार अथवा दुराचार की प्रतिपादिका कोई वस्तु नहीं है । जो कुछ है वह इतना ही कि कोई पुस्तक अच्छे ढंग से लिखी गई है, अथवा बुरे ढंग से । कलाकार में सहानुभूति कीभावना अक्षम्य है । सम्पूर्ण कला पूर्णतया अनुपयोगी है ।'[1]

इस प्रकार सुन्दरता की वेदी पर इन कलावादियों ने सदाचार का बलिदान किया और सदाचार की निर्णायिका विवेक बुद्धि का बहुत समय तक तिरस्कार किया । परन्तु अन्तत: ये कलावादी भी इस बुद्धि की महत्ता को सम्पूर्णत: अस्वीकार न कर सके । इन्हीं में से कुछ ऐसे व्यक्ति निकल आये जो कला को महत्व देते हुए भी बुद्धि का साहचर्य स्वीकार करने पर बाध्य हुए । प्रसिद्ध कलावादी फ्लावेयर को कहना पड़ा—'हृदय और बुद्धि अभिन्न हैं । जो व्यक्ति इनमें विभाजक रेखा खींचते हैं उनके पास दो में से कोई भी वस्तु नहीं है ।'[2]

पेटर कलावादियों का प्रमुख आचार्य था । 'कला कला के लिए' है इस सिद्धांत के अनुयायी पेटर को अपना गुरू मानते हैं । वह भी शब्द की प्रभावशालिनी शक्ति स्वीकार करता है और मानता है कि शब्द का उपयोग सहानुभूति, सहयोग और

1. There is no such book as moral or immoral book. Books are well written or badly written that is all. An ethical sympathy in an artist is an unpardonable mannerism. All art is quite useless.

2. The heart is inseparable form intelligence. Those who have drawn a line between the two possessed neither.

मानवता की सेवा के लिए होना चाहिए । इस विषय में वस्तु स्थिति तो यह है कि यदि कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन है तो वह कला निश्चय ही एक मादक पदार्थ है । एकान्त सौन्दर्य भावना बौद्धिक जगत के लिए कभी भी उपादेय नहीं सिद्ध हो सकती । हमारे इस कथन का यह अर्थ नहीं कि काव्य अथवा साहित्य-जनित आनन्द उपेक्षणीय वस्तु है । कोई कृति यदि आनन्द का उत्पादन नहीं करती तो निश्चय ही वह कृतिकार की असफलता का द्योतक है । कृति का आनन्द से युक्त होना उसका एक स्वाभाविक गुण है । निश्चय ही यह आनन्द अलौकिक, अकाल्पनिक और जागतिक चेतना से नितान्त ऊपर होता है । साहित्यकार शाश्वत, असीम और एकत्व का सहभागी होता है । उसकी भावना में समय, स्थान और नानात्व का अवकाश नहीं होता । उसकी अनुभूतियों में स्व-पर भेद शेष नहीं रहता । सात्विक अनुभूतियों की पवित्र भूमिका में साहित्य का सृजन होता है ।

साहित्य सृजन—एक साधना

साहित्य का सृजन एक विशिष्ट उत्सव-विधान है । हमारी युग-युग की साधना जब सृजन का उत्सव मनाती है तभी कला या साहित्य का जन्म होता है । चेतना के रथ पर गमन करने वाला मानव-हृदय अपनी यात्रा में अनंतकाल से गतिमान है उसकी इस यात्रा का अंतिम लक्ष्य क्या है, यह तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक मानवता की विकास-क्रिया का अंतिम पग निश्चित न किया जाय । साहित्यकार अपनी यात्रा की अनुभूतियों का दर्शन साकार रूप में उस समय करता है जब उसके जीवन का सत्य भाषा और लिपि के रूप में व्यक्त होता है । उसकी बोध-वृत्ति उसे उसके यात्रा-पथ का अनुभव-दान देती है और यह अनुभव ही उसके अन्त:करण को परितोष प्रदान करने के लिए अभिव्यक्ति के रूप का वरण करता है । मानव-हृदय में आत्म और अनात्म भावों की व्याप्ति है । ये दोनों ही भाव उसके जीवन में एक संघर्ष विशेष की सृष्टि करते हैं । संघर्ष का परिणाम होता है अशान्ति-आकुलता । यह संघर्ष किसी क्षण विशेष अथवा काल विशेष का नहीं है । अपितु, चेतना के प्रारंभिक क्षणों में संघर्ष की सृष्टि हो जाती है । इस संघर्ष-जनित आकुलता के शमनार्थ मानव आत्म-साक्षात्कार करना चाहता है । आत्म साक्षात्कार की पुण्य बेला में वह जगत की विभिन्न परिस्थितियों को देखता है, अपने अतीत और वर्तमान की विवेचना करता है, विधि-निषेध-नियम द्वारा शासित क्रिया-कलापों की छानबीन करता है । इस प्रकार वह एक ओर अपने को देखता है और दूसरी ओर गतिमान संसार को । संसार की परिवर्तनशीलता एवं अनेकानेक समस्यायें उसके मानस-पटल पर एक प्रश्नसूचक चिह्न अंकित करती हैं और वह उनके उत्तर की खोज में लीन हो जाता है । उसकी यह तन्मयता, चिन्तन-पथ की गतिशीलता ही स्वत: उत्तर बन कर उसके समक्ष उपस्थित होती है । इस समय उसका हृदय एक विचित्र कुतूहल से भर

जाता है और वह भाव-विभोर होकर अँगु[illegible]ी से बोल उठता है । उसके ये बोल ही कला का रूप धारण करते हैं ।

कलाकार की यह क्रिया साधना-सापेक्ष्य होती है । इसीलिए वह कलाकृति द्वारा मानो अपनी साधना का उत्सव मनाता है । उसकी यह साधना युग की पग-डंडियों पर चलती हुई आती है । इसीलिए कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि उसकी साधना का यह प्रतिफल नितांत मौलिक है । इतना अवश्य है कि कलाकार की कला उसके अतीत का वरदान है जिसे वह वर्तमान के पात्र में रख कर उसे भविष्य के लिए सुरक्षित करने की कामना को सँजोता रहता है ।

साहित्य की गतिशीलता

प्राय: लोग कला या साहित्य को परिभाषा की सीमा में बांधना चाहते हैं । हमने भी पूर्व के पृष्ठों में अनेकानेक विद्वानों की कला-साहित्य संबन्धिनी परिभाषाओं का उल्लेख किया है, किन्तु सच तो यह है कि साहित्य की कोई निश्चित और शाश्वत परिभाषा नहीं की जा सकती । अभी हम कह आए हैं कि युग-पथ पर चलने वाली साधना ही साहित्य का रूप धारण करती है । अत: जब तक युग को मानव-चेतना का सहयोग प्राप्त होता रहेगा तब तक इस गतिशील संसार में साहित्य-कला के भी अनेकानेक रूप उपस्थित होते रहेंगे । अनुभव द्वारा इतना अवश्य कहा जा सकता है कि साहित्य में जीवन का प्रतिबिम्ब होता है, उसमें साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति होती है और वह उस राग के तार को झंकृत करना चाहता है जो प्रत्येक मानव-हृदय में विद्यमान है । मानव-मानव का रागात्मक संबंध ही समाज की सृष्टि करता है । इसीलिए परस्पर उन भावों का व्यापार चलता है जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में होती है ।

साहित्य की स्वतन्त्र-सत्ता

युग की चट्टान पर खड़ा होकर साहित्यकार जब अपने चारों ओर देखता है तब एक ओर उसका करुण एवं सुखद अतीत इतिहास के रूप में उसे संदेश देता है, दूसरी ओर उसकी धार्मिकता, नैतिकता एवं उसकी वैयक्तिकता अर्थात् आदर्श और यथार्थ के चित्र उसके मन में आकर्षण एवं विकर्षण के नाना रूपों की सृष्टि करते हैं । उसका यह समस्त वातावरण उसे नवीन स्फूर्ति एवं प्रेरणा प्रदान करता है जिसके परिणामस्वरूप वह स्वतंत्र चेता बन कर अपने स्वतंत्रपथ का निर्माण करता है । इस प्रकार साहित्यकार अपने अतीत और वर्तमान, दोनों का ही उपासक है । वह युग के साथ है और युग से अलग भी । स्वतंत्र उद्भावक साहित्यकार प्राचीनता के प्रति न तो विमूढ़ आग्रह ही रखता है और न नवीनता के प्रति अविवेकपूर्ण उत्साह ही । उसका कृतित्व निश्चय ही शोध-पूर्ण होता है । अपनी सृजनात्मक शक्ति पर पूर्ण आस्था होने के कारण वह भविष्य का दृष्टा बन बैठता है । इस प्रकार वह स्वदेश के

भाग्य को सुहाग की लाली से अनुरंजित करता रहता है । भारती के अमर रत्न कबीर, सूर, तुलसी आदि ऐसे ही साहित्यकार थे जिन्होंने अतीत से संपृक्त रह कर ही वर्तमान में भविष्य का शृंगार किया था । उनकी शृंगार-भावना-कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि देश और काल की सीमाओं को वेध कर भी उसकी सुषमा-किरणें यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखर रही हैं । शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं, पर उनके चित्र आज तक धूमिल नहीं हुए । इसका कारण क्या है ? स्पष्ट है कि ये साहित्यकार वर्ग-गत भावनाओं के चक्कर में कभी भी नहीं पड़े । इनकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति जन-जन के मानस की अभिव्यक्ति थी । इसीलिए आज वे जन-जन के हृदय में विद्यमान हैं । इसी रूप में कला अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए सोद्देश्य भी होती है ।

कला या साहित्य की वास्तविक शक्ति है सूझ या कल्पना । जिस कवि का दृश्य जगत जितना ही कल्पना-प्रवण होगा, जिसकी चिन्तन-रश्मियाँ गुह्यातिगुह्य प्रदेश में जितनी ही दूर तक पहुँच कर तत्व का दर्शन कर सकेंगी, वह अपनी अभि-व्यक्ति की सजीवता के आधार से उतना ही महान होगा । इसी रूप में साहित्य और जीवन का सम्बन्ध भी है । अन्यथा न तो साहित्यकार का अभिनय करने वाले साहि-त्यकारों का अभाव है और न अभिनयात्मक भावों का ही ।

संत-साहित्य की सामान्य विशेषताएँ

संतों का जीवन एक विशिष्ट प्रकार का जीवन था । वे उस अलौकिक ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए लोक-जीवन से दूर, बहुत दूर हट कर किसी पर्वत की कन्दरा या किसी पावन पयस्विनी के तट पर बैठ कर साधना करने में अधिक विश्वास नहीं करते थे । वे साधारण गृहस्थों के बीच रह कर ही अपनी दैनिकचर्या का सहज रूप में पालन करते हुए भगवद्भजन में लीन रहा करते थे । कबीर जुलाहे थे, जीवन भर जुलाहे का काम करते रहे; सधना कसाई थे, उनकी जीविका का साधन भी मांस बेचना ही था । इसी प्रकार ये समस्त संत अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का पूर्ण रूपेण पालन करते हुए ब्रह्मोपासना भी करते थे । जीवन के प्रति न तो उनमें कभी पलायनवादी प्रवृत्ति का उदय हुआ और न उसके प्रति इतना व्यामोह ही हुआ कि वे उसी सांसारिक जीवन को ही अपना एकमात्र लक्ष्य मान कर उसी तक सीमित रहें । उनको जीवन में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता इन दोनों का समन्वय था । साहित्य जीवन की अनुकृति होने के कारण वह भी इन संतों की इसी समन्वयवादी भावना से पूर्ण है । यद्यपि प्रत्यक्षतः संत कवि निर्गुण के उपासक प्रतीत होते हैं और सगुण उपासकों द्वारा होने वाली मूर्तिपूजा का वे सर्वत्र खंडन करते हैं, पर यह सब होते हुए भी वे ब्रह्म के सगुण रूप को नितान्त विस्मृत नहीं कर सके हैं ।

"जाके नाभि पदम सुउदति ब्रह्मा, चरन गंग तरंग रे"[1] "बहुत दिनन के बिछुरे माधो, मन नहि बांधे धीर, देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० २१८, पद ३९०

कबीर।"[1] आदि कितनी ही ऐसी पंक्तियाँ हैं, जो इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं।

धार्मिक दृष्टि से संतों का साहित्य अत्यन्त उदार एवं समन्वयवादी है। उनमें धार्मिक सहिष्णुता की मात्रा भी यथेष्ट रूप में विद्यमान है। विशुद्ध ज्ञान मार्ग का उपदेश देते हुए भी कबीर 'नारदी[2] भक्ति' का उपदेश देते हैं। शाक्तों की रीति-नीति से विरोध मानते[3] हुए भी वे उनके प्रशंसक बन जाते हैं—

संसारी साषत भला, कंवारी कै भाइ।
दुराचारी बैश्नों, बुरा, हरिजन तहां न जाइ॥

—क० ग्रं०, पृ० ६६

स्पष्ट है कि कबीर को किसी सम्प्रदाय विशेष से किसी प्रकार का द्वेष नहीं है। वे प्रत्येक सम्प्रदाय को उत्तम साधनाओं की ओर अग्रसर होते हुए देखने के अभिलाषी हैं। जहाँ कहीं भी साधना में शैथिल्य, आडम्बर, पाखंड अथवा मिथ्याचार दिखलाई पड़ता है वहीं उनकी साधु आत्मा विचलित हो उठती है। उस सत् के उपासक को अनृत एवं कदाचार असह्य हो उठता है। फलतः अनीति और अनाचार को देखकर उसका शान्त ज्वालामुखी विस्फोट कर उठता है। विरोध की इस तीव्रता में बिना किसी अन्य विचार के वह असत की भर्त्सना करने लगता है। पर उसका यह विरोध विशुद्ध एवं सात्विक हैं। कबीर-परम्परा के जितने भी साधक हैं उन सब की प्रायः यही स्थिति है। अस्तु हम संत साहित्य में एक ओर तो शास्त्रीय मर्यादाओं के प्रति अवहेलना के स्वरूप को देखते हैं, पर दूसरी ओर उन समस्त क्रियाओं का प्रतिपादन भी पाते हैं जिनके द्वारा मानव अपनी आचार-व्यवस्था का सम्यक् रूप से प्रतिपादन करता हुआ अवम से परम की ओर प्रस्थान कर रहा है।

प्रत्येक संत ने अपनी साखी-शब्दों—पदों आदि के माध्यम से आत्मचिन्तन-प्रसूत भावों, विचारों एवं तथ्यों का प्रतिपादन किया है। संत अपनी आत्मा के स्वर को सुनने के अभ्यस्त होते हैं और वे उसी स्वर को दूसरे को सुनाना भी चाहते हैं? क्योंकि उनका विश्वास है कि स्वानुभूति की भूमिका में प्रतिष्ठिति होकर उन्होंने जो तत्वचिंतन किया है वही मानव मात्र के लिए श्रेयस्कर है। इसीलिए संत-साहित्य में मानवता के स्वरूप की पूर्ण व्याख्या पाई जाती है। उसी के हित-साधन में संतों के स्वरों का महत्व है।

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १६१ पद ३०५

२. **'भगति नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भव तरि कहै कबीरा।'**

—क० ग्रं०, पद २७

३. **साषित सण का जेवड़ा, भीगां सूं कठठाइ।**
दोइ आषिर गुरु बाहिरा, बांध्या जमपुर जाइ॥

—क० ग्रं०, पृ० ३

संत-साहित्य में साधना-परक खण्डन-मंडन का स्वरूप भी पाया जाता है। मूर्तिपूजा को लेकर प्रायः सभी संतों ने उसका विरोध एवं उपहास किया है। अवतारवाद के प्रति भी सन्तों की आस्था नहीं थी। वे कर्मकांड का सदैव विरोध करते रहे। उन्हें जाति-पांति के वे बन्धन जिनमें जकड़ी जाकर मानवता सिसकियाँ भर रही थी, बड़े ही अप्रिय प्रतीत हुए। अस्तु उन सब की निन्दा संत-साहित्य का विषय बनी। यही कारण है कि संत-साहित्य का प्रभाव उन जातियों के बीच अधिक रहा है जो दबी, दलित एवं पिछड़ी हुई रही हैं और जिन्हें अन्त्यज की संज्ञा प्रदान की गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संत-साहित्य अपने युग का प्रतिनिधित्व करता हुआ उसे विकास का, प्रगति का एक संदेश देता हुआ चलता है। संतों की स्वतन्त्र उद्‌भावना शक्ति एवं निर्भीक अभिव्यक्तियाँ उनके साहित्य को अत्यधिक प्रभावशाली बनाने में सक्षम हैं।

भारतीय मनीषा धर्म का चिन्तन-मनन करने में ही आत्मपरितोष अनुभव करती रही है। अस्ति और नास्ति का विवेचन, ईश्वर, जीव और जगत का चिन्तन ही यहाँ की चिन्तनधारा का प्रिय विषय रहा है। आदिकाल से विभिन्न दार्शनिकों, चिन्तकों ने आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का विवेचन ही अपने जीवन का एकमात्र मूल मंत्र-सा मान लिया था। यही कारण है कि जितने मत-मतान्तर भारत की इस उर्वरा भूमि में पनपे उतने प्रायः अन्यत्र नहीं। संत-साहित्य उन्हीं विचार-अंकुरों में से एक है। संतों की अपनी एक स्वतंत्र चिन्तन शैली होती है। उनकी उद्‌भावना शक्ति में भी एक विलक्षणता एवं नवीनता का दर्शन होता है। अपनी युगीन परिस्थितियों के अनुरूप संतों ने जो कुछ भी देखा-सुना तथा समझा, उसे अपने ढंग से व्यक्त किया है। उनके शब्द सुनने में बड़े अटपटे प्रतीत होते हैं, पर हैं वे डाक्टर अथवा वैद्य की कड़ुवी औषधि के समान ही। उनके अधिकांश कथन स्वानुभूतिपरक होने के कारण प्रत्यक्षतः यत्किंचित गर्वोक्तियों से पूर्ण प्रतीत होते हैं। पर वस्तुतः गर्वोक्ति के प्रति संत-साहित्य में आस्था नहीं व्यक्त होती है। खंडन-मंडन की स्थिति में जहाँ कहीं विरोधी मत अथवा सिद्धान्त का प्रतिवाद किया गया है वहाँ स्वमत अथवा स्व-सिद्धान्त के महत्व का अंकन करते हुए आत्म-विश्वास के आधार पर कुछ ऐसे तथ्यों को कह दिया गया है जो प्रत्यक्षतः संत स्वभाव के विपरीत दर्प-पूर्ण प्रतीत होते हैं। यथा—

सुर नर थाके मुनि जनां, जहां न कोई जाय।
मोटे भाग कबीर के, तहां रहे घर छाइ॥

क० ग्रं०, पृ० ३१

अथवा

झीनी-झीनी बिनी चदरिया
साधू ओढ़ी सन्तन ओढ़ी ओढ़ि कै मैली कीन्ही चदरिया ।
दास कबीरा जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया ।।

—कबीर ग्रन्थावली,

पर ऐसे प्रसंगों में प्रभु-भक्ति के प्रति उस अटल विश्वास के दर्शन करने का प्रयत्न करना चाहिए जिसके कारण वे उस स्थिति के प्राप्त कर लेने की घोषणा करते हैं। यहाँ साधक स्वत: अपने लिए नहीं कहता है। उसकी यह धारणा केवल अपने लिए नहीं है, अपितु सामान्यत: उस प्रभु-भक्त के लिए है जो भक्ति के वास्तविक स्वरूप को समझ कर अपने को ब्रह्म में लीन कर चुका है। ऐसे भक्त के लिए संभव और असम्भव क्या। जहाँ "राम ते अधिक राम कर दासा" है, वहाँ सचमुच ऐसी ही स्थिति होगी, जिसके प्रति मानव-मन लाख-लाख स्पृहाओं एवं स्पर्धाओं को बिखेर कर आश्चार्यचकित अवस्था में उस महत्व का दर्शन करता है।

संत-साहित्य में अनेकानेक स्थलों में रहस्यानुभूति की उपलब्धि होती है। संत प्रकृत्या तत्व-चिन्तक थे। उनका चिन्तन का क्षेत्र बड़ा व्यापक एवं गम्भीर था। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का परिचय प्राप्त किया था। यह परिचय केवल बौद्धिक विकास के रूप में न होकर साधना की पूर्ण परिपक्वावस्था के रूप में था। अत: अपनी अनुभूति की गहनता में उन्होंने जिन तथ्यों का प्रकटीकरण किया है, वे सामान्य धरातल से कहीं अधिक ऊँचे हैं जिन्हें साधारण मानव समझने में असमर्थ है। जो साधक अपनी आत्मा का जितना ही अधिक विकास कर लेगा वह उन रहस्यानुभूतियों से उतना ही अधिक परिचय भी प्राप्त कर लेगा और संत-साहित्य में प्रयुक्त उलटबासियाँ फिर उसके लिए मानसिक व्यायाम की वस्तु न होकर, हृदय के प्रसादन की वस्तु बनेगी।

कलात्मक कौशल की दृष्टि से संत-साहित्य का परिशीलन करने वालों को प्राय: निराश ही होना पड़ेगा। रचना की काव्यमयता की ओर इन संतों का ध्यान नहीं था। वे अपनी अनुभूतियों का दान मानव-समाज को देना चाहते थे और वह भी केवल इसीलिए कि बिना ऐसा किये उनकी कल्याणकारिणी प्रवृत्ति को परितोष नहीं होता था। 'घुणाक्षर न्याय' से जहाँ कहीं काव्यात्मकता आ गई वहाँ आ गई, पर साधारणत: उनके नीतिपरक वचनों में, विमूढ़ आत्माओं को सत्य का दर्शन कराने में एवं विभिन्न मत-मतान्तरों के आवरणों से आवृत्त सत्य को निरावृत्त करने में कला की कोमलता की ओर ध्यान कहाँ ? इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके साहित्य में काव्यमयता है ही नहीं। संत-साहित्य में ऐसे कितने ही मार्मिक स्थल हैं जहाँ संत हृदय की स्निग्धता, कोमलता एवं भावुकता ऐसे रूप व्यापारों की सृष्टि कर सकी है जो अपने प्रकृत रूप में ही बड़े प्रभावोत्पादक हैं। संतों की बानियों एवं शब्दों में कहीं

कहीं लक्षणा और व्यंजना का भी प्रयोग हुआ है। उनकी वाणी ध्वनि के प्रभाव को व्यक्त करती हुई काव्य की आत्मा के स्वरूप का उद्घाटन करने में सक्षम है। पर यह सब है अपने सहज रूप में ही। इस ओर उनका ध्यान भी नहीं है। इसका एक कारण भी है और वह यह कि ये संत शास्त्रीय परम्परा के संत न थे। किसी पाठ-शाला में बैठ कर न तो उन्होंने व्याकरण के सूत्रों को ही रटा था, और न साहित्य की विभिन्न विधाओं से परिचय ही प्राप्त किया था। इतस्ततः भ्रमण करते हुए साधुओं की संगति में बैठ-बैठ कर श्रुत ज्ञान के रूप में इन्हें जो मिल गया उसे तो ले लिया और अधिकांशतः अपनी चिन्तना पर ही अवलम्बित रहे। अस्तु जैसे-तैसे अपने विचारों को सामान्य जन-जीवन तक पहुँचा देना इनका उद्देश्य रहा। इसी-लिए इनकी दृष्टि भाषा-सौष्ठव की अपेक्षा भाव-सौष्ठव की ओर अधिक रही। इन्हें सभी सम्प्रदायों एवं प्रायः सभी प्रान्तों के लोगों के बीच में बैठने का अवसर मिलता था। अस्तु सभी स्थानों की प्रचलित भाषाओं का उन पर प्रभाव पड़ना भी स्वा-भाविक था। यही कारण है कि इनकी रचनाओं में राजस्थानी, पंजाबी, अवधी, ब्रज, भोजपुरी, खड़ी बोली, गुजराती, मराठी, अरबी, फारसी आदि भाषाओं के रूप पाए जाते हैं। कहीं-कहीं संस्कृत के शुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। इसीलिए विद्वानों ने संतों की भाषा को खिचड़ी भाषा कहा है। इनकी भाषा को सधुक्कड़ी भाषा भी कहा जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि संतों की भाषा में अपने भाव को व्यंजित करने की पूर्ण क्षमता है। विभिन्न प्रान्तीय शब्दों एवं अपभ्रंश रूपों के व्यवहार के कारण संत-साहित्य की भाषा में यत्र-तत्र दुरूहता भी प्राप्त होती है। पर सामान्यतः संत-साहित्य की भाषा में एक विचित्र आर्जव, एक अद्भुत प्रभावात्मकता एवं स्पृहणीय आकर्षण प्रतीत होता है। उसकी अपनी निराली धज है। आगे के अध्यायों में हम संत-साहित्य की भाषा का ही अध्ययन करने का प्रयास करेंगे।

३. भाषा तथा हिन्दी भाषा का विकास

अ—भाषा

प्रकृति का गुण है, स्फुरण। इस स्फुरण या अंकुरण में प्रकृति के कई अंग सहायक बनते हैं। मानव-हृदय में भी स्फुरण की यह शक्ति एवं क्रिया विद्यमान है। उसकी सहज चेतना अपने दृश्यमान जगत से एकाकार हो कर जिस रूप एवं भाव का संस्पर्श प्राप्त करती है, वही उसके हृदय में बीज रूप बन कर विभिन्न कलाओं अथवा भाषागत रूपों में अंकुरित होती है। स्पष्ट है कि मानव अपनी भाव-निधि दूसरों के समक्ष रखना चाहता है तथा दूसरों की भाव-निधि को स्वयं देखना भी चाहता है। आदान-प्रदान अथवा विनिमय की यह वृत्ति मानव की सहज वृत्ति है।

भावों और विचारों के विनिमय का सहज-सुलभ-साधन है भाषा। जागतिक क्रिया-कलापों में भी हम विनिमय के व्यापार को देखते हैं। विनिमय ही सामाजिक श्रृंखला को सुस्थिर एवं सुदृढ़ करना है। यह दृढ़ता और स्थिरता कदापि संभव न हो सकती यदि भाषा न होती। सामाजिकता की संस्थापना के लिये भाषा अत्यन्त आवश्यक है। लोक-जीवन की कामनाओं, आशाओं, इच्छाओं और स्वप्नों को संवहन करने वाली भाषा ही तो है। भाषा न केवल धात्री के रूप में किसी भाव विशेष का पालन करती है, अपितु वह नये-नये भावों एवं विचारों की जन्मदात्री भी बनती है। हम परस्पर भावों के आदान-प्रदान द्वारा न केवल एक—दूसरे की आवश्यकताओं को समझते हैं, अपितु उनके संघर्ष से उत्पन्न एक तीसरी वस्तु को प्राप्त भी करते हैं। इस प्रकार भाषागत विचार-विनिमय नूतनातिनूतन विचारों की सृष्टि करता रहता है।

जिस समय हम वार्तालाप-रत होते हैं अथवा किसी विचार पर मनन करते हैं उस समय हमारे मानसिक जगत में भी भाषण की क्रिया कार्य करती रहती है। भाषा-वैज्ञानिकों ने इसे भाषा का मनोवैज्ञानिक अथवा मन:क्षेत्रीय रूप कहा है। उच्चरित वाणी का रूप भौतिक है। मन में निहित वाणी दिखाई नहीं देती, परन्तु वह अनुभव में अवश्य आती है। वहाँ भी शब्द और उनके अर्थ दोनों विद्यमान रहते हैं। एक रूप के लिए जो शब्द मन में संचरित होता है वह दूसरे रूप वाले शब्द से पृथक् रहता है। पार्थक्य के साथ वहाँ तारतम्य भी बना रहता है। भाषा वहाँ स्वरित नहीं, परन्तु स्पंदित और क्रियाशील अवश्य रहती है। ब्राह्य भाषा उसी मानसिक क्षेत्र की स्पंदित वाणी का मूखरित रूप है।

मानव अपनी चेतना के रथ पर अनादिकाल से गतिमान है। उसकी यात्रा की परिसमाप्ति कहाँ और कैसे होगी, यह कोई नहीं कह सकता। चेतन मानव की सहजात भाषा भी उसी के समान निरन्तर गतिशीला है। जिस प्रकार जलवायु तथा अन्य भौगोलिक प्रभाव एवं सभ्यता के नाना रूप मानव की निर्माण-क्रिया में अपना महत्वपूर्ण योग देते रहते हैं, उसी प्रकार भाषा की निर्मिति पर भी इन सबका प्रभाव कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष रूप में पड़ता रहता है। भाषा का एक विशेष धर्म है उसका व्यक्ति-सापेक्ष होना। यह व्यक्ति सापेक्षता कभी भौगोलिक और कभी सांस्कृतिक कारणों से समाज सापेक्ष भी बन जाती है। अंग्रेज भौगोलिक कारणों से 'त' नहीं कह पाते। इसलिए उनके शब्दों में 'ट' का प्रयोग होता है। जिस देश का सांस्कृतिक विकास जितना समुन्नत होगा उस देश की भाषा और साहित्य भी उतने ही समुन्नत होंगे। व्यक्ति सापेक्षता में शरीरावयवों का संगठन शब्दों के उच्चारण में अन्तर उत्पन्न करता रहता है। 'सिन्ध' को 'हिन्द' और 'पैसा' को 'पैफा' 'सत्यनारायण' को 'फत्यनारायण' कहने वाले प्राणी प्रायः देखे जाते हैं।

भाषा के व्यावहारिक रूप पर शिक्षा का भी प्रभाव पड़ता है। जिस शब्द का उच्चारण एक विद्वान करता है, उसी शब्द का उच्चारण उसी रूप में एक ग्रामीण नहीं कर पाता। केवल शब्दों के उच्चारण की ही बात नहीं है, उनके नामकरण की भी बात है। एक ही वस्तु, एक ही रीति-रिवाज के भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न नाम पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश का निवासी चारपाई या खटिया शब्द का प्रयोग करता है, लेकिन पंजाब का रहने वाला मंझा शब्द का प्रयोग करता है, जब कि पतंग उड़ाने वाले पतंग की एक डोर विशेष को भी मंझा कहते हैं। यज्ञोपवीत एवं विवाह के समय कहीं-कहीं यह प्रथा है कि भाई अपनी विवाहिता बहिन को वस्त्र आदि प्रदान करता है। इस पद्धति को कहीं पर 'भात' भेजना और कहीं पर "चौकट" या 'पहिरावन' पहिनाना कहा जाता है।

साधारणतः भाषा के दो रूप होते हैं, एक उच्चरित रूप और दूसरा लिखित रूप। भाषा का उच्चरित रूप हमारे दैनिक जीवन से विशेषतः सम्बन्धित है। निरंतर बोलचाल में, बाजारों में, घर के काम-काज में, लेन-देन में जिन शब्दों एवं वाक्यों का हम प्रयोग करते हैं वह सब भाषा का उच्चरित रूप है, पर दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही हमारे जीवन का आदि और अन्त नहीं है। हम वर्तमान में रह कर अपने अतीत को देखना चाहते हैं और जानना चाहते हैं कि हमारी यात्रा कहाँ से प्रारम्भ हुई थी, हमने अतल-तल की कितनी गहराइयों को नापा, कितनी उत्तुंग शैल-मालाओं का अतिक्रमण किया, किन बीहड़ बनों को पार किया, किन उपत्यकाओं में विश्राम किया; ये विस्तृत राजमार्ग और ये सुरम्य प्रदेश कब और कैसे बने, किसने हमारी निधि को छीना और किसने अपनी निधि का दान देकर हमें निहाल कर

दिया । हम अपने जीवन के अश्रु-कणों की कहानी और हास की परम स्निग्ध-ज्योत्सना को अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहते । हमारी इच्छा होती है कि कोई हमारे आँसुओं को पोंछे, हमारी आहों को दुलराये और हमारी हँसी में अपने हृदय के उल्लास को घोल दे । यही नहीं, हम अपने समस्त अनुभवों का दान, अपने समस्त ज्ञान की मंजूषा एवं अपनी समस्त कामनाओं की कलना अपनी सन्तति को दे जाना चाहते हैं । हमारी साध होती है कि हमारी सांसें भविष्य का अभिनव शृंगार करें। इस सब की पूर्ति भाषा के माध्यम से ही सम्भव है । निश्चय ही यह माध्यम भाषा का लिखित रूप होगा । हमारी समस्त सांस्कृतिक चेतना, हमारी सभ्यता का समस्त रूप दूसरे शब्दों में हमारी यात्रा की जय-विजय की कहानी भाषा के लिखित रूप में ही सुरक्षित रह सकती है । इस प्रकार विभिन्न जागतिक रूपों का बोध भाषा के व्यापार से ही सम्भव है ।

भाषा की उत्पत्ति

भाषा एक अर्थ पूर्ण नाद है, समाज में समझी जाने वाली सार्थक ध्वनियों का समूह है । हम आँख, हाथ आदि के संकेतों द्वारा भी भावों को ग्रहण कर सकते हैं, पर सार्थक नाद के द्वारा जो भाव-संकेत ग्रहण किये जाते हैं वे विशेष स्पष्ट और पुष्ट होते हैं, धार्मिक प्रवृत्ति के प्राणी नाद के रूप में किसी विशिष्ट ईश्वरीय प्रेरणा को अनुभव करते हैं, किन्तु बुद्धिवादी इस क्रिया में प्राणी की उस सहज शक्ति को ध्वनित होता हुआ देखते हैं जिसका कुछ भाग मनुष्येतर प्राणियों को भी उपलब्ध हुआ है । मनोविज्ञान विशारद भाषा की उत्पत्ति में प्राणी की उस मानसिक चेष्टा को देखते हैं जो अपनी अनुभूतियों एवं आवश्यकताओं के प्रकटीकरण के लिए उन्हें विकल कर देती है । भाषा-वैज्ञानिक इसमें शारीरिक चेष्टाओं का सहारा भी समझते हैं । नाद के स्वरूप का मूल्यांकन करते समय मत-मतान्तरों की विभिन्नता अत्यन्त प्रबल और बहुमुखी हो उठती है । प्रस्तुत प्रसंग में हमें उन मत-मतान्तरों के संबंध में विशेष ऊहापोह नहीं करनी है । यहाँ पर तो उनका केवल परिचयात्मक विवरण ही पर्याप्त होगा ।

मनुष्य सृष्टि की एक अनुपम कृति है । विश्व के सभी आकार-प्रकारों में मनुष्य आकृति की दृष्टि से भी एक विशिष्टता रखता है । परन्तु उसकी वास्तविक विशिष्टता उसके ज्ञान में, उसकी रागमयी प्रवृत्तियों में एवं उसके विवेक में है । साधारणतया राग और ज्ञान सभी प्राणियों में होता है । छोटे से छोटा जीव भी अपने बुद्धि-बल से विभिन्न कार्यों में संलग्न रहता है । शक्कर के कणों की ओर दौड़ती हुई चीटियाँ क्या ज्ञान-शून्य कही जा सकती हैं ? वे अपने बिलों में अन्न-कणों का संग्रह करती हैं जो उनकी सज्ञानता का परिचायक है । इसी प्रकार बया पक्षी के घोंसले में उसकी बुद्धि और उसके ज्ञान का समावेश है । घर के आँगन में फुदकती हुई चिड़ियों

के जोड़े जब कमरों के झरोखों, रोशनदानों में एक-एक तिनका लाकर बड़ी सावधानी से उन्हें सँजो कर घोंसले का निर्माण करते हैं और उस घोंसले में पलने वाले पक्षि-शिशु के मुख में जब अन्न के कणों को वे ला-लाकर डालते हैं, तब उनकी बौद्धिक कुशलता एवं राग की उस परमपूत मंजुल भावना का परिचय प्राप्त होता है जिसके कारण सृष्टि सृष्टि बनी है। ममता की मूर्ति ही तो इस विस्तृत प्रसार का एकमात्र सम्बल है। गोधूलि वेला में गोचारण से आने वाली गायें जब रँभाती हुयी अपने बछड़ों के पास आ-आकर उन्हें चाटने लगती हैं तब प्रश्न होता है कि नीड़ बनाने का ज्ञान, संग्रह करने की वृत्ति और ममता के ये रूप—इन अबोध प्राणियों को कौन सिखा गया ? न तो इनकी कोई पाठशाला है और न ये बेचारे कुछ कह ही सकते हैं। इसे प्रकृति या प्रभु की कृपा ही मानना चाहिए कि बिना किसी शिक्षक के ये सब कुछ सीख जाते हैं। इसके लिए इन्हें किसी निमित्त को खोजने की आवश्यकता नहीं होती। पर मनुष्य का ज्ञान सहज होने के साथ नैमित्तिक भी है। गाय का बछड़ा जन्म लेते ही कूदने लगता है, इसके बाद परन्तु मानव का बच्चा पहले घिसलना सीखता है, फिर बैठना। घुटनों के बल सरकना और धीरे-धीरे उँगलियों के सहारे खड़े होकर चलना भी वह सीख लेता है। प्रत्यक्षतः उसकी ये समस्त क्रियायें क्रमिक विकास के रूप को व्यक्त करती हैं।

आस्तिकों के मतानुसार "जिस मनुष्य जाति को ईश्वर प्रदत्त ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसकी भाषा भी ईश्वरीय प्रेरणा से प्राप्त हुई है, क्योंकि ज्ञान बिना भाषा के ठहर ही नहीं सकता, अर्थात् वंश-परम्परा से चल ही नहीं सकता। ज्ञान और भाषा का सम्बन्ध जोडिया भाई और बहन की भाँति है।"[1] भाषा मानव जाति की विशेष निधि के रूप में है। विश्व में मानव का ऐसा कोई वर्ग नहीं है, ऐसी कोई जाति नहीं है, जहाँ पर भाषा का प्रयोग न होता हो।

आदि मनुष्य ज्ञान और भाषा के सहित ही उत्पन्न हुआ है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए कहा जाता है कि "जिस प्रकार 'हिपनोटिज्म' करने वाला अपने सबजेक्ट के मुँह से केवल मानसिक प्रेरणा से ऐसी-ऐसी भाषाओं के शब्द बुलवा सकता है जिनको सबजेक्ट ने पहिले कभी नहीं सुना, उसी प्रकार सर्व व्यापक और सर्व शक्तिमान परमात्मा ने आदि में मूल पुरुषों के हृदयों में ज्ञान और भाषा का प्रकाश किया। आदि सृष्टि में पैदा होने वाले ईश्वर पुत्र आर्य पूर्ण ज्ञानी आत्मा होते हैं। उनको अपने व्यापकत्व से परमात्मा पूर्ण प्राप्त ज्ञान और भाषा की याद दिला देता है, इसीलिए उनमें ज्ञान और भाषा का प्रकाश हो जाता है।"[2] इस तथ्य

---

१. रघुनंदन शर्मा—वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ २६१

२. " शर्मा—वैदिक " पृष्ठ २६८

के आधार पर यह मानना आवश्यक हो जाता है कि समस्त भाषा-शाखाओं का एक ही आदि मूल था। साइंस आफ द लैंगवेज के लेखक मैक्समूलर महोदय इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं।[1] भाषा-उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपर्युक्त मत के अनुसार भाषा को दैवी सम्पदा कहा गया है। पाश्चात्य विचारकों के मतों से भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है।[2] भारतीय मनीषा ने भी शब्द ब्रह्म के महत्व के सम्बन्ध में विशेष विचार किया है।

चिन्तन की वैज्ञानिक पद्धति ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मतों की सृष्टि की है। ये मत धातु सिद्धान्त, अनुकरण मूलकतावाद, मनोभावाभिव्यंजकतावाद, अनुरणनमूलकतावाद, श्रमपरिहरणमूलकतावाद तथा विकासवाद के समन्वित सिद्धान्त के रूप में भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में प्रख्यात हैं। भाषा की उत्पत्ति का मूल कारण कुछ भी रहा हो, पर कदाचित इस सम्बन्ध में सभी का मतैक्य होगा कि भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए भाषा ध्वन्यात्मक प्रतीक के रूप में उपस्थित हुई और इसके रूपों में कालक्रमानुसार विभिन्न देश-कालों में परिवर्तन भी होता गया। अस्तु भाषा का कोई एक स्थिर रूप नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार व्यक्ति का व्यक्तित्व सीमाबद्ध नहीं हो सकता उसी प्रकार भाषा भी किन्हीं विशिष्ट सीमाओं में आबद्ध नहीं हो सकती। वह व्यक्ति की भाँति ही पूर्ण विराट् की ओर सदैव उन्मुख बनी रहती है।

यहाँ पर हमें यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि भाषा के रूपों में परिवर्तन किस प्रकार सम्भव होते हैं। वैदिक भाषा से लेकर आज तक की प्रादेशिक भाषाओं के रूप किस प्रकार निष्पन्न हुए—इस विषय का अध्ययन विशेष महत्व का है। पहले हम भाषाओं में उत्पन्न होने वाली विभिन्नता पर विचार करेंगे।

1. What are called families of languages are only dialects of an earlier speeches (Chinas place in philosophy.)

2. If, then, God is the author of human language, he must have had his own language as well. And we find, in fact, that the word God, memra plays a tremendous part in the Bible. "And God said Let there be light and there was light."—By the word of the Lord were the heavens made; and all the host of them by the breath of his mouth. (33rd Psalm, 6). Not only did this word God create the whole world, it also cares for the world and makes it fruitful.

—The spirit of language in civilization, P. 36.

भाषा-विभिन्नता के कारण

१—उच्चारण सौकर्य या मुख-सुख

किसी भी समाज में पठित-अपठित, चतुर-मूर्ख सभी प्रकार के प्राणी होते हैं। ये समस्त प्राणी भाषा का उच्चारण समान रूप से नहीं करते हैं। इसीलिए एक ही समाज में शब्दों के भिन्न-भिन्न उच्चारण देखे जाते हैं। एक समाज में जब दूसरे समाज का अथवा एक देश में जब दूसरे देश का व्यक्ति आ जाता है तब शब्दों के स्वरूप में स्पष्ट अन्तर प्रतीत होने लगता है। नागरिकों एवं ग्रामीणों के शब्द-प्रयोग में सर्वत्र भिन्नता पाई जाती हैं। नागरिक टिकट शब्द का प्रयोग करेगा और ग्रामीण टिक्कस या टिकस कहेगा। हिन्दू रामचन्द्र कहेगा जब कि मुसलमान रामचन्दर कहेगा। किंचित्मात्र, किंचाभर, सूक्ष्म-छुच्छिम, स्टूल-सटूल, दुग्धाहार-दोग्धाहार या दोगधाहार, ये सब भाषा विभिन्नता के ही उदाहरण हैं। उच्चारण सौकर्य और मुख-सुख भी शब्दों के रूपों को विकृत कर दिया करते हैं।

२—अक्षरों का न्यूनाधिक्य

लिपि में अक्षरों का न्यूनाधिक होना भी भाषा-भिन्नता का कारण बन जाता है। उदाहरण के लिए अरबी में 'प' की ध्वनि नहीं होती, अस्तु उसके लिए वर्णमाला में भी 'प' नहीं होता। इसीलिए गोप का वहाँ 'गोबा' बन जाता है।

३—अमर्यादित उच्चारण

जब उच्चारण करते समय ध्वनियों में कभी आधिक्य और कभी न्यूनत्व कर देते हैं तब शब्दों के रूप में परिवर्तन हो जाता है। यथा—'वसु' का बोस'। यह बोस रोज (Rose) के साम्य में 'बोज' हुआ। गुजराती तथा मराठी में 'ज' के लिए 'झ' की ध्वनि का प्रयोग होता है। अस्तु वसु महाशय बोस से बोझ बन गए। इस प्रकार की बढ़ी हुई अमर्यादित ध्वनियाँ शब्दों के रूप-विकार का कारण बना करती हैं।

४—व्याकरण की एकता का अभाव

नागरिक भाषा के व्याकरण-सम्मत रूप का प्रयोग करता है जब कि एक ग्रामीण व्याकरणिक नियमों की प्राय: उपेक्षा कर दिया करता है। यह तो ग्रामीण जीवन की बात हुई। पर साहित्यिक-क्षेत्र में भी व्याकरण की एकरूपता के अभाव में शब्द-प्रयोगों में भिन्नता पाई जाती है। संस्कृत में तीन वचन हैं, पर उसी से उद्भूत होने वाली हिन्दी में केवल दो ही वचन हैं। इसके द्वारा भी भाषा-रूपों में अन्तर उत्पन्न हो जाया करता है। एक ही शब्द भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न लिंगों में प्रयुक्त होता है। यथा—हिन्दी में हाथी आता है, दही अच्छा है, पर बँगला में हाथी आती हैं', 'दही अच्छी है' प्रयोग होगा। एक ही भाषा में शब्दों के प्रयोग में अन्तर देखा जाता है। यथा—वायु चलता है, वायु चलती है, 'आत्मा विचार करती है, आत्मा

विचार करता है' आदि प्रयोग चला करते हैं।

५—शब्दों का नव-निर्माण

कभी-कभी भावों और विचारों की गोपनीयता की दृष्टि से कुछ विशिष्ट शब्द-संकेत (कोड वर्ड्स) बना लिए जाते हैं। यही शब्द दूसरी भाषा में प्रचलित होकर भाषा के रूप को बदल दिया करते हैं। भिंडी के लिए (lady finger) का प्रयोग सांकेतिकता का ही उदाहरण है। आटा के लिये ग्रामीण भाषा में पेषण (पिसान) शब्द प्रचलित है। कहीं-कहीं इसे पिहित भी कहते हैं और इसी पिहित ने पथी (पनेथी) शब्द की सृष्टि कर डाली।

६—अर्जन की क्रिया

भाषा के विकास में अर्जन की क्रिया का भी विशेष महत्व है। हम परस्पर सम्मिलन-काल में नित-नूतन शब्दों का आदान-प्रदान करते हैं और अपनी भाषा के भाण्डार को समृद्ध बनाते हैं। पर इसके साथ ही कतिपय शब्द अति अप्रचलित होकर प्रयोग-बाह्य भी हो जाते हैं। यह प्रयोगबाह्यता ही शब्दों की मृत्यु का कारण बनती है। एक शब्द विस्मृत हो जाता है तो उस भाव की अभिव्यक्ति के लिए दूसरा शब्द स्थान ग्रहण करता है। भाषा की यही प्रक्रिया उसको निरन्तर जीवनदान दिया करती है।

भाषा, सभ्यता एवं संस्कृति

सभ्यता किसी जाति की उन प्रतिपत्तियों का नाम है जिन्हें वह सामाजिक संदर्भ में कई युगों के परिष्कारों के उपरान्त प्राप्त करती है। सभ्यता सभ्य का भाव है। सभ्य 'सभा के योग्य' पुरुष का सूचक है। सभा एक नहीं, अनेक व्यक्तियों से मिल कर बनती है। यह व्यक्ति प्राकृत नहीं, संस्कृत होते हैं। इनके विचार, इनकी वाणी तथा इनकी कार्यशैली एक विशिष्ट साँचे में ढली रहती है। सभ्य व्यक्तियों से आशा की जाती है कि वे अहंवादी न होकर सभावादी होंगे। अपने को पीछे रख कर भी दूसरों का ध्यान रखेंगे। समिति में बैठ कर वे इतने उदार तो अवश्य होंगे कि अपने साथ दूसरे के दृष्टिकोण का विचार कर सकें। वाणी इस सभ्यता की वाहिका है और इसीलिए भाषा का सभ्यता के साथ अविच्छिन्न संबंध है।

भाषागत शब्द, वाक्यविन्यास, अभिव्यक्ति-कौशल, लोकोक्तियों तथा विच्छित्ति वैभव आदि सभी से सभ्यता के विविध अंगों पर प्रकाश पड़ता है। एक-एक शब्द अपने गर्भ में जिस विचार-राशि को लिए हुए है वह हमारे पूर्वजों की क्रिया-प्रणाली, विचार-पद्धति तथा व्यवहार-क्षमता की द्योतिका है। यदि ये शब्द जीवित हैं तो उनके साथ संबद्ध विचार-राशि भी जीवित है और उसके साथ हमारी वह परम्परा भी जीवित है जो युगों के अन्तराल को चीरती हुई अपनी सशक्त जीवनोपयोगी सामर्थ्य

रखती है। वैदिक युग के हरि, असुर, देव, राक्षस, इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण आदि शब्दों में हमें उन दिनों की प्रसरणशीला एवं गवेषणात्मक भाषा-शैली के दर्शन होते हैं। वैदिक ऋषि जिस चिंतन पद्धति को अपने साथ लिए है वह उसकी सामाजिकता का भी परिचय देती है। वे नहीं चाहते कि हममें कोई पाप का प्रशंसक हमारा राजा बने। वे चाहते हैं कि हमारे कर्म श्रेष्ठतम कर्म हों। परम सत्ता जो हमारी जनक, बन्धु, विधाता सभी कुछ है हमारी उपास्य देवी बने। उसके अतिरिक्त अन्य किसी का गुणगान व्यर्थ है, हानिकारक है। ब्रह्मांड भर का वसु उसी का है, उसी ने हम सब को प्रदान किया है। शरीर और यह विराट जगत यज्ञ के रूप में है जिन्हें देख कर हमें अपना जीवन यज्ञपरायण बनाना चाहिए। इसी से आलोक विकीर्ण होगा। यज्ञ के विपरीत पथ का प्रयाण वध का हेतु है। ऐसे उदात्त समाज की कल्पना हम वैदिक भाषा में प्रयुक्त शब्दों से ही कर लेते हैं। यदि ये शब्द हमारे पास न होते तो क्या हम वेदयुगी सभ्यता का अनुमान भी लगा सकते थे।

ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ के पारिभाषिक शब्दों की भरमार है जो उस युग की जातिगत विशिष्ट मनोवृत्ति की परिचायिका है। कतिपय शब्दों का भाव यद्यपि आज लुप्त हो चुका है तथापि आर्यों के मस्तिष्क से निःसृत तथा याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रदर्शित हमारे पूर्वजों की दिशा विशेष की ओर उन्मुख मनोवृत्ति उस युग की भाषा द्वारा जानी जा सकती है। उपनिषद एक भिन्न सभ्यता का दिग्दर्शन कराते हैं जिसमें ब्रह्म-चिन्तन की प्रधानता है। यज्ञों को जो सम्भवतः द्रव्ययज्ञ का रूप धारण कर चुके थे और जो सम्भव है हिंसा बहुल भी रहे हों—इन उपनिषदों में श्लाघ्य दृष्टि से नहीं देखा गया। हमारी समस्त जातीय शक्ति एवं बौद्धिक चेतना, उस परात्पर तत्व के साक्षात्कार करने में लीन थी जिसे अणु से अणु महान् से महान् ईश्वरों का महेश्वर, देवताओं में परम दैवत, रक्षकों में सर्व श्रेष्ठ रक्षक और भुवन भर का आराध्य देव कहा जाता है। 'अन्नं वै ब्रह्म' से लेकर प्राण, मन, बुद्धि को पार करते हुए उस आनन्दमयी सत्ता की उपलब्धि ही हमारा लक्ष्य बनी थी। सत्य इसका आयतन था और मधु विद्या 'रसो वै सः' की अभिख्यापिका महती साधना। भारतीय सदैव से ही अध्यात्मप्रिय रहे हैं पर उपनिषद का युग तो उन दिनों और क्रिया-कलापों से विशेष अध्यात्मप्रिय प्रतीत होता है।

रामायण और महाभारत ये दोनों महाकाव्य ग्रन्थ अपने-अपने युग की संस्कृतियों के परिचायक हैं। उस युग में दो प्रकार की संस्कृतियाँ विद्यमान थीं। एक आर्य संस्कृति और दूसरी अनार्य-संस्कृति। रामायण के राम आर्य-संस्कृति के पोषण और रावण अनार्य संस्कृति का पालक था। इसी प्रकार महाभारत के कृष्ण आर्य-मर्यादाओं के प्रतिष्ठापक हैं जब कि कंस और दुर्योधन के कार्य अनार्य प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने वाले पाये जाते हैं। रामायण पूर्ण आदर्शवादी व्यवस्था की सृष्टि करती

है, पर महाभारत में घोर यथार्थ के रूप का दर्शन होता है। अयोध्या के राज्य को छोड़ कर राम वन को जाते हैं इसलिए कि भरत राज-सुख भोगें, पर भरत राम की पादुकाओं को राम का प्रतिनिधि मान कर अपना जीवन एक तपस्वी सेवक की भाँति व्यतीत करते हैं और घर को ही वन बना लेते हैं। किन्तु महाभारत तक आते-आते राज्य के लिए कितना भीषण नर-संहार हुआ। एक भाई दूसरे भाई के रक्त का प्यासा! राज्य का इतना बड़ा मूल्य!! यही है समाज के आदर्श और यथार्थ का रूप जो हमें क्रमश: रामायण और महाभारत से प्राप्त होता है। उपासना क्षेत्र का परिचय भी इन ग्रन्थों से प्राप्त होता। महाभारत में प्रयुक्त शब्द नारायण, वासुदेव, हरि तथा कृष्ण इस बात के प्रमाण हैं कि प्रभु की उपासना इन विभिन्न नामों से होने लगी थी। इसमें याज्ञिक अनुष्ठानों में होने वाली बलि का भी उल्लेख पाया जाता है, साथ ही ऋषियों के एक ऐसे वर्ग का भी पता चलता है जो ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित पशु-बलि का विरोध करता था। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता सम्बन्धी इन सूचनाओं को देने वाली महाकाव्यों की भाषा ही तो है। इसलिए भाषा को मानव संस्कृति की संवाहिका कहा जाता है।[1] इसके अभाव में किसी भी संस्कृति का विकास एवं प्रसार असंभव है।

जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे कितने ही प्रसंग आते हैं जहाँ हिंसा परक यज्ञों का विरोध किया गया है और अहिंसा के मार्ग को ही जीवन का कल्याणकारी मार्ग माना गया है। जैनधर्म में जीवन की कृच्छ्र साधना को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। उनका विश्वास था कि शरीर ही आत्मा-परमात्मा के मिलन में बाधक है। अत: इसे अधिकाधिक संयमग्रस्त बनाया जाय। जैन धर्मानुसार अनशन और उपवास का इतना अधिक आधिक्य कि प्राणों का विसर्जन हो जाय, साधना का सर्वोत्तम रूप माना जाता है। उस युग की जैनधर्म की छाया में पलने वाली सभ्यता का रूप न ज्ञात हो पाता यदि जैन-ग्रन्थों की भाषा ने उसके स्वरूप को सुरक्षित न रखा होता। इसी प्रकार बौद्धों के धर्म-ग्रन्थों में सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा बौद्धकालीन धार्मिक व्यवस्था का परिचय प्राप्त होता है। कर्म-क्लेश का निरोध करने के लिए समाज में ये अष्टांगिक मार्ग प्रचलित थे। बौद्ध–साहित्य में पंचशील शब्द आता है। पंचशील के अन्तर्गत प्राणातिपात-विरति, अदत्तादान–विरति, काम–मिथ्याचार–विरति, मृषावाद–विरति तथा सुरा-

1. Language is often said to be the vehical of human culture and indeed in would be difficult to imagin a culture, however crude without language.—Oscar Luis chavarria Aguilar

—Lectures in Linguistics, Page 11

मरेय–प्रमाद-स्थान-विरति की गणना होती है । पंचशील के इन रूपों द्वारा आचार-परम्परा का ज्ञान होता है । यदि ये शब्द न होते तो आज हम कैसे जान सकते थे कि बौद्ध युगीन सभ्यता में धार्मिक व्यवस्था किस प्रकार की थी । इसी प्रकार अन्य कितने ही शब्द युगपरक सामाजिक जीवन के विभिन्न रूपों की व्याख्या करते हैं। शब्द अपने में अपने युग का इतिहास लिए हुए चलते हैं ।

मानव समाज–सापेक्ष प्राणी है, उसकी प्रत्येक गतिविधि समाज की गतिविधि बना करती है और समाज अपने क्रियाकलापों द्वारा सभ्यता के स्वरूप का निर्माण करता है । हम जिस प्रकार से अपने भावों को व्यक्त करते हैं तथा दूसरे के भावों को सुनते हैं, अत्याचार और अनाचार के प्रति जिस आक्रोशमयी वाणी का प्रयोग करते हैं, दया-दाक्षिण्य, उत्सर्ग आदि के प्रति जिन उल्लासमय स्वरों का संचार करते हैं, वे सब हमारे अंतस के स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं और यह अभिव्यक्ति ही सामाजिक रूप में सभ्यता का आभास प्रस्तुत करती है । प्रकारान्तर से हम यह कह सकते हैं कि हमारी भाषा सभ्यता को प्रेरणा प्रदान करती है ।

भाषा का ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर विकास होता जाता है त्यों-त्यों मनुष्य को अपने भावों के छिपाने की एक कला विशेष प्राप्त होती जाती है । सामान्यत: यह देखा जाता है कि जो अधिक बोलना नहीं जानते या यों कहिये कि जिनके पास भाषा-कौशल नहीं है, वे अपने हृदय के भाव को ज्यों का ज्यों, बिना किसी कलात्मक आवरण के स्पष्ट कर देते हैं । पर जिन्हें भाषा की कला का ज्ञान है वे अपनी वाणी में बड़ा ही आकर्षक चमत्कार-विधान उत्पन्न करते हैं और मनचाहे ढंग से अपने भाव को व्यक्त कर देते हैं । ऐसी स्थिति में कभी-कभी सत्य पर एक बड़ा ही मोहक अवगुंठन पड़ जाता है । इस दृष्टि से एक साधु विचारक भाषा को अधिक श्रेय नहीं प्रदान कर सकता, पर इसका एक दूसरा भी पक्ष है । यदि भाषा न होती तो हमारे भाव-विचार अवगुंठित अथवा अनवगुंठित किसी भी रूप में व्यक्त न हो सकते थे । भाषा के अभाव में न तो हमारे स्व का विस्तार ही सम्भव था और न हमारी आत्मानुभूति का किसी प्रकार का संरक्षण ही हो पाता ।

परस्पर संलाप की क्रिया में हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं उसके द्वारा भी हमारी सभ्यता के स्तर का अनुमान किया जा सकता है । संलाप करते समय भाषा का एक नाटक-सा होता है जिसमें प्रत्येक पात्र अपने भीतर ही नाट्य किया करता है । जिस प्रकार प्रत्यक्षत: वायु की लहरियाँ नहीं बोलतीं, किन्तु रेडियो से हम बोल सुनते हैं, टेलीफोन के तार प्रत्यक्ष ध्वनि करते हुए नहीं दिखाई पड़ते, लेकिन हम ध्वनि सुनते हैं, रेडियो और तार तो केवल मध्यस्थता करते हैं, संवादों को संवहन करते हैं, उनके प्रसार में सहायक होते हैं, संवाद देने वाला और उसे ग्रहण करने वाला तो दूसरा ही है, उसी प्रकार व्यक्ति और उसका मुख केवल एक माध्यम है, बोलने वाला तो कोई दूसरा ही है जो उसके अंतस् में विद्यमान है, किन्तु जब ध्वनि-

शब्द सामने आ जाते हैं तब व्यक्ति का समस्त व्यक्तित्व प्रत्यक्ष हो उठता है और जैसे रेडियो, टेलीफोन आदि किसी समाज की सभ्यता का परिचय देते हैं उसी प्रकार भाषा भी किसी व्यक्ति अथवा समाज की सभ्यता के रूप को व्यक्त करती है। जिस प्रकार सभ्यता का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है उसी प्रकार भाषा का भी। स्पष्ट है कि व्यक्ति का ढाँचा नाद नहीं करता, नाद करने वाली—भाषा के स्वरूप का निर्माण करने वाली तो उसकी आत्मा है। ज्यों-ज्यों आत्मा का विकास होता जाता है त्यों-त्यों भाषा भी गतिमान होती जाती है। इस प्रकार भाषा वास्तविकता और उसके परे के प्रसार में एक आन्दोलित गति के रूप में है। यह सदैव नवीनाति-नवीन रूपों में अपने को प्रकट करने के लिए मचलती रहती है।

भाषा की एक आध्यात्मिक इकाई भी है जिससे समस्त विश्व में एक प्रकार की भावानुभूति को व्यक्त करने वाली ध्वनियों में साम्य एवं सानुकूलता के दर्शन होते हैं।

जिस प्रकार सभ्यता का विकास समुदाय की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार भाषा भी समाज की अपेक्षा रखती है। एक व्यक्ति चाहे कितनी ही स्थितियों और संकेतों द्वारा अपने को व्यक्त करे, पर भाषा का निर्माण नहीं कर सकता, स्वयं ब्रह्म भी, भले ही वह अपने से संवाद कर ले, परन्तु वह भाषा को जन्म नहीं दे सकता। भाषा का अभिप्राय अथवा उसका क्षेत्र कुछ भी हो, उसके जन्म के लिए अनेक व्यक्तियों का होना अपेक्षित है, क्योंकि व्यक्ति ही भाषा के स्वरूप को संवहन कर सकते हैं। भाषा एक प्रकार से मानवों के बीच प्रतिष्ठित एक परम्परा है। सभ्यता भी मानव-जाति को एक परम्परा के रूप में प्राप्त होती है। मानव की भाषा ही सभ्यता की परम्परा को अक्षुण्ण रखती हुई उसके भावी रूप का अभिनव शृंगार करने में सक्षम होती है।

भाषा और प्रकृति

भाषा वैज्ञानिकों ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते समय यह निश्चित किया कि प्राकृतिक क्रियाओं के अनुकरण के आधार पर कतिपय शब्दों का निर्माण हुआ। उदाहरणार्थ पेड़ से पत्ता गिरा और पत् की ध्वनि हुई। उसी ध्वनि के आधार पर 'पत्ता' शब्द बना, झरने का झर-झर करके गिरना ही झरने शब्द के निर्माण का मूल हेतु है। इस से यह निष्कर्ष निकाला गया कि भाषा प्रकृति में समाई हुई है और यह विचार इतना अधिक पुष्ट होता गया कि भ्रमवश लोगों ने भाषा को प्रकृति का ही एक अंग मान लिया। कतिपय विचारकों का यह मत है कि जलवायु और प्रकृति भाषा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते, उन्हें यह मानने में भी कदाचित आपत्ति हो सकती है कि विभिन्न जातियों तथा उनकी भाषा से कोई नैसर्गिक सम्बन्ध है। भाषा की धुरी देशों तथा विभिन्न वातावरणों पर टिकी नहीं

रहती । उसका घरों तथा जनपदों से भी कोई सम्बन्ध नहीं है, जातियों और दलों के दलदल में वह नहीं फँसती ।[1] इस कथन से इतना ही तात्पर्य ग्रहण किया जा सकता है कि भाषा का प्राण उसके उचित प्रयोग में है । उसका प्रयोग ही उसके विकास का एकमात्र मूल हेतु है । भौगोलिक परिस्थितियाँ, परिवार, समाज आदि उसे प्रभावित कर सकते हैं । स्पष्ट है कि यह प्रभाव सत् और असत् दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं किन्तु ये प्रभाव अपना काम तभी करते हैं, जब वे भाषा के अन्तराल में प्रविष्ट हो सकें । प्रयोग की गतिमयता के कारण ही भाषाएँ जड़ पकड़ती हैं । जिस भाषा का प्रयोग मन्द पड़ जाता है वे भाषाएँ कालान्तर में केवल ऐतिहासिक उल्लेख की वस्तु रह जाती हैं । इसके प्रतिकूल जिन भाषाओं का निरन्तर प्रयोग होता रहता है, उनके बोलने वाले इतस्ततः घूमते-फिरते हैं, वे भाषायें नित्य नूतन समृद्धि को प्राप्त करती हैं और समुन्नत हो जाती हैं । अस्तु भाषा का प्रयोग ही उसकी प्रेरक शक्ति है । ऊपर हमने भाषा के ऐतिहासिक उल्लेख की बात कही है । भाषा इतिहास की सम्पत्ति बन कर पूर्णतः मृत नहीं हो जाती, प्रयोग के अभाव में वे विस्मृत अवश्य हो जाती हैं; पर वे अपने धूमिल भूतकाल के प्रान्तर से किसी न किसी रूप से प्रचलित भाषाओं का सम्पर्क प्राप्त कर लेती हैं । जिन्हें हम मृत भाषा कहते हैं उनके कोई न कोई शब्द तत्सम या तद्भव रूप में प्रचलित भाषाओं में पाये जाते हैं । भाषाओं की यह प्रकृति हमें इस तथ्य को मान लेने के लिये प्रेरित करती है कि कोई भीभाषा कभी मृत नहीं होती । सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि किसी भी प्रयोग में आने वाली भाषा का आरम्भ और अन्त होना ही चाहिए । वस्तुतः भाषा की गति अबाध है । वह सृष्टि के आरम्भ से चल कर अन्त तक चलती चली जायगी । भाषा की अबाध धारा में परिवर्तन के नाना आवर्तों का पड़ना स्वाभाविक है । मर्त्यों का यह संसार भाषा के नैसर्गिक स्वरूप का पता भले ही न लगा सके, पर वह प्रकृति की सहचरी होने के कारण शब्दों और वाक्यों के रूप में अपना निरन्तर विकास करती रहती है ।

भाषा सम्पूर्ण प्रकृति में एक सम्राज्ञी के रूप में विराजमान है, विश्व की समस्त ललित भाषायें उसकी महिमामयी गोद में समाई हुयी हैं । नृत्य शारीरिक

"In the light of modern science no one dares to believe that climate and the nature of the soil have any influence on the speech of man. Nor has it ever been proved that there is a necessary natural connection between races and their language forms. The centre of gravity of a language does not lie in countries and climate, nor in houses and settlements. Nor in the animal groupings and species of man."

—The Spirit of Language in civilization–Page.81.

संकेतों की भाषा है, संगीत नाद की विज्ञानमयी भाषा है, चित्रकला रंगों और रेखाओं का मुखर संलाप है, स्थापत्य कला आदि ठोस जड़ पिण्डों के भीतर से आती हुई भाषा की गूंज है और कविता तो भाषाओं की भी भाषा है। प्रतिदिन के बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले शब्द अथवा नाद, लय अथवा ताल हमारे भावों और इच्छाओं के अनुचर हैं। ये सब प्रयोग द्वारा शासित होते हैं। प्रयोगों की विभिन्नता उनके रूप व्यापार की विभिन्नता बना करती है। कविता में वे एक अत्यधिक बलवती प्रेरणा के रूप बन जाते हैं। पिंगल और प्रयोग इनकी सीमा का निर्धारण करते हैं। काव्य अथवा कला का जितना भी शास्त्रीय विवेचन हुआ है उन सब में इस तथ्य को सर्वत्र स्वीकार किया गया है कि कविता प्रकृति की अनुकृति है। प्रकृति और जिसकी अनुकृति में कलाकार अथवा कवि सुख मानता है वह वस्तुतः उसकी मातृभाषा का संगीत और संलाप है। उसी का गर्जन, उसी की गुनगुनाहट, उसी की लय और उसी की तान है। इन्हीं सब का आरोह एवं अवरोह वाणी के रूप में वह अपने चतुर्दिक सुनता-सुनाता आया है।

मानव का निर्माण प्रकृति के उपादानों से हुआ है। वह प्रकृति के ही उन्मुक्त वातावरण में अपनी आँखें खोलता है, प्रकृति के ही विभिन्न उपकरण उसका लालन-पालन एवं संवर्धन करते हैं और अन्ततोगत्वा एक दिन वह अपने समस्त भौतिक–स्थूल रूप को प्रकृति को ही सौंप देता है। इस प्रकार प्रकृति और मानव का परस्पर घनिष्ट संबंध है। प्रकृति ही उसे उसके भावजगत, कल्पनाजगत और उसकी भाषा का निर्माण करती है। इस प्रक्रिया में हम प्रकृति, मानव और उसकी कला को संगुंफित पाते हैं। भाषा भावों का संवहन करती है। भावों द्वारा भाषा को बलवती एवं गतिमती बना देने में ही काव्यत्व का साफल्य है। और भाषा का कलेवर भावों के अन्तर को प्रकट कर सके, भाषा-प्रयोगों द्वारा मूर्च्छित चेतनायें पुनः जागरूक हो सकें, तभी कवि-प्रतिभा का मनोरम दर्शन होता है। कविता को भाषाओं की भाषा कहने का यही अभिप्राय है। प्रत्येक भाषा का प्राण उसका काव्यत्व है। वक्ता, कलाकार और कवि भाषा के प्रयोग सम्बन्धी नियमों की अवहेलना कर सकते हैं अवश्य, किन्तु उसकी प्रकृति से दूर नहीं जा सकते। प्रकृति के द्वारा निर्मित भाषा अपना रूप बदल सकती है, किन्तु वह प्रकृति को छोड़ नहीं सकती।

जिस प्रकार आत्मा के बिना मस्तिष्क का अस्तित्व नहीं रह सकता उसी प्रकार धर्मशून्य कविता और कला भी निष्प्राण है। धार्मिकता कविता और कला को वह संजीवनी शक्ति प्रदान करती है जिससे न केवल कविता और कला जीवित रहती है, अपितु दूसरों को भी जीवन-दान दे जाती है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी सदैव स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ कहीं भी कविता और कला के आभ्यंतरिक सौन्दर्य के दर्शन होते हैं वहाँ भाषा की आधारभूत एकरूपता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

धार्मिक व्यक्ति के कानों में प्रत्येक वस्तु की भाषा सुनाई देती है उससे विश्व की प्रत्येक वस्तु, पेड़, प्रस्तर खंड, जड़-जीव सभी संलाप करते हुए प्रतीत होते हैं। केवल मनुष्यों को ही बातचीत का अधिकार नहीं प्राप्त है। धर्म-प्राण व्यक्ति से तो सभी वार्तालाप करते हैं। वह अपनी कविता-कला द्वारा संसार के समस्त स्थावर एवं जंगम पदार्थों को अनुप्राणित करता रहता है उसमें उनकी भाषा को समझने तथा उनके व्यवहार को दूसरों को समझाने की क्षमता है। कवि से तो विश्व का प्रत्येक कण बोलता है। इसीलिए ब्रह्माण्ड का प्रत्येक सत्य उसके लिए भाषा का रूप ग्रहण करता है। भाषा के जन्म का रहस्य आदि मानव की चिन्तन मुद्रा में सन्निहित है। किस प्रकार प्रकृति ने उसे चेतना प्रदान की और प्रकृति से चेतना प्राप्त कर किस प्रकार उसने अपने अन्तस्तल में भावों एवं अनुभूतियों को सँजोया और किस प्रकार उसने प्रकृति से ही प्रेरणा प्राप्त कर भाषा के माध्यम से उन्हें अभिव्यक्त किया—यह सब एक बड़े कौतूहल का विषय है। मानव की जिज्ञासा वृत्ति इस दिशा में कभी पूर्ण तोष नहीं प्राप्त कर पाती, क्योंकि ज्यों-ज्यों मानव का, प्रकृति का विकास होता जाता है त्यों-त्यों भाषा भी विकास को प्राप्त करती जाती है। इसी रूप में भाषा और प्रकृति का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

भाषा और जीवन

किसी भी भाषा का जीवन मानव-जीवन की ही भाँति गतिमान रहता है। यदि मनुष्य कार्य करना बन्द कर दे और उसके शारीरिक अवयव पूर्ण विश्राम की स्थिति में रहें तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब वह साधारण रूप से उठने-बैठने में भी अशक्तता अनुभव करने लगे। उसकी क्रियाशीलता ही उसको सजीव बनाये रखती है। भाषा की भी यही स्थिति है। वह प्रयोग के माध्यम से ही स्पंदन-शीला बन कर अपने रूप का सतत विकास कर सकती है। जिस प्रकार प्रकृति की वनस्थली में कभी पतझड़ आते हैं और कभी वसंत की श्री—सुषमा बन का शृंगार करती है, कभी हिमाच्छादित उत्तुंग शैलमालाएँ हिमांशु की धवल ज्योत्स्ना प्राप्त कर रजत-श्री की सृष्टि करती है और कभी केवल नीरस शिलाखंड ही पर्वतराज की सम्पत्ति बनते हैं, कभी जलधि की उत्ताल तरंगें लाख-लाख अभिलाषाओं से भर कर निशाकर की रश्मियों को चूमने के लिए मचल पड़ती हैं और वही सागर कभी ऐसा प्रशान्त, ऐसा सुस्थिर-समस्त स्पंदनों से हीन, उसी प्रकार कोई भी भाषा सदैव एक रूप नहीं रहती। प्रयोग की अतिशयता ही भाषा का जीवन बनता है। निरन्तर की अबाध-गति ही भाषा का प्राण है। भाषा की सप्राणता का दर्शन उसकी गति-हीनता तथा स्थायित्व के अभाव में है। भाषा—दर्शन जीवित और मृत भाषाओं में किसी प्रकार का भेद नहीं मानता। वह विरोधों और मत-विभिन्नताओं को भी कोई मान्यता नहीं प्रदान करता। विभिन्नतायें तो बहुलता की सृष्टि करती है। इसीलिए भाषा के विभिन्न स्वरूप एक दूसरे से पृथक नहीं हो सकते। उनकी भिन्नता में ही

अभिन्नता के दर्शन होते हैं । जिस प्रकार उठते बादलों में और झरते हुए जल-प्रपातों में एक ही जल के दो भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार भाषा के भी विभिन्न स्वरूप हैं जिनके मूल में एक ही तत्व विद्यमान है । स्वरों का आरोह एवं अवरोह जैसे स्वर के दो रूप व्यक्त करता है वैसे ही भाषा भी अपने कई रूप व्यक्त कर सकती है । विराट् की असीमता, अबाधता और अभेदता की ही भाँति कोई भी भाषा असीम, अबाध और अभेद रहती है और जैसे, विराट् साकार-सुगुण बन कर अपने को सीमित-सा कर देता है वैसे ही भाषा भी हमारी चेतनाओं में सिमिट कर एक क्षणिक प्रकाश-रेखा के रूप में कौंध जाती है ।

भाषा को हम मस्तिष्क की पूर्ण चेतन अवस्था भी मान सकते हैं । जिस प्रकार से चेतन मस्तिष्क नाना क्रिया-कलापों की सृष्टि करता है, उसी प्रकार भाषा भी नादमय होकर सगुण हो जाती है और जैसे सागर की अतल गहराई से उठ कर विराट् लहरें फेनिल परिवेष्टन से परिवेष्टित हो सशब्द एवं साकार हो उठती हैं, वैसे ही भाषा भी मानव के अन्तराल से फेनिल लहरों के रूप में उठ कर साकार बन जाती है । इसी रूप में वह मानव-हृदय की पूर्ण व्याख्या बन जाती है । इसीलिए किसी भी भाषा का इतिहास उसके बोलने वालों के भावों—मानसिक चेतनाओं का इतिहास है । हम किसी भी भाषा को ले लें और उसके विकास का क्रमिक अध्ययन करें तो हम उस भाषा के बोलने वालों के सम्पूर्ण सांस्कृतिक विकास एवं राजनैतिक उपलब्धियों का परिचय पा सकते हैं । भाषा के रूप में मानों हमारा समस्त बिखरा ज्ञान संकलित एवं सजीव हो उठता है । हमारे जीवन के चारों ओर जितना भी प्रसार है वह यद्यपि प्रत्यक्षतः भाषा से भिन्न है, पर सब भाषामय है । जब कभी आवश्यकता होती है तब प्रस्तर अथवा पत्र, शिलाएँ अथवा ताम्रपत्र, पवन अथवा तारतंतु बोलने लगते हैं । ये सभी भाषा द्वारा अनुप्राणित होते हैं और समय आने पर भाषा को सजीव भी बनाते हैं ।[1]

हमारा समुन्नत जीवन हमारे राष्ट्र का गौरव चिह्न है । भाषा इस गौरव को वहन करने वाली—माध्यम बनती है । इस दृष्टि से मानव—जीवन में भाषा का महत्व

1. The stone paper or bronze on which we write, the air and wires through which we speak, the ears with which we hear, our larynxes and vocal cords, nerves and muscles, lungs and hands, even our brains, become language when necessity arises, though in themselves they are something completely different. They allow language attributed to them in their turn give forth language whenever circum stances demand it.

—The Spirit of language in Civilization. Page, 110

और भी अधिक बढ़ जाता है । वस्तुत: भाषा एक विशेष मनोदशा है, एक विशेष स्फूर्ति है, एक अमोघ शक्ति है । जिस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र अपनी विशेष शक्ति रखता है उसी प्रकार भाषा भी अपने में एक विशेष क्षमता सँजोए रखती है । बड़े-बड़े विश्वव्यापी विप्लवों के मूल में भाषा की शक्ति कार्य करती रही है और रणचण्डी की दुर्धर्ष मुद्रा को शांत करके उसे परम कल्याणी रूप देने में भाषा की ही अमोघ शक्ति ने कार्य किया है ।

जिस प्रकार राष्ट्रों में युद्ध होते हैं उसी प्रकार भाषा-विषयक युद्ध भी देखे जाते हैं । उनमें कभी-कभी तो इर्ष्या और मूर्खता का ही दर्शन होता है । पर ये युद्ध जातीय जीवन की सजगता का प्रमाण भी प्रस्तुत करते है । जीवन स्वत: एक संघर्ष है । कभी हृदय में असत् प्रवृतियाँ जागरूक होकर युद्ध का रूप रच देती हैं । हृदय का सत् असत् के इस व्यापार के प्रति विद्रोह कर उठता है । इस प्रकार सत् और असत् का संघर्ष छिड़ जाता है । भाषा भी जीवन से सम्बन्धित होने के कारण इस संघर्ष से अछूती कैसे रह सकती है । मानव की महदाकांक्षा अपनी सार्वभौम सत्ता के प्रसार में ही संतोष अनुभव करना चाहती है । भाषा भी इसी वृत्ति का अनुसरण करती है । वह भी सार्वभौतिक चक्रवर्ती साम्राज्य की आकांक्षा रखती है। कालचक्र के माध्यम से मानव-मन की कामनायें जैसे कभी साकार होती हैं और कभी नष्ट होती हैं, उसी प्रकार भाषा का साम्राज्य भी बनता-बिगड़ता रहता है । पर प्रत्येक विनाश न केवल निर्माण का बीज बोता है, अपितु वह अपना ऐतिहासिक अस्तित्व भी किसी न किसी रूप में अक्षुण्ण रखता है । कौन कह सकता है कि आज हम जिस भाषा में जो नाना सूक्तियाँ, लोकोक्तियाँ और कहावतें, उपमायें और रूपक प्रयुक्त कर रहे हैं वे सब नितान्त नवीन हैं । यह सब भाषा-कानन की भूमि में गिरे हुये बीज हैं जो उगते और बढ़ते हुए सुदीर्घ काल से चले आ रहे हैं । इस क्रम की एक परम्परा-सी लगी हुई है ।

जिस प्रकार समाज क्रमिक विकास करता जाता है उसी प्रकार भाषा भी धीरे-धीरे अपना विकास करती है । मानव अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं के कारण एक दूसरे के सम्पर्क में आता है । यह सम्पर्क ही भाषा के विकास का हेतु बनता है । पहले मनुष्य भी पशुओं जैसी स्थिति में था, किन्तु धीरे-धीरे उसने अपनी आवश्यकताओं के आधार से वस्तुओं का संग्रह किया और उनका नामकरण किया। भावों और विकारों के विभिन्न रूप उपस्थित हुए और उनका आदान-प्रदान भी हुआ। उसके जीवन की इस प्रक्रिया में भाषा का योग अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। स्पष्ट है कि भाषा का यह योग प्रारम्भ में अस्थिर, धूमिल-सा रहा होगा । पर धीरे-धीरे उसमें स्थिरता आई होगी । यह स्थिति उसी प्रकार है जिस प्रकार क्रमिक विकास के उपरान्त ही आध्यात्मिक-स्थिति प्राप्त होती है । यदि सामाजिक जीवन

एक वृक्ष के रूप में है तो भाषा उसका फूल और फल है ।[1]

भाषा और कविता

भाषा मानव के भावों का साकार रूप है । मानव के विचार-शिशु भाषा के रूप में ही थिरकते हैं, किलकारियाँ भरते हैं । यदि भाषा न होती तो मानव-हृदय की संवेदनशीलता को कहाँ स्थान मिलता । भाषा ही तो हृदय की समस्त मनुहारों कल्पनाओं को रूप प्रदान करती है । कवि की आकुलता भाषा ही के रूप में तो स्पंदनवती होकर एक ऐसे भाव-रूप का निर्माण करती है जिसमें विश्व-हृदय डूबने-उतराने लगता है । प्रत्येक जाति, देश, एवं राष्ट्र की भाषा में उसका समूचा व्यक्तित्व निखर उठता है । कविता जिसे हम प्राणों का संगीत कहते हैं भाषा के बिना अपने अस्तित्व का निर्माण नहीं कर पाती । इस दृष्टि से कविता भाषा की ऋणी है । पर इस सम्बन्ध में विचार का दूसरा पक्ष भी है । भाषा के जन्म का श्रेय हम कविता को दे सकते हैं । वायु जब तक शांत है तब तक वह शब्द से रहित है, किन्तु वायु का आलोड़न-विलोड़न उसका कम्पन एवं विवर्धन भीषण रव की सृष्टि करता है । झंझा की झकोर, गिरि-कन्दराओं का रोर किसने नहीं सुना ! वायु का यह आत्म-मंथन ही शब्द का कारण बनता है । इसी प्रकार कवि-हृदय का मंथन, उद्वेलन भाषा को जन्म देता है । कवि अपनी कला द्वारा भाषा का शृंगार करता है । कवि काव्य-निर्माण के क्षणों में स्वपरक प्रवृत्ति से ऊपर उठ कर तथा परत्व की अनुभूति में लीन होकर स्वाभाविक वास्तविकता को एक ऐसा रूप प्रदान करता है, जो बड़ा ही मोहक, बड़ा ही आकर्षक एवं बड़ा ही प्रभावोत्पादक प्रतीत होता है, जिसको देख कर प्रत्येक सहृदय मानव आत्मविस्मृत होकर उसी रूप में लीन हो जाता है । इसे हम कवि की एक विशिष्ट सृजनात्मक शक्ति कहेंगे । कविता का कृतित्व भाषा की इसी क्रियाशीलता में है । कवि अपनी कविता में भाषा के माध्यम से पार्थिव जगत की नित्य वास्तविकता की उपेक्षा न करता हुआ विस्मय-विमुग्धकारिणी अलौकिकता की सृष्टि करता है ।

काव्य-जगत का यह सत्य प्रत्येक कवि के जीवन का सत्य है । स्पष्ट है कि प्रत्येक कवि अपने वैयक्तिक रूप में ही काव्य-सृष्टि करता है । इसीलिए प्रत्येक कवि की भाषा में उसकी वैयक्तिकता की छाप होती है । पर भाषा वैयक्तिक होकर भी सार्वभौम बनती है । महर्षि वाल्मीकि की कविता में उनकी अपनी वैयक्तिकता की छाप है, किन्तु उनकी रचना लोक-हृदय की रचना है । कालिदास, वाण, भवभूति सब अपने-अपने ढंग से अपनी भावराशि को व्यक्त करते हैं । सूर के पद, तुलसी की

1· Language is neither root nor trunk, but flower and fruit of social life.

—The Spirit of language in civilization Page, 187.

चौपाइयाँ, बिहारी के दोहे, भूषण, देव और पद्माकर के छन्द सभी कृतिकार की विशिष्टताओं से युक्त हैं । कोई लाक्षणिकता का सहारा ले रहा है तो कोई व्यंजना का और कोई रूपक, उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं के माध्यम से अपनी अभिव्यक्तियों को तीव्रता प्रदान कर रहा है । पर इन समस्त वैयक्तिक रूपों की यह विशेषता है कि लोक-जीवन की अनुभूति इन सब में समाई हुई है । इसलिए हम कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की सहगामिनी भाषा लोक-जीवन को साहचर्य सुख प्रदान करती है । भाषा का यह रूप अनित्य होते हुए भी शाश्वत् है । दिग् और काल के बन्धनों से जकड़ा हुआ भी उन्मुक्त आत्मा के पंखों से अलंकृत है । साधारणत: समस्त से सीमित पर कल्पना की उड़ान से भी परे हैं । जीवन की अनेक–रूपताओं एवं विश्रृंखलताओं के रोमाँचकारी असीम में विहरणशीला होती हुई भी व्यक्ति से, उसके स्व से शासित तथा शास्त्रीय सृजनात्मक इच्छा से परिवेष्टित है । वह अपने में स्थिर भी है, चिन्तन में लीन भी है पर समस्त बन्धनों से परे हैं । कविता का स्वरूप ग्रहण करने वाली भाषा वह सूर्य है जिसकी प्रकाश-रश्मियां अनन्त दिशाओं में विकीर्ण होती रहती हैं ।

भाषा और धर्म

अति प्राचीनकाल से धर्म की भाषा और काव्य की भाषा के बीच एक सम्बन्धसूचक मान्यता चली आ रही है । हमारा प्राचीन साहित्य काव्यमय है । धर्म का विवेचन भी कविता में हुआ है । इसलिए धर्म एवं काव्य की भाषा को एक ही समझा जाने लगता है । तात्विक दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है, अन्तर केवल उनके क्रियात्मक रूप में प्रकट होता है । काव्य जब अपनी गहनता और तीव्रता के कारण जीवन में समा जाता है तब वही धर्म बन जाता है और धर्म जब जीवन के तल से केवल छितराते हुए निकल जाता है तब उसे काव्य की संज्ञा प्राप्त होती है ।

धर्म की भाषा का सबसे प्रथम गुण है, उसका उद्भावक होना । धार्मिक ग्रन्थों में पाये जाने वाले प्रार्थना के मन्त्र, स्तोत्र आदि को पढ़कर हृदय में एक प्रकार की विशेष भाव-दशा की उद्भावना होती है । उस भाषा में भाव मानों मूर्तरूप धारण कर लेता है । फलत: श्रोता एवं पाठक उसमें एक विशिष्ट प्रकार की तल्ली-नता प्राप्त करता है । धार्मिक भाषा का दूसरा प्रकार नाटकीय होता है । इसे हमें इच्छा और क्रिया की भाषा भी कह सकते हैं । इस नाटकीय भाषा में दन्तकथाओं के अन्तर्गत आने वाले सभी तत्वों का समावेश हो जाता है । प्राचीन काल में प्राकृतिक घटनाओं एवं मानवीय वृत्तों की अभिव्यक्ति पौराणिक ढंग मिथिकल (Mythical) से होती थी । पौराणिकता की वृत्ति से जो हमें उपलब्धि होती है, उसकी तुलना वैज्ञानिक उपलब्धियों से नहीं की जा सकती । पौराणिकता में एक प्रकार का रूपक-विधान उपमान-योजना आदि सन्निहित होती हैं, पर विज्ञान की अभिव्यक्ति इस से नितान्त भिन्न है । पौराणिक वृत्तों की सृष्टि का अर्थ जातीय जीवन में आध्यात्म का

शब्द सामने आ जाते हैं तब व्यक्ति का समस्त व्यक्तित्व प्रत्यक्ष हो उठता है और जैसे रेडियो, टेलीफोन आदि किसी समाज की सभ्यता का परिचय देते हैं उसी प्रकार भाषा भी किसी व्यक्ति अथवा समाज की सभ्यता के रूप को व्यक्त करती है। जिस प्रकार सभ्यता का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है उसी प्रकार भाषा का भी। स्पष्ट है कि व्यक्ति का ढाँचा नाद नहीं करता, नाद करने वाली–भाषा के स्वरूप का निर्माण करने वाली तो उसकी आत्मा है। ज्यों-ज्यों आत्मा का विकास होता जाता है त्यों-त्यों भाषा भी गतिमान होती जाती है। इस प्रकार भाषा वास्तविकता और उसके परे के प्रसार में एक आन्दोलित गति के रूप में है। यह सदैव नवीनाति-नवीन रूपों में अपने को प्रकट करने के लिए मचलती रहती है।

भाषा की एक आध्यात्मिक इकाई भी है जिससे समस्त विश्व में एक प्रकार की भावानुभूति को व्यक्त करने वाली ध्वनियों में साम्य एवं सानुकूलता के दर्शन होते हैं।

जिस प्रकार सभ्यता का विकास समुदाय की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार भाषा भी समाज की अपेक्षा रखती है। एक व्यक्ति चाहे कितनी ही स्थितियों और संकेतों द्वारा अपने को व्यक्त करे, पर भाषा का निर्माण नहीं कर सकता, स्वयं ब्रह्म भी, भले ही वह अपने से संवाद कर ले, परन्तु वह भाषा को जन्म नहीं दे सकता। भाषा का अभिप्राय अथवा उसका क्षेत्र कुछ भी हो, उसके जन्म के लिए अनेक व्यक्तियों का होना अपेक्षित है, क्योंकि व्यक्ति ही भाषा के स्वरूप को संवहन कर सकते हैं। भाषा एक प्रकार से मानवों के बीच प्रतिष्ठित एक परम्परा है। सभ्यता भी मानव-जाति को एक परम्परा के रूप में प्राप्त होती है। मानव की भाषा ही सभ्यता की परम्परा को अक्षुण्ण रखती हुई उसके भावी रूप का अभिनव शृंगार करने में सक्षम होती है।

भाषा और प्रकृति

भाषा वैज्ञानिकों ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते समय यह निश्चित किया कि प्राकृतिक क्रियाओं के अनुकरण के आधार पर कतिपय शब्दों का निर्माण हुआ। उदाहरणार्थ पेड़ से पत्ता गिरा और पत् की ध्वनि हुई। उसी ध्वनि के आधार पर 'पत्ता' शब्द बना, झरने का झर-झर करके गिरना ही झरने शब्द के निर्माण का मूल हेतु है। इस से यह निष्कर्ष निकाला गया कि भाषा प्रकृति में समाई हुई है और यह विचार इतना अधिक पुष्ट होता गया कि भ्रमवश लोगों ने भाषा को प्रकृति का ही एक अंग मान लिया। कतिपय विचारकों का यह मत है कि जलवायु और प्रकृति भाषा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते, उन्हें यह मानने में भी कदाचित आपत्ति हो सकती है कि विभिन्न जातियों तथा उनकी भाषा से कोई नैसर्गिक सम्बन्ध है। भाषा की धुरी देशों तथा विभिन्न वातावरणों पर टिकी नहीं

रहती । उसका घरों तथा जनपदों से भी कोई सम्बन्ध नहीं है, जातियों और दलों के दलदल में वह नहीं फँसती ।[1] इस कथन से इतना ही तात्पर्य ग्रहण किया जा सकता है कि भाषा का प्राण उसके उचित प्रयोग में है । उसका प्रयोग ही उसके विकास का एकमात्र मूल हेतु है । भौगोलिक परिस्थितियाँ, परिवार, समाज आदि उसे प्रभावित कर सकते हैं । स्पष्ट है कि यह प्रभाव सत् और असत् दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं किन्तु ये प्रभाव अपना काम तभी करते हैं, जब वे भाषा के अन्तराल में प्रविष्ट हो सकें । प्रयोग की गतिमयता के कारण ही भाषाएँ जड़ पकड़ती हैं । जिस भाषा का प्रयोग मन्द पड़ जाता है वे भाषाएँ कालान्तर में केवल ऐतिहासिक उल्लेख की वस्तु रह जाती हैं । इसके प्रतिकूल जिन भाषाओं का निरन्तर प्रयोग होता रहता है, उनके बोलने वाले इतस्तत: घूमते-फिरते हैं, वे भाषायें नित्य नूतन समृद्धि को प्राप्त करती हैं और समुन्नत हो जाती हैं । अस्तु भाषा का प्रयोग ही उसकी प्रेरक शक्ति है । ऊपर हमने भाषा के ऐतिहासिक उल्लेख की बात कही है । भाषा इतिहास की सम्पत्ति बन कर पूर्णत: मृत नहीं हो जाती, प्रयोग के अभाव में वे विस्मृत अवश्य हो जाती हैं; पर वे अपने धूमिल भूतकाल के प्रान्तर से किसी न किसी रूप से प्रचलित भाषाओं का सम्पर्क प्राप्त कर लेती हैं । जिन्हें हम मृत भाषा कहते हैं उनके कोई न कोई शब्द तत्सम या तद्भव रूप में प्रचलित भाषाओं में पाये जाते हैं । भाषाओं की यह प्रकृति हमें इस तथ्य को मान लेने के लिये प्रेरित करती है कि कोई भी भाषा कभी मृत नहीं होती । सामान्यत: यह कहा जा सकता है कि किसी भी प्रयोग में आने वाली भाषा का आरम्भ और अन्त होना ही चाहिए । वस्तुत: भाषा की गति अबाध है । वह सृष्टि के आरम्भ से चल कर अन्त तक चलती चली जायगी । भाषा की अबाध धारा में परिवर्तन के नाना आवर्तों का पड़ना स्वाभाविक है । मर्त्यों का यह संसार भाषा के नैसर्गिक स्वरूप का पता भले ही न लगा सके, पर वह प्रकृति की सहचरी होने के कारण शब्दों और वाक्यों के रूप में अपना निरन्तर विकास करती रहती है ।

भाषा सम्पूर्ण प्रकृति में एक सम्राज्ञी के रूप में विराजमान है, विश्व की समस्त ललित भाषायें उसकी महिमामयी गोद में समाई हुयी हैं । नृत्य शारीरिक

1. "In the light of modern science no one dares to believe that climate and the nature of the soil have any influence on the speech of man. Nor has it ever been proved that there is a necessary natural connection between races and their language forms. The centre of gravity of a language does not lie in countries and climate, nor in houses and settlements. Nor in the animal groupings and species of man."

—The Spirit of Language in civilization–Page.81.

संकेतों की भाषा है, संगीत नाद की विज्ञानमयी भाषा है, चित्रकला रंगों और रेखाओं का मुखर संलाप है, स्थापत्य कला आदि ठोस जड़ पिण्डों के भीतर से आती हुई भाषा की गूंज है और कविता तो भाषाओं की भी भाषा है। प्रतिदिन के बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले शब्द अथवा नाद, लय अथवा ताल हमारे भावों और इच्छाओं के अनुचर हैं। ये सब प्रयोग द्वारा शासित होते हैं। प्रयोगों की विभिन्नता उनके रूप व्यापार की विभिन्नता बना करती है। कविता में वे एक अत्यधिक बलवती प्रेरणा के रूप बन जाते हैं। पिंगल और प्रयोग इनकी सीमा का निर्धारण करते हैं। काव्य अथवा कला का जितना भी शास्त्रीय विवेचन हुआ है उन सब में इस तथ्य को सर्वत्र स्वीकार किया गया है कि कविता प्रकृति की अनुकृति है। प्रकृति और जिसकी अनुकृति में कलाकार अथवा कवि सुख मानता है वह वस्तुतः उसकी मातृभाषा का संगीत और संलाप है। उसी का गर्जन, उसी की गुनगुनाहट, उसी की लय और उसी की तान है। इन्हीं सब का आरोह एवं अवरोह वाणी के रूप में वह अपने चतुर्दिक सुनता-सुनाता आया है।

मानव का निर्माण प्रकृति के उपादानों से हुआ है। वह प्रकृति के ही उन्मुक्त वातावरण में अपनी आँखें खोलता है, प्रकृति के ही विभिन्न उपकरण उसका लालन-पालन एवं संवर्धन करते हैं और अन्ततोगत्वा एक दिन वह अपने समस्त भौतिक-स्थूल रूप को प्रकृति को ही सौंप देता है। इस प्रकार प्रकृति और मानव का परस्पर घनिष्ट संबंध है। प्रकृति ही उसे उसके भावजगत, कल्पनाजगत और उसकी भाषा का निर्माण करती है। इस प्रक्रिया में हम प्रकृति, मानव और उसकी कला को संगुंफित पाते हैं। भाषा भावों का संवहन करती है। भावों द्वारा भाषा को बलवती एवं गतिमती बना देने में ही काव्यत्व का साफल्य है। और भाषा का कलेवर भावों के अन्तर को प्रकट कर सके, भाषा-प्रयोगों द्वारा मूर्च्छित चेतनायें पुनः जागरूक हो सकें, तभी कवि-प्रतिभा का मनोरम दर्शन होता है। कविता को भाषाओं की भाषा कहने का यही अभिप्राय है। प्रत्येक भाषा का प्राण उसका काव्यत्व है। वक्ता, कलाकार और कवि भाषा के प्रयोग सम्बन्धी नियमों की अवहेलना कर सकते हैं अवश्य, किन्तु उसकी प्रकृति से दूर नहीं जा सकते। प्रकृति के द्वारा निर्मित भाषा अपना रूप बदल सकती है, किन्तु वह प्रकृति को छोड़ नहीं सकती।

जिस प्रकार आत्मा के बिना मस्तिष्क का अस्तित्व नहीं रह सकता उसी प्रकार धर्मशून्य कविता और कला भी निष्प्राण है। धार्मिकता कविता और कला को वह संजीवनी शक्ति प्रदान करती है जिससे न केवल कविता और कला जीवित रहती है, अपितु दूसरों को भी जीवन-दान दे जाती है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी सदैव स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ कहीं भी कविता और कला के आभ्यंतरिक सौन्दर्य के दर्शन होते हैं वहाँ भाषा की आधारभूत एकरूपता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

धार्मिक व्यक्ति के कानों में प्रत्येक वस्तु की भाषा सुनाई देती है उससे विश्व की प्रत्येक वस्तु, पेड़, प्रस्तर खंड, जड़-जीव सभी संलाप करते हुए प्रतीत होते हैं। केवल मनुष्यों को ही बातचीत का अधिकार नहीं प्राप्त है। धर्म-प्राण व्यक्ति से तो सभी वार्तालाप करते हैं। वह अपनी कविता-कला द्वारा संसार के समस्त स्थावर एवं जंगम पदार्थों को अनुप्राणित करता रहता है उसमें उनकी भाषा को समझने तथा उनके व्यवहार को दूसरों को समझाने की क्षमता है। कवि से तो विश्व का प्रत्येक कण बोलता है। इसीलिए ब्रह्माण्ड का प्रत्येक सत्य उसके लिए भाषा का रूप ग्रहण करता है। भाषा के जन्म का रहस्य आदि मानव की चिन्तन मुद्रा में सन्निहित है। किस प्रकार प्रकृति ने उसे चेतना प्रदान की और प्रकृति से चेतना प्राप्त कर किस प्रकार उसने अपने अन्तस्तल में भावों एवं अनुभूतियों को सँजोया और किस प्रकार उसने प्रकृति से ही प्रेरणा प्राप्त कर भाषा के माध्यम से उन्हें अभिव्यक्त किया—यह सब एक बड़े कौतूहल का विषय है। मानव की जिज्ञासा वृत्ति इस दिशा में कभी पूर्ण तोष नहीं प्राप्त कर पाती, क्योंकि ज्यों-ज्यों मानव का, प्रकृति का विकास होता जाता है त्यों-त्यों भाषा भी विकास को प्राप्त करती जाती है। इसी रूप में भाषा और प्रकृति का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

भाषा और जीवन

किसी भी भाषा का जीवन मानव-जीवन की ही भाँति गतिमान रहता है। यदि मनुष्य कार्य करना बन्द कर दे और उसके शारीरिक अवयव पूर्ण विश्राम की स्थिति में रहें तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब वह साधारण रूप से उठने-बैठने में भी अशक्तता अनुभव करने लगे। उसकी क्रियाशीलता ही उसको सजीव बनाये रखती है। भाषा की भी यही स्थिति है। वह प्रयोग के माध्यम से ही स्पंदन-शीला बन कर अपने रूप का सतत विकास कर सकती है। जिस प्रकार प्रकृति की वनस्थली में कभी पतझड़ आते हैं और कभी वसंत की श्री—सुषमा बन का शृंगार करती है, कभी हिमाच्छादित उत्तुंग शैलमालाएँ हिमांशु की धवल ज्योत्स्ना प्राप्त कर रजत-श्री की सृष्टि करती है और कभी केवल नीरस शिलाखंड ही पर्वतराज की सम्पत्ति बनते हैं, कभी जलधि की उत्ताल तरंगें लाख-लाख अभिलाषाओं से भर कर निशाकर की रश्मियों को चूमने के लिए मचल पड़ती हैं और वही सागर कभी ऐसा प्रशान्त, ऐसा सुस्थिर-समस्त स्पंदनों से हीन, उसी प्रकार कोई भी भाषा सदैव एक रूप नहीं रहती। प्रयोग की अतिशयता ही भाषा का जीवन बनता है। निरन्तर की अबाध-गति ही भाषा का प्राण है। भाषा की सप्राणता का दर्शन उसकी गति-हीनता तथा स्थायित्व के अभाव में है। भाषा—दर्शन जीवित और मृत भाषाओं में किसी प्रकार का भेद नहीं मानता। वह विरोधों और मत-विभिन्नताओं को भी कोई मान्यता नहीं प्रदान करता। विभिन्नतायें तो बहुलता की सृष्टि करती है। इसीलिए भाषा के विभिन्न स्वरूप एक दूसरे से पृथक नहीं हो सकते। उनकी भिन्नता में ही

अभिन्नता के दर्शन होते हैं । जिस प्रकार उठते बादलों में और झरते हुए जल-प्रपातों में एक ही जल के दो भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार भाषा के भी विभिन्न स्वरूप हैं जिनके मूल में एक ही तत्व विद्यमान है । स्वरों का आरोह एवं अवरोह जैसे स्वर के दो रूप व्यक्त करता है वैसे ही भाषा भी अपने कई रूप व्यक्त कर सकती है। विराट् की असीमता, अवाधता और अभेदता की ही भाँति कोई भी भाषा असीम, अबाध और अभेद रहती है और जैसे, विराट् साकार-सुगुण बन कर अपने को सीमित-सा कर देता है वैसे ही भाषा भी हमारी चेतनाओं में सिमिट कर एक क्षणिक प्रकाश-रेखा के रूप में कौंध जाती है ।

भाषा को हम मस्तिष्क की पूर्ण चेतन अवस्था भी मान सकते हैं । जिस प्रकार से चेतन मस्तिष्क नाना क्रिया-कलापों की सृष्टि करता है, उसी प्रकार भाषा भी नादमय होकर सगुण हो जाती है और जैसे सागर की अतल गहराई से उठ कर विराट् लहरें फेनिल परिवेष्टन से परिवेष्टित हो सशब्द एवं साकार हो उठती हैं, वैसे ही भाषा भी मानव के अन्तराल से फेनिल लहरों के रूप में उठ कर साकार बन जाती है । इसी रूप में वह मानव-हृदय की पूर्ण व्याख्या बन जाती है । इसीलिए किसी भी भाषा का इतिहास उसके बोलने वालों के भावों—मानसिक चेतनाओं का इतिहास है । हम किसी भी भाषा को ले लें और उसके विकास का क्रमिक अध्ययन करें तो हम उस भाषा के बोलने वालों के सम्पूर्ण सांस्कृतिक विकास एवं राजनैतिक उपलब्धियों का परिचय पा सकते हैं । भाषा के रूप में मानों हमारा समस्त बिखरा ज्ञान संकलित एवं सजीव हो उठता है । हमारे जीवन के चारों ओर जितना भी प्रसार है वह यद्यपि प्रत्यक्षतः भाषा से भिन्न है, पर सब भाषामय है। जब कभी आवश्यकता होती है तब प्रस्तर अथवा पत्र, शिलाएँ अथवा ताम्रपत्र, पवन अथवा तारतंतु बोलने लगते हैं । ये सभी भाषा द्वारा अनुप्राणित होते हैं और समय आने पर भाषा को सजीव भी बनाते हैं ।[1]

हमारा समुन्नत जीवन हमारे राष्ट्र का गौरव चिह्न है । भाषा इस गौरव को वहन करने वाली—माध्यम बनती है । इस दृष्टि से मानव—जीवन में भाषा का महत्व

1. The stone paper or bronze on which we write, the air and wires through which we speak, the ears with which we hear, our larynxes and vocal cords, nerves and muscles, lungs and hands, even our brains, become language when necessity arises, though in themselves they are something completely different. They allow language attributed to them in their turn give forth language whenever circumstances demand it.

—The Spirit of language in Civilization. Page, 110

और भी अधिक बढ़ जाता है। वस्तुत: भाषा एक विशष मनोदशा है, एक विशेष स्फूर्ति है, एक अमोघ शक्ति है। जिस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र अपनी विशेष शक्ति रखता है उसी प्रकार भाषा भी अपने में एक विशेष क्षमता सँजोए रखती है। बड़े-बड़े विश्वव्यापी विप्लवों के मूल में भाषा की शक्ति कार्य करती रही है और रणचण्डी की दुर्धर्ष मुद्रा को शांत करके उसे परम कल्याणी रूप देने में भाषा की ही अमोघ शक्ति ने कार्य किया है।

जिस प्रकार राष्ट्रों में युद्ध होते हैं उसी प्रकार भाषा-विषयक युद्ध भी देखे जाते हैं। उनमें कभी-कभी तो इर्ष्या और मूर्खता का ही दर्शन होता है। पर ये युद्ध जातीय जीवन की सजगता का प्रमाण भी प्रस्तुत करते है। जीवन स्वत: एक संघर्ष है। कभी हृदय में असत् प्रवृतियां जागरूक होकर युद्ध का रूप रच देती हैं। हृदय का सत् असत् के इस व्यापार के प्रति विद्रोह कर उठता है। इस प्रकार सत् और असत् का संघर्ष छिड़ जाता है। भाषा भी जीवन से सम्बन्धित होने के कारण इस संघर्ष से अछूती कैसे रह सकती है। मानव की महदाकांक्षा अपनी सार्वभौम सत्ता के प्रसार में ही संतोष अनुभव करना चाहती है। भाषा भी इसी वृत्ति का अनुसरण करती है। वह भी सार्वभौतिक चक्रवर्ती साम्राज्य की आकांक्षा रखती है। कालचक्र के माध्यम से मानव-मन की कामनायें जैसे कभी साकार होती हैं और कभी नष्ट होती हैं, उसी प्रकार भाषा का साम्राज्य भी बनता-बिगड़ता रहता है। पर प्रत्येक विनाश न केवल निर्माण का बीज बोता है, अपितु वह अपना ऐतिहासिक अस्तित्व भी किसी न किसी रूप में अक्षुण्ण रखता है। कौन कह सकता है कि आज हम जिस भाषा में जो नाना सूक्तियाँ, लोकोक्तियाँ और कहावतें, उपमायें और रूपक प्रयुक्त कर रहे हैं वे सब नितान्त नवीन हैं। यह सब भाषा-कानन की भूमि में गिरे हुये बीज हैं जो उगते और बढ़ते हुए सुदीर्घ काल से चले आ रहे हैं। इस क्रम की एक परम्परा-सी लगी हुई है।

जिस प्रकार समाज क्रमिक विकास करता जाता है उसी प्रकार भाषा भी धीरे-धीरे अपना विकास करती है। मानव अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं के कारण एक दूसरे के सम्पर्क में आता है। यह सम्पर्क ही भाषा के विकास का हेतु बनता है। पहले मनुष्य भी पशुओं जैसी स्थिति में था, किन्तु धीरे-धीरे उसने अपनी आवश्यकताओं के आधार से वस्तुओं का संग्रह किया और उनका नामकरण किया। भावों और विकारों के विभिन्न रूप उपस्थित हुए और उनका आदान-प्रदान भी हुआ। उसके जीवन की इस प्रक्रिया में भाषा का योग अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। स्पष्ट है कि भाषा का यह योग प्रारम्भ में अस्थिर, धूमिल-सा रहा होगा। पर धीरे-धीरे उसमें स्थिरता आई होगी। यह स्थिति उसी प्रकार है जिस प्रकार क्रमिक विकास के उपरान्त ही आध्यात्मिक-स्थिति प्राप्त होती है। यदि सामाजिक जीवन

एक वृक्ष के रूप में है तो भाषा उसका फूल और फल है ।[1]

भाषा और कविता

भाषा मानव के भावों का साकार रूप है। मानव के विचार-शिशु भाषा के रूप में ही थिरकते हैं, किलकारियाँ भरते हैं । यदि भाषा न होती तो मानव-हृदय की संवेदनशीलता को कहाँ स्थान मिलता । भाषा ही तो हृदय की समस्त मनुहारों कल्पनाओं को रूप प्रदान करती है । कवि की आकुलता भाषा ही के रूप में तो स्पंदनवती होकर एक ऐसे भाव-रूप का निर्माण करती है जिसमें विश्व-हृदय डूबने-उतराने लगता है । प्रत्येक जाति, देश, एवं राष्ट्र की भाषा में उसका समूचा व्यक्तित्व निखर उठता है । कविता जिसे हम प्राणों का संगीत कहते हैं भाषा के बिना अपने अस्तित्व का निर्माण नहीं कर पाती । इस दृष्टि से कविता भाषा की ऋणी है । पर इस सम्बन्ध में विचार का दूसरा पक्ष भी है । भाषा के जन्म का श्रेय हम कविता को दे सकते हैं । वायु जब तक शांत है तब तक वह शब्द से रहित है, किन्तु वायु का आलोड़न-विलोड़न उसका कम्पन एवं विवर्धन भीषण रव की सृष्टि करता है । झंझा की झकोर, गिरि-कन्दराओं का रोर किसने नहीं सुना ! वायु का यह आत्म-मंथन ही शब्द का कारण बनता है । इसी प्रकार कवि-हृदय का मंथन, उद्वेलन भाषा को जन्म देता है । कवि अपनी कला द्वारा भाषा का श्रृंगार करता है । कवि काव्य-निर्माण के क्षणों में स्वपरक प्रवृत्ति से ऊपर उठ कर तथा परत्व की अनुभूति में लीन होकर स्वाभाविक वास्तविकता को एक ऐसा रूप प्रदान करता है, जो बड़ा ही मोहक, बड़ा ही आकर्षक एवं बड़ा ही प्रभावोत्पादक प्रतीत होता है, जिसको देख कर प्रत्येक सहृदय मानव आत्मविस्मृत होकर उसी रूप में लीन हो जाता है । इसे हम कवि की एक विशिष्ट सृजनात्मक शक्ति कहेंगे । कविता का कृतित्व भाषा की इसी क्रियाशीलता में है । कवि अपनी कविता में भाषा के माध्यम से पार्थिव जगत की नित्य वास्तविकता की उपेक्षा न करता हुआ विस्मय-विमुग्धकारिणी अलौकिकता की सृष्टि करता है ।

काव्य-जगत का यह सत्य प्रत्येक कवि के जीवन का सत्य है । स्पष्ट है कि प्रत्येक कवि अपने वैयक्तिक रूप में ही काव्य-सृष्टि करता है । इसीलिए प्रत्येक कवि की भाषा में उसकी वैयक्तिकता की छाप होती है । पर भाषा वैयक्तिक होकर भी सार्वभौम बनती है । महर्षि वाल्मीकि की कविता में उनकी अपनी वैयक्तिकता की छाप है, किन्तु उनकी रचना लोक-हृदय की रचना है । कालिदास, वाण, भवभूति सब अपने-अपने ढंग से अपनी भावराशि को व्यक्त करते हैं । सूर के पद, तुलसी की

1· Language is neither root nor trunk, but flower and fruit of social life.

—The Spirit of language in civilization Page, 187.

चौपाइयाँ, बिहारी के दोहे, भूषण, देव और पद्माकर के छन्द सभी कृतिकार की विशिष्टताओं से युक्त हैं। कोई लाक्षणिकता का सहारा ले रहा है तो कोई व्यंजना का और कोई रूपक, उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं के माध्यम से अपनी अभिव्यक्तियों को तीव्रता प्रदान कर रहा है। पर इन समस्त वैयक्तिक रूपों की यह विशेषता है कि लोक-जीवन की अनुभूति इन सब में समाई हुई है। इसलिए हम कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की सहगामिनी भाषा लोक-जीवन को साहचर्य सुख प्रदान करती है। भाषा का यह रूप अनित्य होते हुए भी शाश्वत् है। दिग् और काल के बन्धनों से जकड़ा हुआ भी उन्मुक्त आत्मा के पंखों से अलंकृत है। साधारणत: समस्त से सीमित पर कल्पना की उड़ान से भी परे हैं। जीवन की अनेक–रूपताओं एवं विश्रृंखलताओं के रोमाँचकारी असीम में विहरणशीला होती हुई भी व्यक्ति से, उसके स्व से शासित तथा शास्त्रीय सृजनात्मक इच्छा से परिवेष्टित है। वह अपने में स्थिर भी है, चिन्तन में लीन भी है पर समस्त बन्धनों से परे हैं। कविता का स्वरूप ग्रहण करने वाली भाषा वह सूर्य है जिसकी प्रकाश-रश्मियां अनन्त दिशाओं में विकीर्ण होती रहती हैं।

भाषा और धर्म

अति प्राचीनकाल से धर्म की भाषा और काव्य की भाषा के बीच एक सम्बन्धसूचक मान्यता चली आ रही है। हमारा प्राचीन साहित्य काव्यमय है। धर्म का विवेचन भी कविता में हुआ है। इसलिए धर्म एवं काव्य की भाषा को एक ही समझा जाने लगता है। तात्विक दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है, अन्तर केवल उनके क्रियात्मक रूप में प्रकट होता है। काव्य जब अपनी गहनता और तीव्रता के कारण जीवन में समा जाता है तब वही धर्म बन जाता है और धर्म जब जीवन के तल से केवल छितराते हुए निकल जाता है तब उसे काव्य की संज्ञा प्राप्त होती है।

धर्म की भाषा का सबसे प्रथम गुण है, उसका उद्‌भावक होना। धार्मिक ग्रन्थों में पाये जाने वाले प्रार्थना के मन्त्र, स्तोत्र आदि को पढ़कर हृदय में एक प्रकार की विशेष भाव-दशा की उद्‌भावना होती है। उस भाषा में भाव मानों मूर्तरूप धारण कर लेता है। फलत: श्रोता एवं पाठक उसमें एक विशिष्ट प्रकार की तल्लीनता प्राप्त करता है। धार्मिक भाषा का दूसरा प्रकार नाटकीय होता है। इसे हमें इच्छा और क्रिया की भाषा भी कह सकते हैं। इस नाटकीय भाषा में दन्तकथाओं के अन्तर्गत आने वाले सभी तत्वों का समावेश हो जाता है। प्राचीन काल में प्राकृतिक घटनाओं एवं मानवीय वृत्तों की अभिव्यक्ति पौराणिक ढंग मिथिकल (Mythical) से होती थी। पौराणिकता की वृत्ति से जो हमें उपलब्धि होती है, उसकी तुलना वैज्ञानिक उपलब्धियों से नहीं की जा सकती। पौराणिकता में एक प्रकार का रूपक-विधान उपमान-योजना आदि सन्निहित होती हैं, पर विज्ञान की अभिव्यक्ति इस से नितान्त भिन्न है। पौराणिक वृत्तों की सृष्टि का अर्थ जातीय जीवन में आध्यात्म का

संकेत करना होता है। विज्ञान केवल मूलभूत वस्तुओं को लेकर उनकी व्याख्या करता है, क्यों और कैसे का उत्तर देता है, जब कि धर्म अथवा पौराणिकता मानव के अन्तस्तल का परिष्कार करके उसे दैवी संकेत प्रदान करता है। इसी से विज्ञान की भाषा धार्मिक भाषा से भिन्न हो जाती है।

धर्म का आधार है विश्वास। अतः धर्म की भाषा भी अपने में एक बहुत बड़ा विश्वास लेकर चलती है। विश्वास की स्थिति में एक बड़ी निष्ठा आ जाती है। यह निश्चयात्मिकता की वृत्ति एक उल्लास की सृष्टि करती है जिससे गीत बनता है। धार्मिक अभिव्यक्तियों की गीतात्मक शैली का यही एक कारण है। विश्वास की भूमिका में जब हृदय सहज उल्लास का अनुभव करता है, तो उसकी वृत्ति अभिनयात्मक हो जाती है और यह अभिनयात्मक भाषा के माध्यम से व्यक्त होने लगती है।

धर्म तत्व जैसा शब्द से ही स्पष्ट है ईश्वर के सम्बन्ध की चर्चा उपस्थित करता है और ईश्वर सम्बन्धी कोई भी बात गणनात्मक एवं तार्किक रूप में प्रस्तुत नहीं की जा सकती इसी से धर्म की भाषा में काव्यात्मकता होती है।

वैज्ञानिक प्रकृति और मानव-जीवन की जो व्याख्या करता है वह कवि की व्याख्या से भिन्न होती है। कवि और मानव-प्रकृति दोनों के गहन अन्तराल में प्रवेश कर ऐसे स्वरूपों की उद्भावना करता है जो वैज्ञानिक की शक्ति के परे हैं और जब धर्म का वर्णन काव्य के रूप में होने लगता है अथवा यों कहें कि जब धर्म तत्व की उद्भावना करता है तो वह वैज्ञानिक एवं कवि दोनों से ही आगे बढ़ जाता है। वैसे साधारणतः कवि और वैज्ञानिक दोनों ही तथ्यों के निरूपण में प्रतीकों का प्रयोग करते हैं पर एक धार्मिक व्यक्ति अपने निरूपण में कुछ ऐसी बातें सामने लाता है जो वैज्ञानिक एवं कवि दोनों ही की पकड़ से बाहर रह जाती हैं और वह उस बात को एक अनोखी भाषा एवं विशिष्ट प्रतीकों के माध्यम से प्रकट करता है। धर्म की भाषा कुछ ऐसी बात की अभिव्यक्ति करती है जो और किसी प्रकार की भाषा में सम्भव नहीं हो सकती। निश्चय ही धार्मिक व्यक्ति दैवी शक्ति से सम्पन्न होकर एक दूसरे के मर्म को सहज ही समझ लेते हैं और इस रूप में अपने को व्यक्त करते हैं जिससे सम्पर्क में आने वाले उनकी ओर सहज ही खिंच जाते हैं।

आ-हिन्दी भाषा का विकास

कोई भी भाषा किसी एक दिन, एक मास और एक वर्ष क्या, दस-बीस वर्षों की भी कृति नहीं होती है। वह जन-जीवन से अनुप्राणित होती हुई शताब्दियों में अपना रूप निश्चित कर पाती है। भाषा-विकास का यह क्रमिक रूप साधारणतः समझ में नहीं आता है। सामान्यतः लोगों का उस ओर ध्यान भी नहीं जाता है। भाषा के सुदूर अतीत और वर्तमान का तुलनात्मक अध्ययन ही उसकी प्रारम्भिक

अवस्था और विकसित रूप के बीच का अन्तर स्पष्ट करता है ।

भाषा-विकास-क्रम में स्थानीय प्रभाव विशेष महत्व रखते हैं। प्राय: यह देखा गया है कि एक ही परिवार की भाषाओं में स्थान की दृष्टि से क्रमश: अन्तर पड़ता जाता है। यह अन्तर प्रारम्भ में दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरणार्थ पेशावर से कलकत्ता तक यदि कोई व्यक्ति धीरे-धीरे चले तो भाषा संबंधी विविध भेद संभव है, उसे प्रतीत ही न हों। पेशावर और उससे पांच कोस इधर की भाषा लगभग समान रूप वाली है। लाहौर तक आते-आते कुछ अन्तर प्रतीत होने लगता है। यह अन्तर उस समय अधिक स्पष्ट होता है जब हम लाहौर के चतुर्दिक प्रसरित गांवों की बोली की पेशावर के आसपास प्रचलित बोली से तुलना करते हैं। कुरुक्षेत्र के आसपास की बोली इससे और भी भिन्न है। परन्तु ये सब बोलियाँ आपस में एक दूसरे से इतनी संबद्ध हैं कि उनका अन्तर विशेषत: उच्चारण से ही जाना जा सकता है। पूर्व की ओर और भी आगे यदि हम वंग प्रदेश की यात्रा करें तो भी भाषा-भेद बढ़ता तो जायगा, परन्तु अपनी शृंखला का परित्याग नहीं करेगा। इसका कारण पेशावर से कलकत्ते तक बोली जाने वाली बोलियों का एक परिवार से सम्बद्ध होना ही है, परन्तु कलकत्ते और पेशावर की बोलियों में कितना अन्तर है, यह उस व्यक्ति के लिए विस्मयकारी ही होगा जो पेशावर से चल कर बीच में कहीं भी विराम न लेते हुए सीधे कलकत्ते के अंचल में प्रवेश करे।

स्थान और काल के अतिरिक्त भाषागत भेद आकृति पर भी अवलम्बित हैं। भाषा प्रथम व्यासरूप है या समासरूप, इसका निर्णय भाषा वैज्ञानिक अद्यावधि नहीं कर सके। परन्तु जिन बोलियों का साहित्यिक रूप समाप्त हो जाता है, उनके ग्रामीण एवं शिष्टरूप में अन्तर आ जाता है। संस्कृत की जननी वैदिक भाषा है, परन्तु वैदिक भाषा में जिस प्राकृत शब्दावलि के दर्शन होते हैं, वह संस्कृत में नहीं है। प्रयोगों की जो बहुरूपता वैदिक भाषा में है, संस्कृत में उसका भी अभाव है। वैदिक भाषा जितनी प्रसरणशीला है, संस्कृत उतनी ही नियम-बद्ध। आकृति का यह अन्तर स्वयं संस्कृत भाषा के विविधकालीन रूपों में भी दिखाई देता है। वाणकालीन संस्कृत उपनिषद के ऋषियों की संस्कृत से भिन्न है। एक में आर्जव है, तो दूसरी में चमत्कार एवं ओज। संस्कृत की उत्तराधिकारिणी पाली और उसके पश्चात् साहित्यिक पद पर समासीन होने वाली प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के रूपों में भी यही विरूपता दृष्टिगोचर होती है।

जिन अपभ्रंश भाषाओं को हम आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की जननी मानते हैं उनमें परस्पर उतना भेद नहीं है जितना उनकी पुत्रियों में है। शौरसेनी और महाराष्ट्री अपभ्रंश भाषायें एक दूसरे के अधिक निकट हैं। यह नैकट्य मुगलकाल तक चला आया है। परन्तु आज ब्रज तथा मराठी के रूप-वैषम्य को देखकर

कदाचित कोई कह भी न सकेगा कि इनकी जननी इतनी समरूपा थी ।

स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्धचरित' की भूमिका में अपभ्रंश में निहित ब्रज, अवधी एवं खड़ी बोली के जिन मूल बीजों की ओर संकेत किया है, वे वस्तुतः महत्वपूर्ण हैं । उनमें हमें यह स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि प्रारम्भ में बोलियाँ एक दूसरे के अत्यन्त निकट थीं । सम्भव है, यह प्रारम्भिक मेलजोल का ही परिणाम हो, क्योंकि आधुनिक वैज्ञानिक साधनों जैसी बहुलता न होने पर भी उन दिनों काश्मीर, पंचनद, राजस्थान, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, अंग-बंग एवं कलिंग सब एक दूसरे के सम्पर्क में आते थे और एक समान संस्कृति से शासित थे । वर्तमान युग विविधरूपा संस्कृतियों की घोषणा करता है, यद्यपि इतिहास अपने अतीत में इसको कभी मान्यता नहीं देता ।

प्रमाण के लिए यहाँ कतिपय उदाहरण देख लेना युक्ति-संगत प्रतीत होता है। नीचे के उद्धृत पद हेमचन्द्र कृत व्याकरण के हैं–

(१) जेह आसावरि देहा दिन्हउ । सुस्थिर डाहररज्जा लिन्हउ ।
(२) जइ यह रावण जाइयउ दहमुह इक्कु सरीर ।
    जणणि वियंभी चितवइ कवणु पियावउं खीर ।।
(३) उड्डा वियउ वराउ ।
(४) जग दालिद्दिहि डुब्बिऊं बलिबंधणइ मुहिज्ज ।
(५) राणा सव्बे वाणिया जेसलु बड्डउ सेठि ।

ऊपर के इन उद्धरणों में व्रजभाषा के रूपों के स्पष्ट संकेत विद्यमान हैं–

अपभ्रंश रूप		व्रजभाषा रूप
दिन्हउ	—	दीनो
लिन्हउ	—	लीनों
जाइयउ	—	जायो
उड्डावियउ	(उड़ावियो)	उड़ायो
		डूब्यो
बड्डउ	(बड्डो)	बड़ो

नीचे कतिपय ऐसे उदाहरण दिए जा रहे हैं जिनसे अवधी रूपों का संकेत प्राप्त होता है—

(१) दिन्न हत्थु नियगुण कडप्पह जगु ज्झंपियो अवजसिण ।
(२) भुवण वसंत पयठ्ठ ।
(३) मह सग्गयस्स वि पिट्ठि लग्ग ।

अपभ्रंश		अवधी भाषा-रूप
दिन्नु	—	दीन
पयट्ठ	(पैठा)	पैठ
लग्ग	(लगा)	लाग

यहाँ पर अपभ्रंश भाषा के कतिपय ऐसे पद उद्धृत कर रहे हैं जिनमें खड़ी बोली और पंजाबी भाषा-रूप के संकेत प्राप्त होंगे—

(१) कोहे चलिअ हम्मीर बीर गअजुह संजुते ।
(२) ढोल्ला मारिअ ढिल्लि महं मुच्छिम मेच्छ सरीर ।
(३) कासीसर राणा किअउ पआणा विज्जाहर भण मंतिवर ।

अपभ्रंश	पंजाबी	खड़ी बोली
चलिअ	चल्या	चला
मारिअ	मार्‌या	मारा
पआण	पयाण	प्रयाण

अपभ्रंश भाषा में बैसवाड़ी भाषा-संकेत

१. विणास करु । गिरि हत्थ धरु ।
२. सोउ जुहिट्ठिर संकट पाआ । देवक लेखिअ केण मिटाआ ।

अपभ्रंश	बैसवाड़ी
करु-धरु	किया-धरा (कर-धर)
पाआ	पावा
मिटाआ	मिटावा

अपभ्रंश भाषा में भोजपुरी—मैथली के संकेत

१. वित्तक पूरल मुंदहरा । बरिसा समआ सुक्खकला ।
२. अहिलल‌इ महि चलइ मुअल जिकि उट्ठए ।
३. घर णहि पिअ सुणहि पहिअ मण इछल कहूँ ।

ऊपर के उद्धरणों में पूरल, मुअल तथा इछल शब्द स्पष्टतः भोजपुरी भाषा का रूप व्यक्त करते हैं । ये सब भाषा रूप विक्रम की ११वीं-१२वीं शताब्दि के पूर्व के हैं । इससे स्पष्ट है कि जिसे हम हिन्दी भाषा कहते हैं उसकी मूल-प्रकृति का प्रतिबिम्ब अपभ्रंश भाषा में परिलक्षित होता है । व्रज, अवधी, बैसवाड़ी, खड़ी बोली भोजपुरी आदि भाषा-रूपों के जो सांकेतिक प्रयोग ऊपर व्यक्त किए गये हैं वे इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उस युग की काव्य-भाषा में किसी एक स्थान की भाषा का प्रयोग न होकर सामान्यतः उस भाषा का प्रयोग हुआ है जो अधिकांशतः समस्त

उत्तरापथ में प्रचलित थी। इस प्रकार काव्य की एक सामान्य भाषा का रूप बन गया था जिसमें विभिन्न प्रदेशों के अति प्रचलित शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है।

ऊपर के इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रारम्भ से ही भाषा के दो रूप रहे हैं—एक साहित्यिक भाषा और दूसरी जन-जीवन की भाषा। जन-जीवन में व्यवहृत होने वाली भाषा की संज्ञा प्राकृत रही है। वैदिक युग में जो प्राकृत भाषा थी, उसका रूप 'गाथा' में प्राप्त होता है। आर्यों ने प्राकृत भाषा को प्रादेशिक क्षेत्रों से हटा कर उसे सर्व जन-व्यवहारोपयोगी बनाने की दृष्टि से सँवारा और व्याकरणानुमोदित रूप प्रदान किया। भाषा का यह संस्कृत रूप कालान्तर में सामान्य जन-जीवन से दूर होने लगा। धार्मिक क्षेत्र में महावीर स्वामी और भगवान गौतम बुद्ध के प्रवेश ने जन-सामान्य की भाषा (प्राकृत) को विशेष बल प्रदान किया। प्राकृत भाषा का ही एक रूप पाली बना। भगवान बुद्ध ने जिस प्राकृत को अपनाया उसमें उनकी प्रान्तीयता का प्रभाव होने के कारण उसे मागधी (प्राकृत) कहा गया। बुद्ध के उपदेशों एवं सिद्धान्तों को लेकर साहित्य का जो रूप जिस भाषा में लिपिबद्ध हुआ उसका नाम पाली हुआ। इस प्रकार पाली प्राकृत का ही एक विशिष्ट भेद बन कर आई। उस काल में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में साहित्य-सृजन का कार्य हो ही रहा था अतः जैसा कि पहले कह आये हैं, दूरस्थ स्थानों की भाषा के उच्चरित एवं लिखित रूप में भेद होना स्वाभाविक था। इस प्रकार जो भाषा-विभेद उत्पन्न हुआ, उससे मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री और शौरसेनी भाषा के रूप सामने आए।

इस समय तक प्राकृत भाषा में कई मोड़ आ चुके थे। भाषाशास्त्र के विद्वानों ने इन मोड़ों को पहली प्राकृत, दूसरी प्राकृत और तीसरी प्राकृत कह कर स्मरण किया है। तीसरी प्राकृत के अन्तर्गत उस अपभ्रंश भाषा को लिया गया है जो साहित्यिक प्राकृत के पश्चात् जन-जीवन के बीच बोलचाल की भाषा बनी।[1]

अपभ्रंश भाषा के साहित्यिक रूप ग्रहण कर लेने तथा व्याकरण के नियमों से जकड़ जाने के पश्चात् उसका स्वाभाविक प्रवाह एक दूसरे ही रूप में चलता रहा। यह रूप किन्हीं अंशों में मूल अपभ्रंश से मेल खाता है और किन्हीं अंशों में भारत की आधुनिक भाषाओं से मिलता है। ऊपर प्राकृत के जिन चार भेदों-मगधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री तथा शौरसेनी का उल्लेख किया गया है उनमें से प्रत्येक का अपभ्रंश रूप होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। यथा मागधी अपभ्रंश, अर्द्धमागधी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश और शौरसेनी अपभ्रंश। इन भाषाओं के रूप इस बात को प्रमाणित करते हैं कि भाषा उत्तरोत्तर गतिशीला एवं विकासशीला है। वैयाकरणों ने शौरसेनी अपभ्रंश के तीन रूप माने हैं—नागर, व्राचड और उपनागर।

१. डा॰ श्यामसुन्दर दास—हिन्दी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १४।

विद्वानों का मत है कि इसी नागर (शौरसेनी) अपभ्रंश से हिन्दी की उत्पत्ति हुई। हम यह पहले देख चुके हैं कि किस प्रकार हमारी प्रान्तीय अथवा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के बीजरूप इसी अपभ्रंश में विद्यमान हैं। गुजराती तथा राजस्थानी का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश से, बिहारी, बंगाली, आसामी तथा उड़िया का सम्बन्ध मागधी अपभ्रंश से, पूर्वी हिन्दी का अर्द्ध मागधी अपभ्रंश से और मराठी का सम्बन्ध महाराष्ट्री अपभ्रंश से माना जाता है। इसी प्रकार देश की अन्य बोलियों के सम्बन्ध में भी उनके मूल स्रोत की कल्पना की गई है। भाषा सम्बन्धी यह विवेचन सर जार्ज ग्रियर्सन तथा अन्य अंग्रेजी विद्वानों के आधार पर किया गया है। पर भारतीय विद्वानों का यह मत है कि भारतीय भाषाओं के मूल स्रोत का पता लगाने के लिए पश्चिमी विद्वानों का अनुकरण करना अधिक समीचीन नहीं है।

जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है, स्पष्ट है कि उसका रूप ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में बने अपभ्रंश के ग्रन्थों में पाया जाता है। उसी से हिन्दी-काव्य के भावी स्वरूप का भी अनुमान लगाया जा सकता था। इस प्रसंग में यह दृष्टव्य है कि अपभ्रंश हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य में संस्कृत शब्दों का प्रयोग नहीं पाया जाता। चंद कवि कृत पृथ्वीराज-रासो में जिसकी प्रमाणिकता के संबंध में विशेष ऊहापोह किया गया है, संस्कृत के शब्द प्राप्त होते हैं। कालान्तर में यही हिन्दी ब्रज, अवधी, भोजपुरी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, खड़ी बोली तथा उर्दू के रूप में देश के विभिन्न भागों में पनपी और साहित्यिक रूप में समृद्ध हुई।

हिन्दी शब्द की उत्पत्ति

इसके पूर्व कि हिन्दी की विभिन्न बोलियों और उनकी भाषागत विशेषताओं का संत-साहित्य के संदर्भ में विश्लेषण किया जाय, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि 'हिन्दी' शब्द की उत्पत्ति के विषय में थोड़ा विचार कर लिया जाय। प्रारम्भ में 'हिन्दी' शब्द भाषावाची न होकर केवल स्थानवाची था। बौद्धकाल तक उत्तरी-भारत को जम्बूद्वीप कहा जाता था। आज भी संकल्प पढ़ते समय पंडितगण "जम्बूद्वीपे भरतखण्डे" का प्रयोग करते हैं। फारस के निवासी "सिन्धु" नदी के तटीय-प्रदेश को "हिन्द' कहा करते थे। इसी से 'हिन्द' प्रदेश का रहने वाला 'हिन्दू' कहा जाने लगा। इसी हिन्द से हिन्दी बना, जिसका अर्थ हुआ 'हिन्द प्रदेश का निवासी'। इस प्रकार से भाषा में बहुत शब्द बनते हैं, यथा पंजाब से पंजाबी, सिन्ध से सिन्धी गुजरात से गुजराती आदि। अमीर खुसरो के समय (संवत १३४०–१३८१) में हिन्दी शब्द का प्रयोग भारतीय मुसलमानों के लिए ही होता था। उसने हिन्दू तथा हिन्दी दोनों ही शब्दों का व्यवहार भिन्न-भिन्न अर्थों में किया है। उदाहरणार्थ–

"बादशाह ने हिन्दुओं को तो हाथी से कुचलवा डाला, किन्तु मुसलमान जो

हिन्दी थे, सुरक्षित रहे ।"[1]

इस उद्धरण द्वारा स्पष्ट है कि भारतेतर देशों के मुसलमान भारतीय मुसलमानों को प्रारम्भ में हिन्दी' नाम से ही जानते थे । कालान्तर में उनकी भाषा को भी 'हिन्दी' की संज्ञा प्राप्त हुई । इस भाषा का प्रयोग हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही सम्प्रदायों में होता था ।

साधारणत: हिन्दी शब्द से अभिप्राय है हिन्द देश की भाषा जिसमें भारत में बोली जाने वाली समस्त भाषाएँ सम्मिलित हो सकती हैं । प्रारम्भ में हिन्दी के लिए हिन्दुई, हिन्दवी, हिन्द्वी, दक्खिनी, दखनी या दकनी, हिन्दुस्यानी, हिन्दुस्तानी, खड़ी बोली, रेख्ता, रेख्ती उर्दू आदि का प्रयोग किया गया था, किन्तु बाद में भेद-परक-प्रयोगों की दृष्टि से हिन्दी-उर्दू और हिन्दुस्तानी ये तीन नाम ही अधिक प्रचलित हुए ।

जिस प्रकार किसी पर्वत से निकली हुई जल की एक क्षीण धार मैदान तक आते-आते न जाने कितनी अन्य धाराओं की जल-राशि को अपने में समाहित कर लेती है और तब उसका विस्तार अत्यधिक बढ़ जाता है उसी प्रकार प्रत्येक विकसनशीला भाषा आसपास के भाषा-बोली सम्बन्धी प्रभावों को आत्मसात् करती हुई गतिमान होती है । इस दृष्टि से हिन्दी के लिए यह कहना बड़ा कठिन है कि किसी एक अपभ्रंश (शौरसेनी) का ही इस पर प्रभाव है । हिन्दी के वर्तमान रूप तक आते-आते इसे न जाने कितने मोड़ लेने पड़े हैं । न जाने कितनी उपत्यकाओं, ऊँची-नीची भूमियों, मरुस्थलों, हरे-भरे प्रदेशों में परिभ्रमण करती हुई हिन्दी की यह धारा आज अपने इस रूप को प्राप्त कर सकी है । उसका यह रूप उसकी श्री-सम्पन्नता का द्योतक है और अपने में विभिन्न कारणों के प्रभावों को सँजोए हुए है । इस सम्बन्ध में डा० विश्वनाथ प्रसाद का यह मत दृष्टव्य है—"........हिन्दी में निश्चित रूप से किसी एक ही प्राकृत या अपभ्रंश के रूप और लक्षण न मिलने के कारण उसे उनमें से किसी एक से ही व्युत्पन्न मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता । यूरोप की 'रोमांस' कुल की भाषाओं के समान हिन्दी वस्तुत: संक्रमण की प्रणाली से विकसित हुई है व्युत्क्रमण की प्रणाली से नहीं । उद्योतन सूरि की 'कुवलयमाला' के अनुसार ८वीं-९वीं शताब्दी में कम से कम सोलह प्रादेशिक भाषाएँ या बोलियाँ व्यवहृत थीं । उत्तर में पंजाब और पूर्व में विहार-बंगाल के बीच की भाषायें और वोलियां

1. "whatever live Hindu fell into the king's hands was pounded into bits under the feet of elephants. The Musalmans who were Hindis (Country born), had their lives spared."
—Amirkhosru in Elliot, III, 539.
Hobson—Jobson, Page, 315.

बोल-चाल के रूप में अपनी-अपनी स्थानीय विशेषताओं के बावजूद भी शनैः-शनैः एक समान आदर्श की ओर उन्मुख होती जा रही थीं। ८वीं से १२वीं शताब्दी के अपभ्रंश ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि इसी प्रवृत्ति के कारण उस समय की साहित्यिक भाषा का बहुत कुछ अंशों में आदर्शीकरण हो चुका था और लिखित रूप में उनके स्थानीय भेदों में बहुत अधिक अन्तर नहीं रह गया था। साहित्यिक व्यवहार के लिए एक समान भाषा के रूप में हिन्दी का आविर्भाव उस समय के अपभ्रंश ग्रन्थों में स्पष्टत: परिलक्षित होता है। संक्रमण की इस प्रणाली से हिन्दी भाषा के तथा उसके साहित्य के उदय और विकास के सर्वोष्ट प्रमाण हमें मिलते हैं सिद्ध कवियों की कृतियों में।[1]

हिन्दी शब्द समूह

प्रत्येक सजीव भाषा पर संस्कृति एवं सभ्यता के परम्परागत रूपों का प्रभाव पड़ता रहता है। व्यापारिक उद्देश्य अथवा अन्य कार्यों से एक स्थान से दूसरे स्थान में आवागमन भी भाषा के रूप-विकास में महत्वपूर्ण योगदान करता है। साथ ही भौगोलिक परिस्थितियाँ भी शब्दों के रूप-विन्यास में अपना कार्य करती रहती हैं। किसी भी भाषा के विवेचन में यह भी दृष्टव्य है कि उस भाषा के प्रारंभिक शब्द किस प्रकार बने, किस प्रकार उनमें परिवर्तन हुए, किस प्रकार उनके रूप घिसे, और किस प्रकार संवर्द्धित हुए।

हिन्दी भाषा के वर्तमान रूप में कितनी ही धार्मिक सम्प्रदाय-जनित संस्कृतियाँ समाई हुई हैं। राजनीतिक प्रभावों से प्रभावित रूप भी इसमें देखे जा सकते हैं संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश काल से प्रारम्भ होने वाली हिन्दी-भाषा के विकास में अनेक सम्मिलित प्रभाव कार्य कर रहे हैं। इसमें बहुत से शब्द विशुद्ध संस्कृत भाषा के हैं जो तत्सम शब्दों के रूप में जाने जाते हैं। हिन्दी में ऐसे शब्दों का भी प्रयोग-बाहुल्य है जिसे हम अर्द्ध-तत्सम कह सकते हैं। अर्द्धतत्सम से हमारा तात्पर्य उन शब्दों से है जो मूलत: संस्कृत के शब्द हैं, पर प्राकृत भाषा के शब्दों के साथ प्रयुक्त होने के कारण अपने को प्राकृत प्रभाव से बचा नहीं पाये हैं। हिन्दी में ऐसे शब्दों का भी बाहुल्य है जिन्हें हम तद्भव कहते हैं। तद्भव शब्द वे हैं। जो संस्कृत के शब्दों से बिगड़ कर उससे भिन्न अपना रूप रखते हैं।

हिन्दी में एक बहुत बड़ी संख्या में ऐसे भी शब्द पाए जाते हैं जिन्हें हम देशज कहते हैं। संस्कृत अथवा प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति दी जा सकती है, उनके सम्बन्ध में यह जाना जा सकता है कि वे किस धातु और किस प्रत्यय के योग से बने, किन्तु जब किसी शब्द का वैयाकरणिक उत्पत्ति और उसका उत्पत्ति-मूलक अर्थ न दिया जा सके तब उस शब्द की संज्ञा होगी देशज। यथा पेट, गोड़ आदि।

---

१. हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ० २८५।

भारतवर्ष सुदीर्घ काल तक मुसलमानों के शासन में रहा है। हिन्दू जिनकी भाषा हिन्दी कही जाती थी अधिकांशतः जीविकोपार्जन की दृष्टि से अरबी-फारसी पढ़ते थे। इसलिए शासन के प्रभाव के कारण हिन्दी में उर्दू-फारसी के शब्द एक बहुत बड़ी संख्या में प्रयुक्त हुए। सहर, सर, दो, नौ, पयमाल, वेवा, जौ, साया, (छाया) तथा जामा, वगलबन्दी, पायजामा, रूमाल, तकिया, बिस्तर, मिसरी, शक्कर पायजेब, बाजूबन्द, किसमिस, पिस्ता, बादाम, अनार, जलेबी, अचार, तश्तरी, चमचा इत्यादि कितने ही फारसी के शब्द हिन्दी भाषा में पाये जाते हैं। इसी प्रकार हलाल खालिक, लहू, वारिस, तरीका, हरकत, आब, ख्वार, सुल्तान, इत्यादि अरबी के शब्द तथा गलीचा, चाकू, तमगा, दरोगा, बहादुर, लाश, बेगम, कैंची, सौगात, इत्यादि कितने ही तुर्की शब्द भी हिन्दी में प्रयुक्त होते रहते हैं। अंग्रेजों के शासन के प्रभाव के कारण अगस्त, अप्रैल, अस्पताल, अपील, अफसर, इन्पेक्टर, इन्जीनियर इनकम-टैक्स, स्कूल, ऐजेन्ट, ऐजेन्सी, कांग्रेस, गिलास, गेट गार्ड, टीन, तारकोल, टोटल, डियुटी, दर्जन, नम्बर, पलटन, पम्प, पंचर, लैन्टर्न, बटन, बकस, लेडी, समन, संतरी राशन, ब्लैक आदि कितने ही अंग्रेजी शब्द हिन्दी में बहुलता से प्रचलन प्राप्त किए हुए हैं। हिन्दी में पुर्तगाली शब्दों का भी अभाव नहीं है, यथा अलमारी, आलपीन, कमीज, कमरा, गमला, गारद, गोदाम, तम्बाकू, तौलिया, परात, पिस्तौल, पीपा, फीता, मेज, बोतल आदि।

भारत अपनी विशालता के कारण अनेक प्रदेशों में विभक्त है। प्राय, प्रत्येक प्रदेश अपनी भाषागत विशेषता भी रखता है। हिन्दी अपनी सहज उदारता के कारण विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के शब्दों को स्वीकार करके गतिमान है। हड़ताल (गुजराती) चौथ, पटेल, देशमुख, (मराठी), गमछा, रसगुल्ला, कविराज (वंगला) हाड़ी (कोलभाषा) लुंगी (तिब्बती, बर्मी) आदि शब्द इस तथ्य के प्रमाण हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी में विभिन्न भाषाओं के शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। यह एक ऐसी भाषा है जिसमें दूसरी भाषा के शब्दों को आत्मसात कर लेने की पूर्ण क्षमता है। संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग इस भाषा की विशेषता है।

उर्दू

उर्दू हिन्दी का ही एक दूसरा रूप है। इसका प्रयोग उत्तर भारत के प्रायः समस्त शिक्षित मुसलमान तथा वे व्यक्ति जो मुसलमानों के सम्पर्क में रहे हैं यथा पंजाबी और काश्मीरी आदि, करते हैं। प्रारम्भ में उर्दू शब्द का अर्थ शाही पड़ाव लिया जाता था। उसका प्रयोग किला के अर्थ में भी हुआ है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उर्दू शब्द-भारतवर्ष में बाबर के समय में आया और तभी से दिल्ली का राजभवन "उर्दू-ए-मुअल्ला" के नाम से जाना जाने लगा। उर्दू-ए-मुअल्ला का अर्थ होता है महान शिविर। इस दरबार में जिस मिश्रित भाषा का प्रयोग होता था उसे

"जबाने उर्दू" कहा जाता था। कालान्तर में केवल उर्दू शब्द रह गया।[1]

उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्वर्गीय चन्द्रबली पाण्डेय ने 'उर्दू के रहस्य', 'उर्दू का उद्गम' और 'उर्दू की जबान' आदि पुस्तकों में विशेष रूप से विचार किया है। उन्होंने इस विषय में अपनी पुस्तक 'भाषा का प्रश्न' में दरिया ताफत का एक महत्वपूर्ण उद्धरण देते हुए स्पष्ट किया है कि—"शाहजहानबाद में खुशबयान लोगों ने एकमत होकर अन्य अनेक भाषाओं से दिलचस्प शब्दों को जुदा किया और कुछ शब्दों तथा वाक्यों में हेर-फेर करके दूसरी भाषाओं से भिन्न एक अलग नई भाषा ईजाद की और उसका नाम उर्दू रख दिया।'

व्याकरणिक रूपों के विचार से हिन्दी और उर्दू में अधिकांशत: साम्य प्रतीत होता है। हिन्दी भाषा में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है, किन्तु उर्दू की यह विशेषता है कि यद्यपि वह भारत में उत्पन्न हुई पर उसे प्रेरणा ईरान और अरब से प्राप्त होती है। बाहर से आने वाले इस्लाम धर्माव-लम्बियों ने भारतीय लोगों से भावों का आदान प्रदान करने के लिए यह आवश्यक समझा कि यहाँ की भाषा को सीखा जाय। अस्तु केन्द्र-स्थान दिल्ली तथा उसके आस-पास की भाषाओं को (लिपि को नहीं) उन्होंने सीखा और उसका व्यवहार करना भी प्रारम्भ कर दिया। इस प्रयास में वे अपनी मूल भाषा के शब्दों को समग्रत: हटा न सके और कदाचित् ऐसा सम्भव भी न था। उनके द्वारा उनकी अपनी ही लिपि में भाषा का जो मिलाजुला रूप बना वही उर्दू के नाम से जाना गया। प्रारम्भ में यह उर्दू भाषा उत्तरी भारत के पढ़े-लिखे मुसलमानों की भाषा बनी और धीरे-धीरे शासकीय प्रभाव के कारण इस भाषा का जन-जीवन में भी प्रवेश हो गया। उर्दू के सम्बन्ध में एक मत तो यह है कि उस पर दिल्ली की खड़ी बोली का प्रभाव अधिक है। दूसरा मत यह है कि "दिल्ली में आने पर मुसलमान शासक इसे अपने साथ ही लाए थे। खड़ी बोली के प्रभाव से इसमें बाद में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए, किन्तु इसका मूलाधार पंजाबी को मानना चाहिए, खड़ी बोली को नहीं। इस संबंध में अंग्रेज विद्वान ग्राहमवेली महोदय का सबसे बड़ा तर्क यह है कि दिल्ली को शासन केन्द्र बनाने के पूर्व एक हजार से बारह सौ ईस्वी (लगभग दो सौ वर्ष) तक मुसल-मान पंजाब में रहे। उस समय वहाँ की जनता से संपर्क में आने के लिए उन्होंने

1. "The word Urdu in the sense of royal camp, came in to India probably with Babar and the royal residence at Delhi was styled Urdu.i-Mualla the sublime camp The mixed language which grew up in the court and camp was called Zaban-i-urdu," The camp language and hence behave eliptically urdu".

—Hobson-Jobson, Page 488.

कोई न कोई भाषा अवश्य सीखी होगी, और यह भाषा तत्कालीन पंजाबी ही हो सकती है ।[1]

यहाँ पर उर्दू के प्रश्न को लेकर हमें नहीं उलझना है और यह प्रश्न इस स्थल पर अप्रासंगिक भी होगा । हाँ, इतना जान लेना आवश्यक है कि उर्दू का व्याकरण अरबी-साँचे पर ढला है । यद्यपि भाषा के प्रमुख आधार क्रियापद, सर्वनाम एवं कारक चिह्न सब के सब हिन्दी के ही हैं । उर्दू भाषा जो उत्तर भारत में हिन्दी तथा रेख्ता नाम से जानी जाती थी, दक्षिण प्रदेश में जाकर दक्षिणी (दक्खिनी) नाम से प्रचलित हुई । यहाँ पर हिन्दी का किंचितमात्र भी प्रचार न होने के कारण इसमें फारसी के शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग हुआ । उर्दू लेखकों ने भारत की सुरम्य वसुन्धरा में रहते हुए भी प्रेरणा फारसी साहित्य से ही ली । उनकी उपमान-योजना समग्रतः फारसी शैली पर ही संगठित हुई । उर्दू साहित्य के लेखकों ने उत्तरोत्तर हिन्दी शब्दों एवं मुहावरों का सप्रयास बहिष्कार करना प्रारम्भ कर दिया । फलतः समस्त पारिभाषिक शब्दावली अरबी की आ गई । भाषा संस्कृति की पोषिका होती है । भारत-भूमि में ही जब इस प्रकार हिन्दी-संस्कृत से घृणा और अरबी-फारसी से अत्यधिक प्रेम बढ़ा तब हिन्दी और उर्दू की गति दो विभिन्न दिशाओं की ओर हो जाना स्वाभाविक था । इस भाषा-विभेद ने सम्प्रदायगत कट्टरता को विशेष प्रश्रय दिया । संत-साहित्य में इसके स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं ।

हिन्दुस्तानी

उर्दू भाषा की ही भाँति हिन्दुस्तानी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है । विभिन्न विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इस विषय पर विचार किया है । हिन्दुस्तानी शब्द को बाबरकालीन बताया जाता है और इसकी पुष्टि में उसके जीवन-सम्बन्धी संस्मरणों का उल्लेख किया जाता है जिसमें उसने दौलतखां लोदी से बात करते समय हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग किया था ।[2]

सन् १६१६ में श्री टाम कोरियट ने हिन्दुस्तानी को गँवारी भाषा के रूप में स्मरण किया है ।[3] सन् १८८६ में हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में यह मत प्रकट किया गया कि यह उत्तरी एवं दक्षिणी भारत के मुसलमानों की भाषा है । आगरा एवं दिल्ली के समीपवर्ती स्थानों में बोली जाने वाली हिन्दी, फारसी तथा अन्य विदेशी

1. धीरेन्द्र वर्मा–हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ ६२ ।
2. "I have made him sit down before me and desired a man who understood the Hindustani language to explain to him what I said sentence by sentence in order to reassure him."

   –Memoirs of Babar Lucas, kings edition, Vol. 2, PP. 170.
3. Hobson-Jobson, Page 317.

शब्दों के योग से इसका विकास हुआ है। इस भाषा का दूसरा नाम उर्दू भी है। मुसलमानी राज्य में यह भाषा अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप में व्यवहृत होती थी।[1]

ग्रियर्सन का मत है कि योरुपीय प्रभाव के कारण हिन्दुस्तानी शब्द का निर्माण हुआ था।[2] उसका यह भी कथन है कि वे लोग हिन्दुस्तान की भाषा को ही हिन्दुस्तानी मानते थे। इतना ही नहीं, ग्रियर्सन महाशय हिन्दी को हिन्दुस्तानी शैली विशेष के रूप में मानते हैं। उनका यह भी कथन है कि हिन्दुस्तानी का प्राचीनतम स्वरूप उर्दू या रेख्ता में उपलब्ध होता है। उन्होंने हिन्दुस्तानी की व्याख्या करते हुए लिखा है कि हिन्दुस्तानी भाषा गंगा के ऊपरी दोआब की भाषा है। लिपि की दृष्टि से फारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में इसका प्रयोग हो सकता है। वे उर्दू को हिन्दुस्तानी की ही एक ऐसी शैली मानते हैं जिसमें फारसी शब्दों की प्रचुरता रहती है और इसके लिए केवल फारसी लिपि का ही प्रयोग होता है। इसी आधार पर वे हिन्दी को हिन्दुस्तानी की एक ऐसी शैली मात्र मानते हैं जो देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और जिसमें संस्कृत शब्दों का बहुत बड़ी संख्या में प्रयोग होता है।[3] डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि उत्पत्ति की दृष्टि से आधुनिक साहित्यिक हिन्दी तथा उर्दू के समान ही इसका आधार भी खड़ी बोली है। एक तरह से यह हिन्दी उर्दू की अपेक्षा खड़ी बोली के अधिक निकट है क्योंकि यह फारसी संस्कृति के अस्वाभाविक प्रभाव से बहुत मुक्त है।[4] स्वर्गीय चन्द्रबली पाण्डेय ने अपनी पुस्तक "काबवेब आफ हिन्दुस्तानी" में हिन्दुस्तानी भाषा के विकास और उसके मूलभूत कारणों पर गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया है। उनका स्पष्ट मत है कि हिन्दु-

1. ....But in fact the language of Mohammedans of Upper India and eventually of the Mohammedans of the eccans developed out of the Hindi dialect of the Doab chiefly, and of the territory round Agra and Delhi with a mixture of Persian Vocables and phrases and a readiness to adopt other foreign words, It is also called Oordoo, i. e. the language of the Urdu (Herde) or camp. This language was for a long time a kind of mohammedan lingua franca over all India. (Hobson Jobson PP.317

2. The word "Hindustani" was coined under European influence and means the language of Hindustan."

   –Linguistic Survey. Vol. IX Part I, P. 43.

3. Linguistic Survey of India Vol. IX Part 1, Page 47.

4. धीरेन्द्र वर्मा–हिन्दी भाषा का विकास, पृ० ६३।

स्तानी का अर्थ है उर्दू ।[1] अपने मत के समर्थन में वे उड़ीसा के भूतपूर्व गवर्नर आसफ-अली का यह मत उद्धृत करते हैं कि "उर्दू हिन्दी नहीं है हिन्दुस्तानी शब्द सरल उर्दू के पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त होता है ।[2]

हिन्दुस्तानी शब्द हिन्दुस्तान की भाषा के लिए भले ही प्रारम्भ में प्रयुक्त हुआ हो पर राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते यह शब्द उर्दू के समकक्ष माने जाने लगा। भाषा-क्षेत्र में राजनैतिक उद्देश्य भी प्रवेश पा गये। हिन्दी और मुसलमानों को निरन्तर अलग बनाये रखने की भावना से भी कदाचित् हिन्दुस्तानी "उर्दू" को विशेष प्रश्रय दिया गया। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने भी महात्मा गाँधी के नेतृत्व में साम्प्रदायिक विद्वेष को दूर करने के उद्देश्य से हिन्दुस्तानी भाषा का एक ऐसा रूप सामने रखना चाहा जो हिन्दुओं और मुसल-मानों दोनों को समान रूप से स्वीकार हो सके। हिन्दुस्तानी के प्रश्न को लेकर देश के राजनैतिक वातावरण में बहुत समय तक भाषा-आन्दोलन चलता रहा। दोनों ओर से पक्ष-विपक्ष में अनेकानेक सबल प्रमाण एवं तर्क उपस्थित किए गए पर भाषा के स्वरूप का निर्णय अथवा उसका प्रसार प्रस्तावों, तर्कों आदि से नहीं होता है। भाषा की प्रकृति अपनी पूर्ण स्वतंत्र प्रकृति होती है। इतने वर्षों पश्चात् आज यह स्पष्ट हो गया है कि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी तीनों अलग-अलग हैं, यद्यपि उर्दू और हिन्दुस्तानी में बहुत कुछ साम्य है। 'हिन्दुस्तानी' एक प्रकार से भाषा क्षेत्र में एक राजनीतिक आन्दोलन ही था जो अब प्राय: समाप्त-सा है।

1. Indeed the general use of the term Hindustani is synonym for Urdu, and a part form philology it has always used for it.

   —"Cobweb of Hindustani." Page 5.

2. It is sufficient for our purpose to know that Urdu is not Hindi and the word Hindustani is being used now-a days only synonym for simplified Urdu.

   —National language for India, Page 159.

४. संत-साहित्य की पारिभाषिक शब्दावली

प्रतीक विधान

मानव अपनी अनुभूतियों की अधिकाधिक विशद् अभिव्यक्ति चाहता है, किन्तु जब ईप्सित भाव सीधे-सादे ढंग से सम्यक्‌रूपेण नहीं व्यक्त हो पाता है तब वह प्रतीकों का सहारा लेता है। प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है 'चिह्न'। साहित्य में अधिकांश प्रतीक दृश्य जगत से ही सम्बन्धित होते हैं। इसका कारण यह है कि प्रकृति के विभिन्न उपादानों एवं स्वरूपों के साथ नैत्यिक परिचय के कारण हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह सम्बन्ध जब तक हृदयस्थ रहता है तब तक इसकी अमूर्तावस्था रहती है, किन्तु जब हम प्रकृति के पदार्थों का प्रयोग अपनी भावाभिव्यक्ति के साथ करते हैं। तब उस रागात्मक सम्बन्ध का मानो मूर्तीकरण हो जाता है। यथा सुमनों का सौरभ-दान देख कर हमारे हृदय में एक प्रकार का विशिष्ट आनन्दोल्लास उत्पन्न होता है। संस्कारवशात् इस क्रिया प्रति हमारा हृदयस्थ राग तन्मयत्व प्राप्त कर लेता है। यह तन्मयता उस समय और भी अधिक सजग हो उठती है जब हम किसी उदार वृत्ति का चित्रण करते हैं और उदारता, त्याग आदि सद्‌वृत्तियों का प्रभावोत्पादक चित्रण करने के लिए सुरभि–दान में लीन सुमनों को प्रतीक रूप में उपस्थित करते हैं। गूढ़ातिगूढ़ भावों की व्यंजना प्रतीक के माध्यम से सहज और सुस्पष्ट हो जाती है।

जब हम प्रेम, घृणा, क्रोध आदि मनोभावात्मक शब्दों का प्रयोग करते हैं, अथवा सुख–दुख, कष्ट, पीड़ा आदि का अनुभवात्मक विवरण देते हैं तब हम केवल अपनी मनोदशा का संकेतात्मक परिचय दे पाते हैं। मनुष्य की वैखरी वाणी केवल वैखरी है; भौतिक होने के कारण सीमित सामर्थ्यवाली है। अतएव उसमें सम्पूर्ण अनुभूति को व्यक्त करने की शक्ति न कभी थी और न आज है। हमारी क्रोध की भावना, स्वामी, मित्र, स्त्री, पुत्र और शत्रु सभी के प्रति यथावसर व्यक्त होती है, पर सबके प्रति समान क्रोध नहीं होता है। वाणी में इतनी क्षमता नहीं है कि वह क्रोध के इस अन्तर को व्यक्त कर सके। स्वयं स्त्री और पुत्र सम्बन्धी घृणा में कितना अन्तर हो सकता है उसका शतांश भाग भी घृणा शब्द से व्यक्त नहीं हो पाता है। भोजन के कष्ट, निवास के कष्ट, और वस्त्र के कष्ट में अन्तर स्पष्ट है, परन्तु केवल कष्ट शब्द द्वारा इन तीनों के कष्ट का यथार्थ बोध नहीं हो सकता है। वाणी की इसी

असमर्थता के कारण अनादिकाल से विशेष अनुभूति को अधिक स्पष्ट करने के लिए तत्सदृश अनुभूतियों का स्पष्ट वर्णन करने की प्रथा चली आ रही है। हमारा वैदिक साहित्य अनेकानेक प्रतीकों से पूर्ण है । अज्ञेय और अचिन्त्य ब्रह्म की शक्ति के निरू-पण में हमारे ऋषि प्रतीकों का ही आश्रय लेते हैं । उदाहरणार्थ दिशाओं की बाहु-रूप में कल्पना करना–"यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषाविधेम ।" एक दूसरा उदाहरण देखिए–"योऽस्मान् द्वेष्टियं वयंद्विष्मस्तं वो जम्भे दध्म:" ...... जिसके साथ हम द्वेष करें या जो हमारे साथ द्वेष करे उसको हम दाढ़ों में रखते हैं । "जम्भे दध्म: 'शब्द उस क्रोध का परिचायक है जिसमें अपने द्वेष्टा को इस प्रकार चबा जाने की भावना उदित होती है जिस प्रकार मुँह में रख कर कौर चबा डाला जाता है । किसी शरीर को इस प्रकार चबाया नहीं जा सकता । उसकी गर्दन काट दी जा सकती है, बोटी–बोटी अलग की जा सकती है, परन्तु इतना कहने पर भी क्रोध की वह तीक्ष्णता व्यक्त न होती जो 'चबा जाना' कहने से व्यक्त होती है । इसी प्रकार एक दूसरा प्रयोग लीजिए 'पत्थर पसीजना' । इस कथन से तात्पर्य किसी शिलाखण्ड के पानी-पानी होने से नहीं है । पत्थर का तात्पर्य कठोर हृदय और पसीजना का तात्पर्य द्रवित होना है । वक्ता का मुख्य उद्देश्य होता है विषय का बोध कराना । इसके लिए वह अप्रस्तुत योजना अथवा अन्योक्ति–विधान का सहारा लेता है । दृष्टिपथ में विच-रण करने वाले रूप-चित्रों का कार्य तो इस प्रकार चल जाता है, पर जिनकी विशुद्ध भावात्मक सत्ता होती है उनकी अनुभूति कराना एक बड़ी जटिल समस्या होती है । ऐसी स्थिति में सांकेतिकता का ही आश्रय लेना पड़ता है । संकेतरूप में उपस्थित की गई वस्तु के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि वह मूल भाव से साम्य स्थापित करे और साथ ही लोक-जीवन से भी सम्बद्ध हो । इस प्रकार सांकेतिक स्वरूप मूल रूप का प्रतिनिधित्व करता है ।

प्रतीक-विधान के लिए यह आवश्यक है कि जो भी प्रतीक प्रयुक्त हों वे देश कालानुरूप हों । शब्दों का अपना स्वतन्त्र जीवन होता है उनकी । श्वास-प्रश्वास में कभी तो इतनी क्षमता आ जाती है कि वे सहस्रों वर्ष पर्यन्त भी अपनी शक्ति नहीं क्षीण होने देते और सतत कार्यशील बने रहते हैं । पर कतिपय शब्द कुछ समय तक चल कर इतिहास की सम्पत्ति बन जाते हैं । कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जो काल के आवर्तों को विदीर्ण करके पुन: अपना वैभव प्रदर्शित करने लगते हैं । इसीलिए प्रतीक रूप में आए हुए शब्दों का भाषा के प्रचलित रूप के अनुरूप होने से अर्थ-बोध कराने में सरलता होती है । प्रतीकात्मक शब्दों के अपने-अपने स्वतन्त्र क्षेत्र भी होते हैं । एक ही प्रतीक भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न अर्थ व्यक्त करता है । उदाहरणार्थ भारत में धूप जीवन-व्यापी कष्ट अथवा पीड़ा का प्रतीक है । शीत-प्रधान देशों में यही धूप सुख और उल्लास प्रतीक हैं । भौगोलिक परिस्थितियाँ ही इस अर्थ-ग्रहण

के लिए उत्तरदायी हैं।

साधारणत: प्रतीकों की एक परम्परा होती है जिनके द्वारा भावाभिव्यक्ति में एक स्वाभाविक गुण आ जाता है। उदाहरणार्थ उषा सुख और संध्या दुख के प्रतीक रूप में सुदीर्घकाल से प्रयुक्त होती आ रही है। भारतीय साहित्य में ही नहीं, अपितु दूसरी भाषाओं के साहित्य में भी ये दोनों ही उषा और संध्या जीवन-सम्बन्धी तथ्यों का दिग्दर्शन कराने के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

देशगत एवं परंपरानुगत प्रतीकों के अतिरिक्त युगगत प्रतीक भी होते हैं। छायावाद, रहस्यवाद से प्रभावित काव्यधारा के अन्तर्गत 'मधुमास' और 'पतझड़' का प्रयोग क्रमश: सुख और दुख के लिए होता है। कतिपय प्रतीक व्यक्ति की रुचि विशेष का परिचय कराने वाले होते हैं। कवि-परम्परा में टूटने या नष्ट होने के लिए मोम का पिघलना, पंखुड़ी का झड़ना, शीशे का टूक-टूक होना प्रयुक्त होता था, किन्तु अब प्रगतिवादियों ने प्रगति-विशेष का परिचय कराने के लिये 'भुने हुए पापड़ का टूटना,[1] उपयुक्त समझा। वैयक्तिकता की दृष्टि से साहित्य-जगत में कबीर की प्रतीक योजना विशेष महत्व रखती है। इसका विवेचन हम इसी प्रसंग में आगे करेंगे।

साहित्य में प्रतीक-विधान की एक सामान्य परम्परा सुदूर अतीतकाल से चली आ रही है। ऊपर हम वेद का उदाहरण दे आए हैं। उपनिषदों में अनेक गाथायें पूर्णत: प्रतीक पर आश्रित हैं। योग-वासिष्ठ से समस्त उपाख्यान प्रतीकात्मक हैं। श्रीमद्भागवत का भक्ति सम्बन्धी आख्यान विशुद्ध रूप से प्रतीकात्मक ही है। वज्रयान सम्प्रदाय की साधनापद्धति की अधिकांश अभिव्यक्तियाँ प्रतीकों के माध्यम से हुई हैं। अन्यत्र भी धर्मोपदेश के लिए लिखे गये आख्यान प्रतीकात्मक ही हैं। सूफी साधकों ने भी अपनी अध्यात्मपरक अभिव्यक्तियों में प्रतीकों का आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ—

नवौ खंड नव पौरी औ तहं वज्र किवार।
चारि बसेरे सों चढ़े, सत सों उतरे पार॥

—'जायसी'

ये चार बसेरे सूफी सम्प्रदाय के अन्तर्गत चार पड़ाव हैं[2]—

१—शरीअत, २—तरीकत, ३—मारिफत, ४—हकीकत।

भारत में ही नहीं, अपितु अन्यान्य देशों में भी प्रतीक का महत्वपूर्ण स्थान है। फ्रांस और बेलजियम में तो उन्नीसवीं शताब्दि में यथार्थवाद के प्रति विद्रोहात्मक भावनाओं का प्रचार हुआ और प्रतीक-विधान को साहित्य एवं संगीत में विशिष्ट

---

१. मेरे सपने टूट गये जैसे 'भुना हुआ पापड़'
२. इन चार पड़ाव के सम्बन्ध में साधना की दृष्टि से विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से नामकरण किए हैं। कहीं-कहीं पर इनमें क्रम-विपरीतता भी है—

स्थान प्राप्त हुआ ।[1] सन् १८८६ में 'फिगारों' नामक पत्र में प्रतीकवाद एक सम्प्रदाय विशेष के रूप में स्वीकृत हुआ । इस सम्प्रदाय के लेखक प्रतीकों द्वारा अपनी विभिन्न मानसिक स्थितियों को व्यक्त किया करते थे । उस समय प्रतीकवाद का "आन्दोलन चित्रकला" और संगीत में प्रभाववाद के साथ-साथ और उपचेतन के दर्शन के साथ-साथ उन्नीसवीं शताब्दि के अन्तिम भाग के आदर्शवाद से मिलकर उस "रोमान्टिसिज्म" की एक शाखा बन गया, जिसके साथ वह निर्वाध रूप से संबद्ध है ।[2] आगे चल कर प्रतीकवादी दो दलों में विभक्त हो गये । एक ने बर्लें का अनुगमन किया और दूसरे ने मलार्मे का । बर्लें के अनुयायियों ने प्रतीक-विधान में दूसरे दल की अपेक्षा सांकेतिक अर्थ की सरलता एवं स्पष्टता का विचार अधिक किया है ।

देश-विदेश की बात तो दूर रही । जीवन के सामान्य व्यवहारों में भी प्रतीकात्मकता के महत्व को देखा जा सकता है । साधारणतः हम अपने घर को सजा कर रखते हैं । पर जब हम किसी अतिथि के आने पर अपने घर के कोने-कोने को साफ करके उसकी साज-सज्जा पर विशेष ध्यान देते हैं, उसे नाना प्रकार के पकवान एवं सुस्वादु फल भोजन के लिए देते हैं, सुवासित शीतल जल से उसकी तृषा शान्त करते हैं तथा सुकोमल तल्प पर उसे शयन कराते हैं तब एक ओर अपने अतिथि की सुविधा का ध्यान तो रहता ही है, साथ ही ये सब क्रियायें इस बात की भी परिचायिका बनती हैं, कि हम अपने अतिथि का इस भाँति से सम्मान करने की क्षमता रखते हैं । इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति प्रतिवर्ष नए मॉडल की कार खरीदता है तब उसका यह अर्थ नहीं है कि नयी कार कुछ अधिक उपयोगी है । उससे ध्वनित यही होता है कि प्रति-

(अ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल— १–शरीअत—कर्मकांड,
२–तरीकत—उपासनाकांड,
३–हकीकत—ज्ञानकांड,
४–मारिफत—सिद्धावस्था ।

(आ) आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय— १–शरीअत—कर्मकांड,
२–तरीकत—उपासनाकांड,
३–मारिफत—ज्ञानकांड,
४–हकीकत—ज्ञाननिष्ठ ।

(इ) आचार्य मुंशीराम शर्मा— १–शरीअत—ज्ञानकांड,
२–तरीकत—कर्मकांड,
३–मारिफत—उपासनाकांड,
४–हकीकत—तथ्यप्राप्ति ।

१. बार-ए डिक्शनरी आफ इंगलिश लिट्रेचर, पृष्ठ–२१६ ।
२. सीताराम चतुर्वेदी–समीक्षाशास्त्र, पृष्ठ–१२७३ ।

वर्ष नई कार लेने की उसमें क्षमता है। जीवन में ऐसे कितने ही कार्य होते हैं जो वस्तुरूप में उतना महत्व नहीं रखते जितना भावरूप में।

प्रतीक-विधान की क्रिया व्यवहार-जगत की अपेक्षा भाव-जगत में अधिक देखी जाती हैं। इसी से साहित्यजगत में प्रतीकों का अत्यधिक महत्व स्वीकार किया गया है, विशेषरूप से धार्मिक साहित्य में। यहाँ आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति का प्रश्न रहता है। आध्यात्मिक अनुभूति की सीधी-सादी भाषा के माध्यम से नहीं व्यक्त की जा सकती है। उसके लिए तो यद्यपि 'सोई जाने जो पावै' की बात है, 'तदपि कहै बिन रहा न कोई।' अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को व्यक्त सभी करना चाहते हैं। इसके लिए वे लोकजीवन के उन रूपों-चित्रों, वस्तुओं एवं सम्बन्धों का चयन करते हैं जिनमें उनकी अनुभूति का साम्य हो और जो सामान्यतः लोकपरिचित एवं लोक-प्रचलित भी हों।

प्रतीक संबन्धी किसी साधारण मान्यता की स्थापना करते समय हमें धार्मिक प्रतीकों को प्रमुख स्थान देना पड़ता है। कवि के लिए प्रतीकों को उपयोगिता कदाचित् केवल भावनाओं के उद्भावन के माध्यम के रूप में ही हो, (यद्यपि वह ऐसा बहुत कम करता है) पर धर्म पर विचार करने वाले के लिए ऐसा करना संभव नहीं। धर्म के साथ ही साथ आलोचना क्षेत्र में विज्ञान की भी चर्चा की जाती है। विज्ञान में भी प्रतीकों का प्रयोग होता है। आधुनिक-विज्ञान की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है उसका प्रतीकात्मक तत्व। गणित अथवा भौतिक विज्ञानी सर्व प्रथम अपने आधारभूत सिद्धान्तों के प्रतीकात्मक रूपों के प्रति सजग हुए और उन्होंने इसी प्रतीकात्मक विचार को वैज्ञानिक रूप में विकसित किया। वैज्ञानिक रूप से तात्पर्य होता है पर्यवेक्षण और प्रयोग पर आधारित अधिकाधिक व्यापक सामान्य सिद्धान्तों को स्थिर करना और विज्ञान में प्रतीकात्मकता का अर्थ है तर्कसंगत तथा गणित के समान अपरिवर्तनीय नियमों पर आधारित वास्तविकता का सांकेतिक रूप। वास्तविकता के प्रत्यक्षीकरण के दो मार्ग हैं। एक के द्वारा हम वास्तविक गुणों तथा मूल्यों पर बल देते हैं और दूसरे के द्वारा इन गुणों एवं मूल्यों (वैल्यूज) के भावात्मक रूप को लेते हुए उनके परिणामगत एवं तर्क—संगत संबंधों को स्पष्ट करते हैं। इसे ही हम दूसरे रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि मनुष्य दोहरी भाषा का प्रयोग करता है जिसे हम कलात्मक और वैज्ञानिक की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं।

विज्ञान की भाषा में तथ्य-कथन का सरलतम रूप ही उसका संघटन होता है। इस प्रकार विज्ञान की अपनी भाषा होती है जिसका महत्व उसके सुगठित रूप में है। काव्य की भाषा भी सुगठित होती है पर वह केवल भावोद्रेक का ही कार्य करती हैं, किन्तु वैज्ञानिक भाषा का कार्य वस्तु—संकेत करना होता है। विज्ञान काव्य की भाँति वास्तविकता का काल्पनिक प्रत्यक्षीकरण न करके तथ्यांशों का विश्लेषण और

वर्णन करता है । इसीलिए वैज्ञानिक भाषा में तथ्य का छायात्मक चित्रण न होकर उसका यथार्थ एवं सुनिश्चितरूप व्यक्त होता है । विज्ञान की भाषा अपने चरम विकास पर प्राकृतिक भाषा से विच्छेद करके कृत्रिम भाषा का रूप ग्रहण करती है यहाँ कृत्रिम भाषा से तात्पर्य उस भाषा से है जिसका व्यवहार किसी विशेष उद्देश्य और स्थिरता के साथ किया जाता है । काव्यात्मक भाषा नाटकीय है, किन्तु वैज्ञानिक भाषा का आदर्श ही है उसका अनाटकीय होना । जब विज्ञान अपने तथ्यों की अभिव्यक्ति के लिए काव्यात्मक शैली का आश्रय लेता है तब भाषा की सामान्य अभिव्यञ्जना प्रणाली में प्रतीकात्मकता का आ जाना स्वाभाविक होता है ।

प्राय: धर्म की तुलना विज्ञान से की जाती है । विज्ञान की ही भाँति धर्म की परिभाषा करना अत्यन्त कठिन है । जिन धर्म सम्बन्धी बातों की हम प्राय: चर्चा करते हैं उनके विषय में हम स्वत: कोई स्पष्ट मत स्थिर नहीं कर पाते हैं । धर्म की भाषा (जिसका अधिकांश रूप प्रतीकात्मक है) के अध्ययन के माध्यम से धर्म का यत्किंचित ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेते हैं ।

धार्मिक भाषा के दो रूप किये जा सकते हैं–एक धर्म की गीतात्मक भाषा और दूसरा उसका नाटकीय रूप । प्रथम प्रकार में प्रार्थना, स्तोत्र आदि आते हैं । भाषा का यह रूप भावनाओं की उद्‌भावना करता है और साथ ही भाव के मूर्त रूप का आह्वान भी । भाषा के दूसरे नाटकीय रूप को हम इच्छा और क्रिया की भाषा कह सकते हैं । इसमें मुख्यत: दन्त कथाओं के अन्तर्गत आने वाले सभी तत्वों का समावेश होता है, क्योंकि गणनात्मक एवं तार्किक दृष्टि से प्रकृति के वृत्तों के नाटकीय-करण एवं मानवीयकरण के लिए यही पुराण (Myth) पारिभाषिक शब्द उपयुक्त होता है । कुछ लोगों का कहना है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में प्राकृतिक घटनाओं और मानवीय वृत्तों की अभिव्यक्ति इसी पौराणिक ढंग (Mythical Style) से होती थी । पर पौराणिकता (Mythology) की चेतना को स्पष्ट करने का यह पूर्णरूप से भ्रामक ढंग है । पौराणिकता की वृत्ति से जो उपलब्धि होती है, उसकी तुलना हम परवर्ती वैज्ञानिक उपलब्धियों से नहीं कर सकते । हम किसी भी अर्थ में पौरा-णिकता की वृत्ति को प्राचीनकाल में विज्ञान का स्थान लेने वाली नहीं मान सकते । तात्पर्य यह कि केवल नाटकीयता गुण-संपन्न भाषा में ही यह गुण होता है कि वह वस्तुगत अर्थ–प्रकाशन में सहायक होती है । पौराणिक वृत्तों की सृष्टि का अर्थ जातीय जीवन में अध्यात्म का संकेत करना होता है । पौराणिक वृत्त आध्यात्मिक जगत का मौलिकवृत्त है जो प्राकृतिक संकेत–साधनों के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है । अपने को आगे बढ़ाता हुआ ज्ञान सदैव पौराणिक वृत्त की विशेषरूपता रखता है ।

अध्यात्मजगत में जिन संकेतों-प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें हम

मुख्यतः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक स्वर्गीय पदार्थों के प्रतीक और दूसरे पवित्र कृत्यों के प्रतीक। प्रथम प्रकार के प्रतीकों के तीन भाग किये जा सकते हैं—

(अ) दैवत्व अथवा ईश्वर के प्रतीक,

(आ) स्वर्गीय विशिष्ट गुणों के प्रतीक,

(इ) स्वर्गीय कृत्यों के प्रतीक।

इन समस्त प्रकार के प्रतीक-विधानों की यह विशेषता है कि मूर्त-विधान एवं विचार लिए जाते हैं अनुभव के संकुचित एवं सहजबोध चेतना के क्षेत्र से और उनका प्रयोग होता है कहीं ऐसे अधिक विश्वजनीन एवं आदर्श सम्बन्धों के सन्दर्भ में जिनका अपने व्यापकत्व तथा सार्वभौमता के गुण के कारण सीधे ढंग से वर्णन किया ही नहीं जा सकता।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत निर्गुणपरक संत-साहित्य में प्रतीक स्थापन की प्रकृति विशेष रूप से परिलक्षित होती है; यद्यपि सगुणधारा के कवियों ने भी भावाभिव्यंजन के लिए प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ तुलसी के चातक की प्रेम-साधना पर लिखे गये सभी दोहे प्रतीक-पद्धति पर ही हैं। उनमें चातक के माध्यम से भक्ति की अनन्यता व्यक्त हुई है।

जैसा पहले लिख आये हैं प्रतीक-विधान आध्यात्मिक क्षेत्र में विशेषरूप से पाया जाता है। साधक के हृदय में साधना-पूर्ति के क्षणों में जो आन्दोल्लास उत्पन्न होता है, उसे वह लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर जन-जन तक पहुँचाना चाहता है। वह उस भावोल्लास को जब सर्व साधारण के समक्ष प्रचलित शब्दों के माध्यम से ठीक-ठीक व्यक्त नहीं कर पाता है, उसे भाषा पंगु-सी प्रतीत होती है, तब वह प्रायः प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करता है। कबीर का एक पद देखिए—

काहे री नलिनी तू कुंभिलानी
तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास,
जल में नलिनी तोर निवास ।।
ना तलि तपति न अपरि आगि।
तोर हेत कहु कासन लागि ।।
कहै कबीर जे उदुक समान।
ते नहि मूए हमरे जान ।।

यहाँ नलिनी जीवात्मा है और सरोवर का जल समस्त विश्व में व्याप्त परमात्म तत्व है जो उस कमलिनी में भी समाया है। इस आत्मा (कमलिनी) को जला सकने वाली आग न तो नीचे तपती है और न ऊपर। ऐसा कोई भी बन्धन नहीं है

जो आत्मा को बाँध सकता हो। आत्मा का कष्ट तभी तक है जब तक वह अपने को अपने प्रभु से भिन्न समझती है। जब यह आत्मा (कमलिनी) परमात्मा (जल) में लीन हो जायगा तब जन्म और मृत्यु का भय जाता रहेगा और आत्मा शाश्वत रूप से प्रभु के समीप ही विहार करने लगेगी। जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन नलिनी और जल के प्रतीकों द्वारा किया गया है।

संत-साहित्य में प्रतीकात्मक शब्द

संत-साहित्य में ईश्वर, जीवात्मा, माया, शरीर और मन को लेकर विभिन्न रूपों में प्रतीक शब्दों की योजना पाई जाती है।

ईश्वर ही इस सम्पूर्ण प्रसार का एकमात्र हेतु है। वही सृष्टा है, वही पालक है और वही संहारक भी है। संसार का स्वामी वही है। अतः उसे कहीं भरतार-भतार (भर्ता), कहीं प्रिय और कहीं खसम रूप में स्मरण किया गया है। इसके अतिरिक्त उसे बाप, जोलाहा आदि भी कहा गया है। ईश्वर की ही भाँति बाप भी पुत्र को जन्म देता है, उसका पालन करता है और उसके कल्याण के लिए उसका नियमन भी करता है। जिस प्रकार जुलाहा तानाबाना द्वारा कपड़ा बुनता है उसी प्रकार ईश्वर भी शरीररूपी वस्त्र का निर्माण करता है।

जीवात्मा के लिए पूत, तिरिया आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार पुत्र पिता का ही अंश है, उसी प्रकार जीवात्मा भी ईश्वर का ही अंश है। पति के अभाव में जिस प्रकार पत्नी (तिरिया) को कष्ट होता है, उसी प्रकार परमात्मा के अभाव में जीवात्मा भी कष्ट पाती है। इसी प्रकार अन्य प्रतीक भी अपना व्यापक अर्थ रखते हैं।

संत-साहित्य में प्रतीक योजना अपना विशेष महत्व रखती है। यहाँ हम कतिपय प्रतीकात्मक शब्दों के प्रयोगों के उल्लेख द्वारा यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि संत कवियों का भावजगत कितना व्यापक और उनकी अनुभूति कितनी गहरी होती थी और उनकी दृष्टि कितनी दूर तक जाती थी। प्रस्तुत प्रसंग में यह स्मरणीय है कि संत-साहित्य में कबीर द्वारा प्रयुक्त किए गए प्रतीकों का ही विशेष महत्व है। अन्य संत कवियों ने प्रायः कबीर की ही परम्परा में प्रतीकों का प्रयोग किया है। साथ ही यह भी दृष्टव्य है कि प्रतीकरूप में लाया गया एक शब्द कहीं जीव के लिए है और कहीं माया के लिए है। संतों की भाषा की विशेषता यही है कि उसमें शब्द-चयन की अपेक्षा भाव-प्रकाशन की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

ईश्वर

"जड़-चेतन, गुण-दोषमय" सृष्टि का रूप अनादिकाल से कुतूहल एवं जिज्ञासा का विषय रहा है। "परिवर्तन के ये पुतले" अपनी परिवर्तनीयता में ही शाश्वत हैं।

सृष्टि के आदिकाल से सूर्य-चन्द्र-नक्षत्रादि समस्त ग्रह एवं उपग्रह शाश्वत गति से गतिमान हैं। उनकी गति में एक नियम है, क्रम है। अपने समय पर ही घुमड़ती हुई घनाली ताप-तप्त अवनी की तृषा को शान्त करने के लिए उतावली-सी प्रतीत होती है। शरद का स्वच्छ नीलाकाश कीर्तिशेष रूप में कितना मृदुल प्रतीत होता है और वन-श्री को अपनी सुरभि का उन्मुक्त दान करने वाली सुमनावलियाँ कितनी मोहक हैं, कितनी आकर्षक हैं; और वह प्रखर ताप, पृथिवी को झुलसाने वाली उष्णता स्वयं भी कितना तप कर सृजन के कितने मूल्यवान उपकरणों की सृष्टि करती है, इस रहस्य का उद्घाटन ही तो भारतीय मनीषा का अभिप्रेत रहा है। सौर मण्डल में नित्यप्रति होने वाला यह नर्तन उस परोक्ष नट के प्रति जिज्ञासा की सृष्टि करता है। ऐसा प्रतिभासित होता है कि समस्त सृष्टि के क्रिया-कलाप के पीछे कोई महान शक्ति कार्य कर रही है। विश्व के प्रकाश-पुंज सूर्य, चन्द्र नक्षत्रादि कितने नियमित क्रम से संचालित होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई परम चेतन सत्ता इन सबके मूल में कार्य कर रही हैं। वैदिक ऋषियों ने सूर्य का प्रकाश, अग्नि की दाहकता, जल की शीतलता, वायु की गति और पृथ्वी की स्थिरता में एक अचिन्त्य शक्ति की कल्पना की थी। यह कल्पना भावमय शक्ति के रूप में थी। उसमें व्यक्तित्व का अभाव था। विभिन्न शक्तियों के रूप में प्रकाशित होती हुई यही शक्ति निम्नांकित मंत्र में एक व्यक्तित्व को लेकर प्रकट हुई है—

> "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रेभूतस्यजातः पतिरेक आसीत्।
> स दाधार पृथिवीं द्यामृतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
>
> ऋ० १०-१२१-१

यह हिरण्यगर्भ भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) का, साथ ही समस्त प्राणिवर्ग का जनक था। एक वही स्वामी था, वही इस पृथ्वी और आकाश को धारण किए हुए था। इसी शक्ति का विवेचन करते हुए ऋषि ने कहा—

> "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।"
>
> —ऋ० ८-८-५८

सत्तावान होने के कारण वह सत्य था। गतिमान होने के कारण वह ऋत था और तेजपुंज होने के कारण वह तप था। यह उस 'हिरण्यगर्भ' के स्वरूप का विवेचन है।

वैदिक युग में ही प्रभु के निर्गुण और सगुण रूपों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। नीचे उद्धृत ऋचा में प्रभु के इन दोनों रूपों का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

> सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्कविर्मनीषी परिभूः स्वय म्भूर्याथातथ्यंतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
>
> यजुर्वेद ४०।८

इस ऋचा के अनुसार ईश्वर अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम् अर्थात् निराकार है। इसी के साथ ही साथ वह कवि, मनीषी, सर्वव्यापक और स्वयंभू भी है। ये शब्द उसके सगुण रूप के वाचक हैं। 'अपापविद्धम्' कह कर वेद ने ईश्वर को पाप की ओर प्रवृत्त होने वाले जीवों से पृथक् कर दिया है।

ईश्वर की यह भावना वस्तु-परक है। अवस्तु परक ब्रह्म का विवेचन विशेष रूप से उपनिषत्काल में हुआ। मांडूक्य उपनिषद् में ईश्वर की व्याख्या करते हुए कहा गया है–

"नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म प्रत्यय सारं
प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

जो न भीतर की ओर प्रज्ञा वाला है, न बाहर की ओर प्रज्ञावाला है, न दोनों ओर प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञानघन है, जानने वाला है, न नहीं जानने वाला है, जो देखा नहीं गया है, जो व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, जो पकड़ने में नहीं आ सकता, जिसका कोई लक्ष्य नहीं है, जो चिन्तन करने में नहीं आ सकता, जो बतलाने में नहीं आ सकता, एकमात्र आत्मसत्ता की प्रतीति ही जिसका सार (प्रमाण) है, जिसमें प्रपंच का सर्वथा अभाव है, ऐसा सर्वथा शान्त, कल्याणमय, अद्वितीय तत्व (परब्रह्म परमात्मा का) चौथा पाद है, ऐसा ब्रह्मज्ञानी मानते हैं, वह परमात्मा है, जानने योग्य है।

ऊपर की इस परिभाषा में परमात्मा के निर्विशेष रूप की व्याख्या की गई है। उसके सविशेषरूप की व्याख्या में उसके लिए वैश्वानर,[1] तेजस[2] और प्राज्ञ[3] शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसी निर्विशेष-सविशेष ब्रह्म का विलक्षणरूप हिरण्यगर्भ होकर जगत को उत्पन्न करता है और जगत को अपने में विलय करके निर्विशेष होकर अपने में स्थिर हो जाता है। उसकी इस क्रिया का वर्णन उपनिषद् इस प्रकार करती है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा–
पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाऽक्षरात्सम्भवतीहि विश्वम्॥

—मुंडकोपनिषद् प्रथम खण्ड, ७।

१. मांडूक्यउपनिषद्–९
२. ,, १०
३. ,, ११

जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है और निगल जाती है तथा जिस प्रकार पृथ्वी में नाना प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जिस प्रकार जीवित मनुष्य से केश और रोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अविनाशी परब्रह्म से यहाँ इस सृष्टि में सब कुछ उत्पन्न होता है। मकड़ी के भीतर उपस्थित जाला मकड़ी में समाया हुआ अव्यक्त अवस्था में पड़ा रहता है। वह अपने भीतर से ही इसे निकाल कर प्रकट करती है। इसी प्रकार उस निर्विशेष ब्रह्म में यह सविशेष जगत समाया हुआ है। उसी से इसकी उत्पत्ति होती है। वह ब्रह्म अक्षय है, अविनाशी है अथवा केवल शब्दमय है। आज तक के विचारक ईश्वर के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ भी नहीं कह सके हैं।

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते" में उत्पत्ति और विनाश की दो क्रियाएँ उसी विभु में सन्निहित होती हुई व्यक्त होती हैं। साथ ही जगत के निमित्त, उपादान और समवायि कारण की भी प्रभु में ही स्थिति दिखाई देती है। जाला मकड़ी के शरीर से ही उत्पन्न होता है। मकड़ी उसके लिए किसी भिन्न उपादान को बाहर से संग्रह नहीं करती। अतएव जाले का उपादान कारण भी मकड़ी ही है। मकड़ी स्वयं उसका निमित्त कारण भी है। अर्थात स्वभिन्न किसी ऐसे साधन का प्रयोग वह नहीं करती है जो जाला बनाने में सहायक हो। जाले का रूप भी उसी के भीतर ही निहित है। जाला चौकोर होगा या षट्कोण, उसके तागों में परस्पर कितना अन्तर होगा इसे बताने के लिए किसी बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता उसे नहीं है। अस्तु जिस प्रकार मकड़ी जाले का उपादान, निमित्त और समवायि कारण है, उसी प्रकार इस जगत के समस्त तत्व प्रभु से उत्पन्न हुए हैं, प्रभु ही उन्हें बनाने वाला है और जगत में उप-स्थित समस्त आकार-प्रकार उसी में स्थित हैं।

इस प्रकार प्रभु में समस्त व्यापारों की परिसमाप्ति होते हुए भी व्यापारभेद तो है ही। उत्पत्ति का व्यापार निश्चय ही विलय के व्यापार से भिन्न है, भले ही एक ही गति के वे आदि-अन्त क्यों न हों, परन्तु जो आदि है वही अन्त नहीं है। आदि-अन्त की परिसमाप्ति जिस अनादि-अनन्त में होती है उसमें स्थित होते हुए भी परस्पर सापेक्ष्य के कारण दोनों की स्थिति है। इसीलिए असत् होते हुए भी मान लिया जाता है कि यह क्रिया का आदि है और यह उसका अन्त। आदि और अन्त की इन्हीं दोनों सीमाओं का नाम ब्रह्मा (बढ़ाने वाला) और शंकर (आनन्द या समृद्धि देने वाला) कहा जाता है।

ईश्वर को सत्, चित् और आनन्द स्वरूप माना गया है। वह परम कारुणिक है। समस्त सचराचर जगत उसकी ही करुणा का प्रसार है। संत-साहित्य में ईश्वर के इन तीनों रूपों को मान कर उसके विषय में विभिन्न उद्भावनायें की गई हैं। नीचे हम कतिपय उन शब्दों को देते हैं जो ईश्वर के लिए प्रतीकात्मक रूप में प्रयुक्त

हुए हैं ।

पिता

पूत पियारो पिता को गौंहनि लागा धाइ ।
लोभ मिठाई हाथि दै, आपण गया भूलाइ ॥
—क० ग्रं०, पृ० १०

पिता रूप परमात्मा से पुत्र रूप जीवात्मा को अलग करने वाली माया अपने विभिन्न रूपों द्वारा कार्य किया करती है । काम, क्रोध, लोभ एवम् मोह ये सभी माया के ही व्यापार हैं ।

प्रिय रूप परमात्मा तथा धनिरूप आत्मा की विलग स्थित सुख-शान्ति का हेतु नहीं बन सकती है । जीवन की संकटमय परिस्थिति में पिय (परमात्मा) ही रक्षक होता है ।

जोलहा

अस जोलहा केहु मरम न जाना, जिन जग आय पसारिन्हि ताना ।
महि अकास दुइ गाड़ खंदाया, चांद सुरुज दुइ नरी बनाया ॥
—क० बी०, २८ ।

जिस प्रकार जुलाहा ताना-बाना फैला कर वस्त्र बुनता है उसी प्रकार परमात्मा भी सृष्टि का निर्माण करता है ।

पाहन

नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझहु पंडित ज्ञानी ।
पाहन फोरि गंग एक निकसी, चहुं दिसि पानी पानी ॥
—कबीर बीजक, २४

जैसे पर्वत से नदी निकल कर इधर-उधर फैल जाती है, उसी प्रकार ईश्वर से यह सृष्टि का प्रसार उद्भूत हुआ है ।

कलाल

ब्रह्म कलाल चढ़ाइनि भाठी, लै इन्द्री रस चाखै ।
संगहि पोच है ग्यान पुकारै, चतुरा होय सो नाखै ॥
क० बी०, ४०

जिस प्रकार कलाल द्वारा भट्ठी चढ़ाई जाती है और उससे आसव निकाला जाता है, उसी प्रकार ईश्वर द्वारा संसार के विभिन्न रूपों-रसों की सृष्टि होती है ।

समुद्र

बूँद जो परी समुद्र में, सो जानत सब कोय।
समुद्र समाना बुँद में, जानै बिरला कोय ॥

—कबीर बीजक, १९

ईश्वर (समुद्र) जीवात्मा (बूंद) में व्याप्त है।

भतार

जान पुरुषवा मोर अहार, अनजाने पर करौं सिंगार।
कहंहि कबीर बुढ़िया आनंद गाय, पूत भतारहि बैठी खाय ॥

—कबीर बीजक, ८१

सइंयाँ (स्वामी)

सैंया बुलावे मैं जैहों ससुरे।
जल्दी से महरा डोलिया कस रे ॥

—क० सा० की शब्दावली, ७९

खसम

सुरति सुहागिनि चरन मनावहि खसम आपनों पैवों।
जन बुल्ला ह्वै प्यारी खसम की रहसि रहसि गुन गैओ ॥

—बुल्लासाहब का शब्द सागर, पृ० ११

कंत

भई कंत दरस की बिनु बावरी
मो तन व्यापै पीर प्रीतम की मूरख जानै आवरी।

—धरनीदास की बानी, पृ० ११४

पिव

बिरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलपै माइ।

—क० ग्रं०, पृ० १०

पिया

आव पिया तू सेज हमारी। निसि दिन देखौं बाट तुम्हारी।

—दादूदयाल की बानी (भाग-२), पृ० ४४

पिया बिनु मोहिं नींद न आवै
घन गरजे घन बिजुली चमकै, ऊपर से मोहिं झांकि दिखावै ।।
—धरमदास की शब्दावली, पृ० १५

मोर मनुवां मनावै धावै पिया नहिं आवै हो ।
वुल्ला शब्दसार, पृ० १

पिया मोरा मिछिया सत्त गियानी ।
कबीर साहब की शब्दावली, भाग-२, पृ० २४

प्रीतम अपनों परम सनेही नैन निरखि न अघानी ।
—दादूदयाल, भाग-२, पृ० ११०

पुरुष

पुरुष पुरंजन पाकड़ा गढ़ घेरा जाई ।
निज मन की फौंजें धसीं, काया गढ़ माहीं ।।
—गरीबदास की बानी, पृ० ४४

भतार (भर्तार) सइयां, खसम, कंत, पिया, पुरुष आदि शब्द प्रायः एक ही कोटि के हैं । इन शब्दों द्वारा रक्षा, पालन-पोषण तथा प्रियत्व का बोध होता है । ईश्वर में इन शब्दों में व्याप्त भाव का समावेश है । अतः उसे इन नामों के प्रतीक द्वारा स्मरण किया जाता है ।

धोबी

मोरी रंगी चुनरिया धो धुबिया
जनम जनम के दाग चुनर के सतसंग जल से छुड़ा धुबिया ।
—कबीर शब्दावली, (भाग-२), पृ० ७५

धोबी वस्त्र के मैल को धोकर स्वच्छ कर देता है । ईश्वर भी जीवात्मा का पापकर्म-कृत-कल्मष को नष्ट करके उसे परम पवित्र बना देता है ।

बाजीगर

बाजीगरै पसारी बाजी, मूल भुलायो सब काजी ।।
—मलूकदास, पृ० २१ ।

बाजीगर परगासा, यहु बाजी झूठ तमासा ।।
—दादूदयाल की बानी, (भाग-२) पृ० १३०

बाजीगर रूप ईश्वर बाजी-रूप संसार को फैलाने वाला है। यह सृष्टि का प्रसार उसी की लीला है, उसी का कौतुक है।

संत यद्यपि ब्रह्म के निराकार रूप की ही उपासना करते थे, पर वे अपने युग तक ब्रह्म के लिए प्रचलित सभी नामों के प्रति उदारता के भाव रखते थे। यही कारण है कि ब्रह्म के लिए निर्गुण, निर्विकल्प, गोतीत, अविगत, अजरामर कहते हुए भी उसे हरि, राम, कृष्ण, केशव, कन्हाई आदि नामों द्वारा स्मरण किया है। प्रमाण के लिए हम नीचे कतिपय नामों का उल्लेख करेंगे।

ओंकार

उंकारे जग ऊपजै, बिकारे जग जाई ॥

—क० ग्रन्थावली, पद १२१

ऊँकार सति नामु करता पुरख निरभउ।

—नानक, संतसुधार, पृ० १२६

ओंकार के पार भजु तजि अभिमान कलेस ॥

—यारी सा०, पृष्ठ ७

राम

सहजैं राम नांम स्यों लाई, राम नांम कहि भगति दिढ़ाई ।।

—क० ग्रं०, रमैणी, पृष्ठ २२७

जाके राम राम सरीखा साहिब भाई।
सो क्यूं अंत पुकारन जाई ॥

—क०, पद, १२४

रहु तो राम राम रट लाई ॥

—दूलन०, पृष्ठ २

दादू राम अगाध हूं अविगत लखै न कोई ॥

—दादू० भाग-१, पृष्ठ १८

राम कृष्ण पूरन भये महिमा कही न जाय ॥

—सहजोबाई, पृष्ठ ४७

भ्रम भूलो नर ज्ञान राम नहिं जानिया ॥

—गुलाल० पृष्ठ ७३

सीताराम जपौं सुखदाई ॥

—धरमदास, पृष्ठ २

ऐसे राम भजन करु बावरे ।

—धरनीदास, पृष्ठ १५

सदा सोहागिन नारि सो जाके राम भतार ।

—मलूकदास, पृष्ठ ३

नमो राम परब्रह्म जी सतगुरु संत अधारि ।।

—दरिया०, पृष्ठ १

हरि को नांव अभै-पद दाता कहै कबीरा कोरी ।।

—क० ग्रं०, पद ३४६

मन रे तू हरि भज अवरि कुमति तजि ।।

—धरनीदास, पृष्ठ ५

हरि किरपा जो होय तो होई नाहीं होय तो नाँहि ।।

—सहजोबाई, पृष्ठ ३

हरि संग लागत बुंद सुहावन ।

—गुलाल० पृष्ठ ३२

हरि सुमिरण ल्यौ लाइये का जाणौं का कीन्ह ।।

—दादूदयाल० (भाग-१), पृष्ठ १८

हरि बिन नहिं कोऊ हीति ।।

—भीखा०, पृष्ठ १४

हरि समान दाता कोउ नाहीं सदा विराजैं संतन माहीं ।।

—मलूकदास, पृष्ठ २

नमो नमो हरि गुरु नमो, नमो नमो सब संत ।

—दरियासाहब, पृष्ठ १

सेवैं सालिगराम कूं मन की भ्रांति न जाइ ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ४४

पलक दरियाव पुरो हरिनाम ।
नामैं ठाकुर सालिगराम ।।

—भीखादास, पृष्ठ २०

सेवौं सालिगराम के पाऊँ ।।

—धरमदास, पृष्ठ २

नारायण

तार्थं सेवियै नाराइणां प्रभू मेरी दीनदयाल दया करणां ।।

—क० ग्रं०, पद २४८

पारस नारायन मोहि लागे ।।

—गुलाल० सा० की बानी, पृष्ठ ५६

नारायण अरु नगर के, रज्जब पंथ अनेक ।।

—रज्जब, संत सुधासार पृष्ठ ३१२

कृष्ण, कन्हाई, कान्ह

इहि बंनि खेलै राही रुकमनि ।
वहि बन कान्ह अहीरा रे ।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ११२

रैदास लियो है मीराबाई नरसी जन लियो खेल कन्हाइ ।।

—गुलाल, पृष्ठ १३३

भजों राम कृष्ण सारंग पानी ।।

—धरमदास, पृष्ठ २

द्रुपदी राम कृष्न कहि टेरी ।

—दूलनदास, पृष्ठ ४

केते पवण पाणी वैसंतर केते कान्ह महेस ।।

—नानक, संत सुधासार, पृष्ठ १४८

कहै रैदास कृस्न करुनामय जै जै जगत-अधारा ।।

—रैदास, संत सुधासार, पृष्ठ ९४

गोविन्द

कबीर सुता क्या करै, गुण गोबिन्द के गाइ ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ६

गुरु गोबिन्द की करत आरती ।।

—भीखादास, पृष्ठ ३४

गुरु गोबिन्द सारमत दीन्ह । भला भया जो आतम चीन्ह ।।

—मलूकदास, पृष्ठ १८

मेरी प्रीति गोविन्द सिउँ जनि घटै ॥

—रैदास, संत सुधासार, ९२

गुरु बिन गति गोविन्द की जानी नहिं जानी ॥

—सुन्दरदास, सुन्दर ग्रंथावली, पृष्ठ ८६३

जन रज्जब यूं जानि भजन करु गोविन्द है घर बासा ॥

—रैदास, सन्तसुधासार, पृष्ठ ३०४

सकल भांड में रमि रहा, साहिब कहिये सोइ ॥

—क० ग्रं०, पृष्ठ ६०

रज्जब ज्यूं साहिब खुशी सो लच्छन नहिं कोय ॥

—रज्जब, संत सुधासार, पृष्ठ ३११

साहेब दीनबन्धु हितकारी ।

—धरमदास, पृष्ठ २०

सो साहब मो सतगुरु मोरा ॥

—दरिया (बिहार), ज्ञानस्वरोदय

साहब जिनके उर बसैं झूठ कपट नहिं अंग ॥

—गरीबदास, पृष्ठ ५९

तू मेरा साहब मैं तेरा बंदा ॥

—धरनीदास, पृष्ठ १८

साहेब मिलि तब साहिब होवे ज्यों जल बूंद समावै ॥

—मलूकदास, पृष्ठ ४

सांचा साहिब साचु नाइ भाखिआ भाउ अपार ॥

—नानक, संत सुधासार, पृष्ठ १२८

रमइया मोरा साहिब हो ।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९२०

अपरंपार पार परसोतम वा मूरति की बलिहारी ।

—क० ग्रं०, पृष्ठ १४३

अपरंपार पार पुरुषोत्तम लिया अपनाय गुलाल ॥

—गुलाल०, पृष्ठ १३३

परमदयाल रामराय परषोत्तम जी ॥

—मलूकदास, पृष्ठ २६

दीनानाथ, दीनदयाल, दीनबंधु

दीनानाथ अनाथ यह कछु पार न पावै।

—गुलाल०, पृष्ठ ४३

दीनानाथ दयाल भक्त की पच्छ करो ॥

—धरमदास, पृष्ठ २३

दीनदयाल कृपाल कृपानिधि करहु छिमा अपराध हमारे ॥

—धरनीदास, पृष्ठ २६

दीनबंधु बान तेरी आइ करु सहाई ॥

—धरनीदास, पृष्ठ २०

साहेब दीनबंधु हितकारी ॥

—धरमदास, पृष्ठ २०

दीनबन्धु करुनामयी ऐसे रघुराजा ॥

—मूलकदास, पृष्ठ ८

जगदीश—जगन्नाथ

जोति बिना जगदीश की जगत उलंध्या जाइ ॥

—क० ग्रं०, पृष्ठ ७७

जबहिं जुक्ति जगदीश ऐसी बनाई ॥

—धरनीदास, पृष्ठ १०

जगन्नाथ जगदीश विराजै देखो क्यूं न भाई ॥

—गरीबदास, पृष्ठ १६२

लछमि सहित जगन्नाथ मिले तहं धाइयै ॥

—धरमदास, पृष्ठ ४

कहै कबीर जगन्नाथ भजहु रे जन्म अकारथ जाइ।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ११५

त्रिभुवन नाथ—त्रिभुवनराव

मिलिये त्रिभुवननाथ सूं, निरभै होइ रहिए ।
—क० ग्रं०, पृष्ठ ७७

त्रिभुवननाथ विसंभरै, लाल घात करतार ।।
—गरीबदास, पृष्ठ ६९

फलकारनि सेवा करे जाचै त्रिभुवनराव ।।
—दादू० (भाग-१), पृष्ठ १४५

ईश्वर

ईसुर को रूप छयो ब्रह्मंड सब होइ रह्यो
—सहजोबाई, पृष्ठ ६३

ईसुर भक्ति हृदय बिसराई ।।
—धरनीदास, पृष्ठ ४१

गुरु ईसुरु गोरखु बरमा गुरु पारबती माई ।।
—नानक, संत सुधासार, पृष्ठ १२९

परमेश्वर

जीवन मुक्त किया परमेसुर कहत मलूकादास ।।
—मलूकदास, पृष्ठ १

परमेसुर की बासना सो पावै भगवान ।
—सहजोबाई, पृष्ठ २२

परमेसुर करुनामई रहै सकल भरपूर ।।
—गरीबदास, पृष्ठ ६०

विश्वम्भर

नाभि कंवल मे विस्नु विसम्भर जहं लक्ष्मी संग वास ।
—गरीबदास, पृष्ठ ९५

होहु दयाल विसम्भर देवा ।।
—धरनीदास, पृष्ठ ४५

अल्लाह

एक अल्लाह के मैं कुरबानी ।।
—धरनीदास, पृष्ठ १८

अल्लाह अविगत राम है, वेचगून (वेचून) चित माँहि ।।

—गरीबदास, पृष्ठ २०

अलिफ एक अल्लाह का जे पढ़ि करि जाने कोय ।

—दादू० (भा० १), पृष्ठ २५

एक निरंजन अल्लह मेरा, हिन्दू तुरक दुहूं नहिं तेरा ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ २०२

दृष्टी से मुष्टी नहिं आवै नाम निरंजन वाको ।।

—यारी०, पृष्ठ १

मेरा पीर निरंजना मैं खिदमतगार ।।

—मलूकदास, पृष्ठ ७

जामें मरै न संकुटि आवै, नांव निरंजन जाकौ रे ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ १०३

ऐसा नामु निरंजनु होइ । जे को मंनि जाणै मंनि कोइ ।।

—नानक (संतसुधासार), पृष्ठ १३२

एक निरंजन नाम भजहु रे ।

—सुन्दरदास, सुन्दर ग्रंथावली, पृष्ठ ८९८

सेइ निरंजन दीनदयाल । पेड परसि पूजी सब डाल ।।

—रज्जब, संतसुधासार, पृष्ठ ३०७

रहै निरंजन हमरे पासा । प्रेम सेवक निज दासा ।।

—दरिया (बिहार वाले), संत कवि दरिया, अग्रदान, पृष्ठ १

तुम प्रभु दीनदयाल मुरारी ।

—सुन्दरदास, सुन्दर ग्रंथावली, पृष्ठ ८५१

कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ १७९

तेरी अगम गति गोपाल ।

—सुन्दरदास, सुन्दर ग्रंथावली, पृष्ठ ९०७

आई तलब गोपाल राइ की मैंडी मंदिर छांड़ि चल्यो ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ १७०

सिव विरंचि सब लोकपाल । ओपैं सेयो श्री गोपाल ।

—रज्जब, संतसुधासार, ३०७

इन नामों के अतिरिक्त भी ब्रह्म के लिए संत कवियों ने अन्यान्य नामों का यथास्थान प्रयोग किया है, यथा—केशव, कमलाकान्त, श्रीरंग, बनवारी दामोदर, मोहन, गोकुलनायक, गोपीनाथ, चतुर्भुज, मुकुन्द, माधव, पंचानन, रहीम, खुदा, करीम, कर्तार, दयानिधि, करुनामय, पुरुष, हंस—पति—राय, साईयां ठाकुर, अविनासी आदि । इससे स्पष्ट है कि संतों का दृष्टिकोण बड़ा ही उदार एवं सारग्राही था ।

जीवात्मा

मानव का समस्त चेतन व्यापार ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व, इन तीन शक्तियों से युक्त है । ये शक्तियाँ ही चित्त के महत्व को व्यक्त करती हैं । चित्त-सम्पर्क युक्त आत्मा ही चेतन बनता है और तभी उसकी संज्ञा जीव या जीवात्मा होती है । कर्म-भोग की प्राप्ति के लिए ही जीवात्मा को किसी न किसी शरीर में संसार में आना पड़ता है । एक भोग के पश्चात् दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा भोग, बस यही जीवन-मरण का क्रम चक्र के रूप में सतत चला करता है । कर्मयोग की समाप्ति ही 'जीवन्मुक्ति' की स्थिति है ।

परमेश्वर की दो प्रकृतियाँ मानी गई हैं, एक अपरा प्रकृति और दूसरी परा प्रकृति । अपरा (जड़) प्रकृति ही सृष्टि के मूल में विद्यमान है । इसी को अधिष्ठान रूप में ग्रहण कर माया के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।

—गीता, अ० ४, श्लोक ६

दूसरी परा प्रकृति श्रेष्ठ प्रकृति है । इसे जीवरूपा कहा गया है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।

—गीता, अ० ७, श्लोक ५

जीवात्मा और परमात्मा के संबन्ध को छाया और प्रकाश के रूप में व्यक्त किया गया है—

"गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे छाया तपौ ब्रह्मविदो वदन्ति ।

—कठोपनिषद ३/१

शरीर के अन्तर्गत इसका निश्चित स्थान यद्यपि हृदय है, पर यह समस्त शरीर में नाड़ियों के माध्यम से सतत भ्रमण करता रहता है। उसका यह भ्रमण व्यर्थ नहीं है। वह इसी भ्रमणकाल में सतत् ईश्वर की खोज करता रहता है। जीवात्मा की यह विशेषता है कि वह जिस योनि में जाता है उसी में वह अपनी सुख-शान्ति खोजने लगता है। भगवती श्रुति का कथन है—

'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'—ऋग्वेद ६/४७/१८

जैन—दर्शन के अनुसार जीव का सामान्य धर्म उसका चैतन्य होना माना गया है।[1] जीव में निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान की व्याप्ति मानी गई है। कर्म की स्थिति में 'जीव पाँच प्रकार के भाव-प्रवणों—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक—से संयुक्त होने के कारण अपने मूल शुद्धरूप में न रह कर 'द्रव्यरूप में परिणत हो जाता है और फिर वह जीव संसारी कहलाने लगता[2] है। यहाँ द्रव्य से तात्पर्य उसकी व्यक्तावस्था से है। जीव अपनी व्यक्तावस्था में जिस शरीर में रहता है उसी शरीर के परिणाम को प्राप्त करता है। अविद्या के कारण जीवन कर्म के बन्धन में बँधता है। जब ये बन्धन छूट जाते हैं तब उसमें सम्यक् ज्ञान का आविर्भाव होता है जो उसे मुक्ति की ओर ले जाता है।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार 'आत्मा' की कोई वास्तविक सत्ता है ही नहीं। वे इसे केवल व्यवहारोपयोगी नाम मानते हैं। त्रिपिटकों के आधार पर जीव को 'परिणामशाली' माना गया है। जिस प्रकार जल की धारा का निरन्तर प्रवाह होने से हमें प्रत्यक्षतः कोई परिवर्तन नहीं प्रतीत होता, यद्यपि प्रतिक्षण स्नान करते समय हमें नवीन जल प्राप्त होता है, उसी प्रकार जीव भी जन्म-जमान्तर के रूप में प्रवाहमय बना रहता है।

मीमांसा-दर्शन के अनुसार जीवात्मा को नित्य माना गया है। यह एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता रहता है। नष्ट होने वाला शरीर है। शरीर क्षर है और जीवात्मा अक्षर। ज्ञान का प्रकाश आत्मा में ही होता है। यही आत्मा माया-कृत आवरणों के कारण वनस्पति आदि में जड़वत बन जाता है।

अद्वैत दर्शन के अनुसार जीव ब्रह्म से तभी तक भिन्न है जब तक माया का स्वरूप विद्यमान है। माया के हटते ही जीव और ब्रह्म की एकता संभव है, और इसके उपरान्त "एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्तिकिञ्चन।"[3]

विशिष्टाद्वैतदर्शन के अनुसार जीवात्मा के तीन प्रकार माने जाते हैं—(१) बद्ध जीवात्मा (२) मुक्त जीवात्मा (३) नित्य जीवात्मा। बद्ध जीवात्मा के अन्त-

१. चैतन्य लक्षणो जीवः। —षड्दर्शन—समुच्चय, कारिका, ४९
२. भारतीय—दर्शन, पृष्ठ १०८
३. अध्यात्मोपनिषद, ६३

र्गत ब्रह्मा, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, प्रजापति, दिग्पाल, मनु, वसु, रुद्र, आदित्य, देवयोनि, मनुष्यगण, तिर्यकगण तथा स्थावर आते हैं। मुक्त जीव ब्रह्म के समान ही भोग करने वाले माने गये हैं। ये संख्या में अनेक हैं तथा सब लोकों में अपनी इच्छा से विचरण कर सकते हैं। नित्य जीव वे हैं जिन्होंने संसार में कभी जन्म नहीं ग्रहण किया है। ये ईश्वरावतार की ही भाँति स्वेच्छापूर्वक अवतार ग्रहण करने की क्षमता वाले होते हैं। अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन आदि 'नित्य जीव' माने गये हैं।[1]

जिस प्रकार देह तथा देही का नित्य संबंध है उसी प्रकार जीव और ब्रह्म का भी नित्य सम्बन्ध है। ब्रह्म जगत का एकमात्र कारण तथा जीव करण माना गया है।[2] रामानुज का कथन है कि जिस प्रकार चिनगारी अग्नि का अंश है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। दोनों का सम्बन्ध अंशांशी भाव अथवा विशेषणविशेष्य भाव रूप में है।

मध्वाचार्य के मत से जीव की तीन कोटियाँ हैं—(१) मुक्ति योग्य, (२) नित्य संसारी, (३) तमोयोग्य। देव, ऋषि, पितृ आदि उत्तम पुरुष ही मुक्ति प्राप्त कर पाते हैं। नित्य संसारी जीव अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हुए संसार में विचरणशील बने रहते हैं। तमोयोग्य जीवों के अन्तर्गत अधम पुरुषों की गणना की गई है, यथा राक्षस, पिशाच आदि। माध्वमत के अनुसार प्रत्येक जीव की अपनी स्वतंत्र स्थिति है और वह परमात्मा से पूर्णरूपेण भिन्न अस्तित्व वाला है।

निम्बार्क मत में जीव के लिए प्रज्ञानघन, स्वयंजोति, ज्ञानमय आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसे कर्ता माना गया है। उसका कर्तृत्व संसारी अवस्था एवं मुक्तावस्था दोनों में ही रहता है। इस मत के अनुसार ईश्वर नियन्ता है और जीव नियम्य है। अस्तु जीव अपनी प्रत्येक अवस्था में ईश्वराधीन है।

जीवात्मा सम्बन्धी विभिन्न दार्शनिक मतों के उल्लेख द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म और जीव के बीच भेद डालने वाली माया है। संत-साहित्य में भी ब्रह्म और जीव की एकता स्वीकार की गई है। पर इस एकत्व की स्थिति में व्यवधान उत्पन्न करने वाली माया को माना गया है। कबीर पिता-पुत्र के प्रतीक द्वारा इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त करते हैं–

पूत पियारौ पिता कौं, गौहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथ दे, आपण गया भुलाइ॥

—क० ग्रं०, पृ० १०

माया से अभिभूत होकर जीव दिग्भ्रमित हो जाता है। सांसारिक प्रलोभन उसे अपनी ओर इतना अधिक आकृष्ट कर लेते हैं कि वह अपने मूल स्रोत ब्रह्म को

---

१. भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४११

२. "सकारणं करणाधिपाधिपः"—श्वेताश्वर उपनिषद्, ६/९

विस्मृत कर बैठता है, किन्तु जब ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित होती है तब मायाकृत समस्त विभ्रम की अवस्था नष्ट हो जाती है और जीव, ब्रह्म में पुनः लीन हो जाता है–

झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही भभूति ॥

–क० ग्रं०, पृ० ११

वस्तुतः मायाकृत आवरण के दूर होते ही जीवात्मा परमात्मा में वैसे ही मिल जाती है जैसे बूंद समुद्र में। जब तक समुद्र से बूंद भिन्न है तब तक उसके अस्तित्व का भान है, पर समुद्र में मिलते ही दोनों की अभेद स्थिति हो जाती है। कबीर इसी तथ्य को इस प्रकार कहते हैं।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समुंद मैं, सो कत हेरी जाइ ॥

–क० ग्रं०, पृ० १७

संत-साहित्य में 'जल-तरंग न्यायवत' ब्रह्म और जीव के स्वरूप का विवेचन हुआ है। विशिष्टाद्वैत के रूप में जीव ब्रह्म में रहते हुए भी ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होता है।

शांकर मत में माया मिथ्या है, परन्तु अन्यभूतों में उसे सत्य स्वीकार किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्वेताश्वतर उपनिषद् के आधार पर माया को प्रकृति कहा गया है कार्य और कारण का सम्बन्ध इसी प्रकृति में घटता है, क्योंकि इसी से विश्व के विविध पदार्थों की उत्पत्ति है। जीव इसी प्रकृति का सहारा लेकर सत्-असत्, अथवा पवित्र और अपवित्र कार्य करता है तथा परिणामतः सुख और दुख को भोगता है। जब जीवात्मा की स्थिति प्राकृतिक गुणों से निरपेक्ष हो जाती है, सत्, रज, तम जब उसे विचलित नहीं कर पाते, जब वह प्रकृति से पृथक तथा स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तब उसकी संज्ञा मुक्त जीव होती है। कबीर आदि संतों ने इस माया अथवा प्रकृति को ठगिनी, भुजंगिनी आदि नाम दिए हैं और जीव को इससे बचने का उपदेश दिया है।

संत-साहित्य में जीवात्मा के लिए प्रयुक्त किये गए कतिपय प्रतीकात्मक शब्द नीचे दिये जाते हैं–

पूत

बाप पूत की एकै नारी, एकै माय बिआय।
ऐसा पूत सपूत न देखा, जो बापहिं चीन्है धाय ॥–क० बी०, पृ० २
(बाप–परमात्मा। पूत–जीवात्मा।)

सांचा सतगुरु जो मिलै हंसा पावै धीरा ।

—गरीबदास की वानी, पृष्ठ ५८

पूरब दिसा हंस गति होई, है समीप संधि बूझै कोई ।

—क० बी०, पृष्ठ ३

हंस सरोवर तहं रमै, सूभर हरि जल नीर ॥

—दादू० (भाग-२), पृ० १०५

जैसे सुमिरण सुरति में ज्यूं देही में हंस ॥

—रज्जब बानी

(हंस, हंसा—जीवात्मा)

अचरज एक देखहु हो संतो, हस्ती सिंघहिं खाय ॥

—कबीर बीजक, पृष्ठ ७

कुंजर कूं कीरी गिलि बैठी, सिंहहिं खाय अघानो स्याल ।

—सुन्दर विलास, पृष्ठ ८७

(सिंह, सिंघ—जीवात्मा । हस्ती—अहंकार । स्याल—अहंकार ।)

जाड़न मरै सपेदी सौरी, खसम न चीन्हैं घरनि भौ बौरी ।

क० बी०, पृष्ठ २३

(खसम—परमात्मा । घरनि—जीवात्मा) ।

भवसागर इक नदी बहुत है, रोवै कुल परिवार ।
एक न रोवै उनकी तिरिया, जिन्ह के सिखावनहार ॥

—कबीर ज्ञा० भाग ३, पृष्ठ २६

(नदी—माया । तिरिया—जीवात्मा । सिखावनहार—गुरु)

औरत सोई सेज पर बैठा खसम हजूर ।
सुन्दर जान्यां ख्वाब मौं खसम गया कहुं दूर ॥

—सुन्दर ग्रंथावली, पृष्ठ ८९

(औरत—जीवात्मा । खसम—प्रभु । ख्वाब—माया की स्थिति ।)

पारा

जेहि विधि पारा मरै न मारा, मलकत मौत सो करै विचारा ।।
–दरिया (बिहार) (ज्ञा० स्व० ११९–२०)

जौलाहा

भीगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई ।
कहंहि कबीर सुनो हो संतो, जिन यह सृष्टि उपाई ।।
–क० बी०, पृष्ठ ६४

(पुरिया–शरीर । जोलहा–जीवात्मा ।)

पारथ

राहु मृगा संसे बन हाकैं, पारथ आना मेलै ।
सायर जरै सकल बन डोहे, मछ अहेरा खेलै ।।
–क० बी०, पृष्ठ ३६

(पारथ–कार्यरत जीवात्मा)

चातिग (चातक)

पीव पीव टेरत दिक भई स्वाति सुरूपी आव ।
सागर सलिल सब भरे, परि चातिग के नहिं भाव ।।
–रज्जब, (संतसुधासार), पृष्ठ ३०४

(चातिग–जीवात्मा । स्वाति सुरूपी–ब्रह्म ।)

बहुरिया

हरि मोरा पीव मैं राम की बहुरिया, राम बड़े मैं तनकी लहुरिया ।।
–क० बी०, पृष्ठ ४२

जाग बहुरिया पहिरु रंग सारी ।
जागत भागी पांच कुआरी जनम जनम के ताप निवारी ।।
–धरमदास की बानी, पृ० ७०

(बहुरिया–जीवात्मा)

नारि

तुमहिं पुरुष मैं नारि तुम्हारी, तोहरि चाल पाहनहूं ते भारी ।
–क० बी०, पृष्ठ ४२

(पुरुष–परमात्मा । नारि–जीवात्मा ।)

पुरिया जरै वस्तु निज उबरे, बिकल राम रंग तेरा ।। २६
(पुरिया—शरीर । वस्तु—जीवात्मा ।)

कासों कहौं को सुनै को पतियाय, फुलवा के छुवत भंवर मरि जाय ।
—क० बी०, पृष्ठ ५१

भंवर कंवल रस वासना, रातौ राम पीवंत ।।
—दा० द० भाग-२, पृष्ठ १०

(फुलवा—माया । भंवर—जीवात्मा ।)

गयउ देसंतर कोइ न बतावै, जोगिया बहुरि गुफा नहिं आवै ।।
—क० बी०, पृष्ठ ५१

(जोगिया—जीवात्मा । गुफा—हृदय ।)

बिनु पवनै जो परबत उड़ै, जिया जंतु सम बिरछा बूड़े ।
सूखे सरवर उठै हिलोर, बिनु जल चकवा करै कलोल ।।
—क० बी०, पृष्ठ ६४

सांझ पड़े दिन बीतवे, चकवी दीन्हां रोइ ।
चल चकवी वा देस को, जहां रैन न होइ ।।
क० शब्दावली, भाग-२, पृष्ठ ४८

(चकवा, चकवी—जीवात्मा ।)

लम्बी पुरिवा पाई छीन, सूत पुराना खूंटा तीन ।।
—क० बी०, पृष्ठ ८०

पुरिया—शरीर । सूत—जीवात्मा । खूंटा तीन—तीन गुण ।)

काहे हरनी दूबरी, यही हरियरे ताल ।
—क० बी०, पृष्ठ ७३

(हरनी—जीवात्मा । हरियरे ताल—मायामय संसार ।)

करहा

बन ते भागि बिहड़े परा, करहा अपनी बान ।
बेदन करहा कासो कहै, को करहा को आन ।।

—क० बी०, पृष्ठ ४६९

(करहा—खरगोश—जीवात्मा)

चेतन हीरा

नख सिख देह लगै भली, सुन्दर अधिक स्वरूप ।
चेतनि हीरा चलि गयौ, भयौ अन्धेरा कूप ।।

—सुन्दर ग्रंथावली, पृष्ठ ७११

(चेतन हीरा—जीवात्मा)

बूंद

बूंद जो परी समुद्र में, सो जानत सब कोय ।
समुद्र, समाना बुंद में, जानै बिरला कोय ।।

—क० बी०, पृष्ठ ९८

(बूंद—जीवात्मा, समुद्र—परमात्मा)

महावत

महावत गयन्द मानैं नहीं, चलै सुरति के साथ ।
दीन महावत का करै, अंकुस नाहीं हाथ ।।

—क० बी०, पृष्ठ १०४

(महावत—जीवात्मा)

बजावनहार

जंत्र बजावत हौं सुना, टूटि गये सब तार ।
जंत्र बिचारा का करे, गया बजावनि हार ।।

—क० बी०, पृष्ठ ११९

(बजावनिहार—जीवात्मा)

सुन्दरी

इस मन को मैदा करौ, नान्हा करि करि पीस ।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलक्कै सीस ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ८१

प्राणपति जागै सुन्दरी क्यों सोवे, उठि आतुर गहि पांइ ॥

—दादू० भाग-२, पृष्ठ ५८

(सुन्दरी—जीवात्मा)

सजनी

सजनी रजनी घटती जाइ ।

पल पल छीजै अवधि दिन आवै, अपनौं लाल मनाइ ।

—दादू० भाग-२, पृष्ठ ५८

(सजनी—जीवात्मा । लाल—परमात्मा)

सहेली

विपति हमारी सुनौ सहेली पिव बिन चैन न आवै ॥

—दादू० भाग-२, पृष्ठ ६

(सहेली—जीवात्मा)

दुलहिन

दुलहिनी गावहु मंगलचार

हम घर आए परम पुरुष भरतार ॥

—कबीर शब्दावली, भाग-१, पृष्ठ १

(दुलहिनी—जीवात्मा । भरतार—परमात्मा ।)

मछरी

मछरी अग्नि माहिं सुख पायो, जल में बहुत हुती बेहाल ।

—सुन्दर विलास, पृष्ठ ८७

(मछरी—जीवात्मा । अग्नि—मायाकृत सांसारिक रूप ।
जल—परमात्मा ।)

कुंजर—सिंह

कुंजर कूं कीरी गिलि बैठी, सिंहहि खाय अघानो स्याल ।

—सुन्दर विलास, पृष्ठ ८०

(कुंजर—सिंह—जीवात्मा; कीरी, स्याल—माया ।)

पतिव्रता (मायामुक्त आत्मा)

बिभिचारणि

दादू पतिव्रता के एक है बिभिचारणि के दोइ ।

—दादू बानी, भाग-१, पृ० १६

(बिभिचारणि—मायायुक्त आत्मा)

विभिन्न दुखों का कारण बनती रहती है। ब्रह्म की शक्ति होते हुए भी यह एक ऐसी ग्रन्थि के रूप में मानी गयी है जिसका प्रतीयमान रूप असत् होते हुए भी सत् जैसा भासित होता है। इसका निवारण अत्यन्त कठिन है।

माया का बन्धन इतना प्रबल एवं मोहक है कि इसके बिकारी परिणामों को जानता हुआ भी मन बार-बार इसी में फँसता रहता है। यदि जीवन में किसी पुण्य घटिका के उदय होने पर एक क्षण के लिए मन उससे विरत भी होता है तो तत्क्षण ही कोई न कोई ऐसा जाल मन पर पड़ जाता है कि वह बेचारा विवश हो कर उसी ओर उलझता चला जाता है। इसीलिए कबीर उसे 'अहेरनी' के रूप में देखते हैं। उनका विश्वास है कि राम की यह माया शिकार खेलने के लिए ही निकली है।

> "तू माया रघुनाथ की खेलण चली अहेड़ै।
> चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे, न छोड़्या नेड़ै॥
>
> —कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५१

वेदान्त के अनुसार संत-साहित्य में यह माना गया है कि माया ब्रह्मोपासना में बाधक है। यह अपने मोहक रूप द्वारा पहले तो सांसारिक प्राणियों को अपनी ओर आकृष्ट करती है, और तत्पश्चात् कोल्हू के बैल की तरह उनसे मन चाहे काम करवाया करती है।

संतों ने माया के अविद्यात्मक रूप की ही विशेष चर्चा की है। उनका यह विश्वास है कि ब्रह्मोपासना में सबसे बड़ी बाधा माया की ही है। इसीलिए वे इसे नारी, बिलाई, ताना, गंग, महतारी, कन्या, नाग, नागिन, डाइन, ठगिनी, नटनी, छुरी आदि अनेक रूपों में कहीं तो प्रतीकात्मक शैली में और कहीं रूपक-योजना द्वारा वर्णन करते हैं। संत-साहित्य में माया के कतिपय रूप इस प्रकार हैं—

नारी

> नारी नाँहि निहारिये, करै नैन की चोट।
> कोई एक हरि जन ऊबरे, पारब्रह्म की ओट॥
>
> —मलूकदास की बानी, पृष्ठ ३९
>
> (नारि—माया। नैन की चोट—मायात्मक रूप में फँसाना।)

बिलाई

> मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
> अचरज एक देखहु हो संतों, हस्ती सिंघहिं खाय॥
>
> —क० बी०, पृष्ठ ५
>
> (मूस—जीव। बिलाई—माया।)

बिल्ली का दुख दहै जोर मारे पिंजरा तोर तोर ।

—दरिया (मारवाड़) बानी, पृष्ठ ३९

(बिल्ली—माया । पिंजरा—शरीर ।)

ताना

अस जोलहा केहु मरम न जाना, जिन जग आय पसारिन्हि ताना ।

—क० बी०, पृष्ठ १०

(जोलहा—ब्रह्म । ताना—माया ।)

गंग

नारी एक पुरुष दुइ जाया बूझहु पंडित ग्यानी ।
पाहन फोरि गंग एक निकसी, चहूं दिस पानी पानी ।।

—क० बी०, पृ० २८

(पाहन—ब्रह्म । गंग—माया । चहुं दिस पानी पानी—सर्वत्र माया का प्रसार)

महतारी

संतो अचरज एक भो भारी, पुत्र धइल महतारी ।

—क० बी०, पृष्ठ ३०

(पुत्र—जीवात्मा । महतारी—माया ।)

कन्या

पिता के संगे भई बावरी, कन्या रहल कुमारी ।

—क० बी०, पृष्ठ ३०

(पिता—ब्रह्म । कन्या—माया ।)

डाइन

यह जग जैसे सुपन है सुनहु बचन परमान ।
यह माया जस डाइनी, हरहि लेति है प्रान ।।

—बुल्ला०, पृ० २९

(डाइन—माया ।)

छुरी

माया मिसरी की छुरी मत कोई पतियाय ।

—मलूकदास की बानी, पृष्ठ ३६

(मिसरी की छुरी—माया का मोहक रूप)

दुलहिन

दुलहिनि लीपि चौक बैठायो, निरभय पद परगासा।

—क० बी०, पृष्ठ ३८

(दुलहिन—माया।)

ठगनी

संग लागी मेरे ठगनी जानि पड़ी।
हमरे बलम के प्रेम पट्का चूनर लेत सुहाग भरी।

—क० शब्दावली, भाग-३, पृष्ठ ५४

(ठगनी—माया। बलम—ब्रह्म।)

कामिनि

कामिनि रूपी सकल कबीरा, मृगा चरिंदा होई।
बड़ बड़ ग्यानी मुनियर थाके, पकरि सकै नहिं कोई।।

—क० बी०, पृष्ठ ५९

(कामिनी—माया)

माय

देखहु लोगा हरि कै सगाई, माय धरै पुत्र धिया संग जाई।
सासु ननंद मिलि अदल चलाई, मादरिया ग्रिह बेटी जाई।।

—क० बी०, पृष्ठ ६४

(माय—माया)

जेठानी

राउर की कछु खबरि न जानहु, कैसे क झगरा निबरेहु हो।
एक गांव में पांच तरुनि बसैं, तामह जेठ जेठानी हो।।

—क० बी०, पृष्ठ ७५

(गांव—शरीर। पांच तरुनि—पांच ज्ञानेन्द्रियां। जेठानी—माया।)

बुढ़िया

जान पुरुषवा मोर अहार, अनजाने पर करौं सिंगार।
कहंहि कबीर बुढ़िया आनंद गाय, पूत भतारहिं बैठी खाय।।

—क० बी०, पृष्ठ ८१

(बुढ़िया—माया। पूत—जीवात्मा। भतार—ईश्वर।)

सांपिनि

सांपिन इक सब जीव कौं, आगे पीछे खाइ ।

—दादू० बानी-१, पृ० १२३

चंदन सर्प लपेटिया, चन्दन काह कराय ।।

—क० बी०, पृष्ठ ४२०

(सांपिन, सर्प—माया । चन्दन—जीव ।)

नागिन

चिंता घट में नागिनी, ताके मुख हैं दोय ।
निसिदिन खाए जात है, जान सकत नहिं कोय ।।

—चरनदास की बानी, पृ० २२

(नागिनी—माया ।)

डारी (डाल)

तामस केरे तीनि गुन, भंवर लेहिं तहं बास ।
एकै डारी तीनि फल, भांटा, ऊख, कपास ।।

—कबीर बीजक, पृष्ठ १०५

(डारी—माया । तीन फल—तीन गुण—सत, रज, तम ।)

पवन

माया मोह पवन लगि भूला, सहजो गोद पालने झूला ।।

—सहजोबाई की बानी, पृष्ठ २४

बेलरी

ये गुनवंती बेलरी, तव गुन बरनि न जाय ।
जर काटे ते हरियरी, सींचे ते कुंभिलाय ।।

—क० बी०, पृष्ठ १११

(बेलरी—माया ।)

कीड़ी

मूनें येह अचम्भो थाए ।
कीड़ी ये हस्ती बिडार्यो तेन्हैं बैठी खाए ।

—दा० द०, (भाग-२), पृ० ९१

(कीड़ी—माया । हस्ती—मन ।)

कामधेनु

अवधू कामधेनु गहि राखी ।

—दादू० (भा०-२), पृष्ठ ३२

हस्तिनी

मन हस्ती माया हस्तिनी सघन बन संसार ।

—दादू० की बानी १, पृष्ठ १२

चेरी-दासी-ठकुरानी

माया चेरी संत की, दासी उस दरबार ।
ठकुराणी सब जगत की, तीन्यूं लोक मझार ।।

—दादू० की बानी (भाग-१), पृष्ठ १२६

जोगणि

जोगणि ह्वै जोगी गहे, सोफणि ह्वै करि सेस ।

—दादू० की बानी, (भाग-१), पृष्ठ १२६

(जोगणि—माया ।)

भगतणि

भगतणि ह्वै भगता गहे, करि करि नाना भेस ।।

—दादू० की बानी, भाग—२, पृ० १२६

(भगतणि—माया)

नटणी

माया बहुरूपी नटणी नाचै सुर नर मुनि कूं मोहै ।

—दादू० की बानी, (भाग—१), पृ० १३९

चक्की

माया की चक्की चलै पीसि गया संसार ।

—पलटू—संतबानी संग्रह १, पृष्ठ २०१

इनके अतिरिक्त भामिनि, दरिया, दीपक, घहराई, बांझ, गैया, बिल्ली, मालिनि, कूकुरी, चूहड़ी आदि कितने ही अन्यान्य रूपों में इसका स्मरण संत-साहित्य में पाया जाता है ।

संसार

ईश्वर के अनेक नामों में एक नाम कवि भी है । यह विस्तृत संसार उसी

विराट कवि की महान रचना है । उसकी 'एकोऽहं बहुस्याम' की कामना ही इस काव्य रूप संसार के मूल में विद्यमान है । उपनिषद् के ऋषियों का मत है कि ओउम् शब्द द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति हुई है । इसी ओ३म् अर्थात् शब्द ब्रह्म में पुरुष और प्रकृति, ईश्वर और उसकी शक्ति माया विद्यमान है । जहाँ तक शब्द के द्वारा सृष्टि के विकास का संबंध है, यह मानना पड़ेगा कि अन्य धर्मों में भी इसी के अनुरूप सृष्टि की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है । संत योहेन की पुस्तक में दिया हुआ विवरण भी सृष्टि की उत्पत्ति में शब्द के महत्व को स्वीकार करता है । उसमें कहा गया है "आरम्भ में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था, शब्द ही ईश्वर था । आदि में वह ईश्वर के साथ था । सब वस्तुयें उसी ने बनायीं ।"[1] इस्लाम धर्म की यह मान्यता है कि अल्लाह् के 'कुन' शब्द का उच्चारण किया और इस समस्त विश्व की रचना हो गई । संत कवि भी ओंकार शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं । कबीर का "ओंकारे जग ऊपजे"[2] कथन सृष्टि के विकास-क्रम में नाद-बिन्दु के महत्व का प्रतिपादन करता है ।

मानव शरीर का निर्माण पांच तत्वों क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर से हुआ है । दादूदयाल का कथन है कि ब्रह्म ने पहले ओंकार शब्द किया फिर ओंकार शब्द से ये पाँचों तत्व उत्पन्न हुए और तत्पश्चात् इन तत्वों के सम्मिश्रण से मानव-शरीर बना–

पहली कीया आप थें, उत्पत्ती ओंकार ।
ओंकार थें उपजै पंच तत्त आकार ।।
पंच तत्त से घट भया बहुविधि सब विस्तार ।
दादू घट तें उपजे 'मैं' तें वरण विचार ।।

–संतवानी संग्रह १, पृष्ठ ७७

वेदान्तियों का कथन है कि ब्रह्म ही जीव रूप में प्रवेश करके नाम और रूप के भेद को खड़ा करता है–

अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरोत ।

–छान्दोग्य ६।३।३

तन्नामरूपाभ्यां व्यक्रियत । –बृह० १।५।७

वस्तुतः वही विराट ब्रह्म सृष्टि के व्यापारों–रूपों में विद्यमान है । इस सृष्टि का समस्त शोभा-विधान केवल उसी के अस्तित्व का परिणाम है–

राजा हि कं भुवनानामिश्रीः । –ऋ० १–७–६–१

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १३३ से उद्धृत
२. कबीर ग्रंथावली, पृ० १२६ ।

यदि वह न हो तो वस्तु का मूल्य ही क्या है। मानव-शरीर को ही ले लीजिए। इसमें प्राण रूप होकर वही तो समाया हुआ है। उसके निकलते ही शरीर मिट्टी बन जाता है। उसकी शोभा-सम्पन्नता तत्क्षण ही विलुप्त हो जाती है। संत कवि दादू उसी विराट को 'ओंकार सबद' का नाम देते हुए उसकी सर्वव्यापकता का निरूपण करते हैं–

> आदि सब्द ओंकार है, बोले सब घट माँहि।
> दादू माया विस्तरी परम तत्त यह नाँहि॥

सब घट में उस शब्द का होना तो घट के आकर्षण का एक मात्र हेतु है। उसके अभाव में घट (शरीर) का मूल्य ही क्या ?

संतों ने सृष्टि विवेचन में जिन प्रमुख वस्तुओं का बार-बार निरूपण किया है वे ये हैं[1]–

१. तीन गुण–सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण।

२. पांच तत्व–क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर।

३. पंच तन्मात्राएँ–शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श।

४. पंच ज्ञानेन्द्रियाँ–श्रोत, नेत्र, जिह्वा, नासिका और त्वचा।

इसके अतिरिक्त पाँचों तत्वों में से प्रत्येक तत्व की पांच-पांच प्रकृतियों के हिसाब से पच्चीस प्रकृतियों के साथ ही साथ मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, महतत्व का भी सृष्टि-निर्माण में योग है। इन सबका योग व्यर्थ सिद्ध हुआ होता यदि सृष्टिनिर्माण-क्रिया में इन सब के साथ प्रकृति और पुरुष का योग न हुआ होता। सृष्टि-निर्माण में इतने महत्वपूर्ण उपकरणों, की सनियोजना तो हुई, पर इसका परिणाम क्या ? परिणाम विनाश के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है! संत कवि सुन्दरदास सृष्टि के उपकरणों का विवेचन करते हुए इसे मिथ्या-भ्रम मानते हैं–

> ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
> प्रकृति में महतत्व पुनि अहंकार है।
> अहंकार हूं ते तीन गुन सत्व रज तम,
> तम हूं ते महाभूत विषय पसार है।

१. प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहंकारस्तमाद्गुणाश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंच भूतानि॥

–सांख्य कारिका, २२

रज हूं ते इन्द्री दश पृथक पृथक भई,
सत्व हूं ते मन आदि देवता विचार है।
ऐसें अनुक्रम करि शिष्य सौं कहत गुरु,
सुन्दर सकल यह मिथ्या भ्रम जार है।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ५९०

वस्तुत: यह विस्तृत संसार उस परम सूक्ष्म का ही स्थूल रूप है। कुल काल पश्चात क्रमश: यह स्थूल जगत अपने कारण-भूत सूक्ष्म ब्रह्म में ही विलीन होता जाता है। यही प्रक्रिया अनादि काल से चली जा रही है। संत सुन्दर दास इसी तथ्य को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

मृत्तिका समाइ रही भाजन के रूप मांहि,
मृत्तिका को नाम मिटि भाजन ही गह्यो है।
सुन्दर कहत यह योंही करि जानो,
ब्रह्म ही जगत होइ ब्रह्म दूरि रह्यो है।

—सुन्दर ग्रंथावली, पृ० ६००

और भी—

घट फूटें जल गयौ बिलै है अंतहकरण कहै नाँहि कोई।
तब प्रतिबिंब मिलै शशि बिंबहिं सुन्दरजीव ब्रह्ममय होई।

—सुन्दर ग्रंथावली, पृ० ६०१

कबीर संसार के निर्माण और विनाश की क्रिया को देख कर कहते हैं—

संतौ धागा टूटा गगन बिनसि गया, सबद जु कहां समाई।
ए संसा मोहि निसि दिन ब्यापैं, कोइ न कहै समझाई॥
नहीं ब्रह्मांड प्यंड पुनि नाहीं, पंच तत भी नाहीं।
इला प्यंगुला सुषमन नाहीं, ए गुण कहां समाहीं॥
नहीं ग्रिह द्वार कछू नहीं तहियां रचनहार पुनि नांहीं।
जोवनहार अतीत सदा संगि, ये गुण तहां समांहीं॥

—कबीर ग्रंथावली, पृ० ९८-९९

नानक भी संसार की असारता का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

जो कुछ दीसे सकल बिनासे ज्यों बादल की छांहीं।
जन नानक यह जग झूठा रहो राम सरनाहीं॥

—संतबानी संग्रह २, पृ० ५४

दृश्यमान जगत की व्याख्या करते हुए संतों ने प्रतीकात्मक शैली का भी

प्रयोग किया है । इन प्रयोगों में से कतिपय प्रयोग इस प्रकार हैं—

चौहटे

चौहटे च्यन्तामणि चढ़ी, हाड़ी मारति हाथ

—क० ग्रं०, पृष्ठ १४

(चौहटे–संसार)

परदेश

पंषि उड़ानी गगन कूं, प्यंड रहा परदेश ।

—क० ग्रं०, पृष्ठ १४

(परदेश–संसार)

आसणि

झल उठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि ।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही भमूति ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ११

(आसणि–संसार)

बन

अहेड़ी दौ लाइया, मृग पुकारे रोइ ।
जा बन में क्रीड़ा करी, दाझत है बन सोइ ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ १२

(बन–संसार)

हटवाड़ा

जग हटवाड़ा, स्वाद ठग, माया बेसा लाइ ।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ३२

(हटवाड़ा–संसार)

सायर

बगुली नीर बिटालिया सायर चढ़्या कलंक ।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ३५

(सायर–संसार)

आरणि

कबीर आरणि पैसि करि पीछे रहे सो सूर ।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ६८

(आरणि–अरण्य जंगल–संसार)

पात

तिरदेवा साखा भये पात भया संसार ।

—संतवानी संग्रह, पृष्ठ २३

(पात—संसार)

साँप

मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै साँप पहरइया ।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ११३

इसी प्रकार अन्य संतों ने भी संसार की विवेचना प्रतीकात्मक शैली में की है ।

मन

मानव-मन की व्याख्या करते हुए वैदिक ऋषि का कथन है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदुसुप्तस्य तथैवैति ।
दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु[1] ।"

—यजु० अ० ३४, मंत्र-१

जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में मन गतिमान रहता है । पर सुषुप्ति में वह अपने में ही लीन हो जाता है । इसकी गति बड़ी ही तीव्र और सर्वत्र है । यह कभी अहं तत्व के पास रहता है और कभी तद्भिन्न जगत में फँसकर दूर हो जाता है । वसन्त की शोभा, ग्रीष्म का उत्ताप, पावस की फुहार, शरद् की चाँदनी, हेमन्त का शीत और शिशिर का पाला यदि किसी के लिए है तो इसी मन के लिए । प्रकृति का समस्त वैभव-उसका समस्त प्रेयस स्वरूप व्यर्थ हुआ होता यदि उसका उपभोक्ता मानव-मन न होता । यह मन यद्यपि हमारा है, पर हमें छोड़कर हमसे बहुत दूर चला जाता है । अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसे पकड़ने की युक्ति का विधान किया गया है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ६।३५

परमात्मा में मन को लीन करने के लिए जो सोत्साह यत्न किया जाता है

१. जाग्रत अवस्था में जो दूर चला जाता है और सुप्तावस्था में जी भी जो उसी प्रकार दूर तक गतिमान रहता है, ऐसा दिव्य गुण-संपन्न और प्रकाशकों (विषय का साक्षात्कार करने वाली इन्द्रियों) का प्रकाशक यह मेरा मन कल्याणकारी संकल्प वाला हो ।

उसी का नाम 'अभ्यास' है । "तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।" योगदर्शन । सुदीर्घ काल तक परम श्रद्धा से युक्त होकर निरन्तर अभ्यास करते रहने का एक सत् परिणाम यह होता है कि चित्त को एक ऐसा दृढ़ आधार प्राप्त हो जाता है जहाँ से फिर वह कठिनाई से हटता है । मानव-मन संकल्प-विकल्प करने वाला है । इन्द्रियों द्वारा संचालित यह चंचल मन न जाने कितनी कल्पनायें करता रहता है । उसे व्यर्थ की कल्पनाओं-संकल्पों आदि के चक्र में न पड़ने देना ही 'वैराग्य' है । अभ्यास के माध्यम से चित्त की अन्तर्मुखी स्थिति होने पर वैराग्य का उदय होना निश्चित है । योगदर्शन के व्यास-भाष्य में अभ्यास और वैराग्य के महत्व का निरूपण करते हुए कहा गया है—

> "चित्त नाम नदी उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च । या तु कैवल्य प्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना साकल्याण वहा । संसार प्राग्भारा अविवेक विषय निम्ना पापवहा । तत्र वैराग्येण विषय स्रोतः खिलीक्रियते, अभ्यासेन कल्याण स्रोतः उद्‌घाट्यते इत्यभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।"

चित्त रूपी नदी की उभय-गति है । यह कल्याण और पाप दोनों ओर प्रवाहित होती है । जो कैवल्य रूपी उच्च भूमि से विवेक की ओर बहने वाली है वह कल्याणवहा है, जो संसार प्राग्भार से अविवेक-विषय प्रति प्रवाहित होती है वह पापवहा है । अस्तु वैराग्य के अभ्यास द्वारा विषयादि स्रोतों को रोक कर मन का निरोध करना आवश्यक है जिससे मन का निश्चलतारूपी परम कल्याण स्रोत उद्‌घाटित हो सके । पातञ्जल दर्शन में भी मन की चंचलता का निरोध करने के लिये अभ्यास और वैराग्य का ही आश्रय ग्रहण किया गया है ।

> "अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।"
>
> —पातञ्जल दर्शन, द्वादश सूत्र ।

योग की स्थिति की संप्राप्ति मन के संयत होने पर ही संभव है । भगवती गीता का कथन है—

> असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
> वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥
>
> —गीता, ६/३६,

मानव-मन का समस्त व्यापार दो भागों में विभक्त हो सकता है, एक बाह्य-पक्ष और दूसरा ऐकान्तिक पक्ष । पहली अवस्था में वह उदैति होता है । इस दशा में वह 'स्व' से बाहर जिस जगत में विचरण करता है वही इसका बाह्यपक्ष है । मन की इसी गति के द्वारा मनुष्य का लोक—व्यवहार चलता है । अहंता का बोध भी मन का ही व्यापार है । अहंता का बोध होने पर ही मन बाह्य जगत में विचरण करता

है । इस विचरण-काल में बहिर्मुखी प्रवृत्ति मन पर बाह्य जगत का आवरण डाल कर उसके शुद्ध अहंभाव को कभी-कभी इतना अधिक आच्छादित कर देती है कि उसकी अनुभूति ही दुर्लभ हो जाती है । मानव-मन की ये बहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ उसकी समस्त कोमल वृत्तियों को प्रायः कुंठित कर देती हैं । ऐसी स्थिति में उसके लिए न तो प्रकृति में ही कोई सौन्दर्य रहता है और न मानव-जगत का सौन्दर्य और न हृदय एवं प्राणों की मूक भाषा ही कोई महत्व रखती है । जगत में उलझा हुआ मन जागतिक अनुभूतियों के संस्कार अधिक ग्रहण करता है । ये संस्कार उसके चेतना-केन्द्र में पहुँच कर धीरे-धीरे उसकी समस्त परिधि को आवृत्त कर लेते हैं । प्रायः ऐसा मन संसार के स्थूल व्यापार में इतना अधिक उलझ जाता है कि उसके कोमल स्वरूप की ओर उसकी दृष्टि भी नहीं जाती है । बहिर्मुखी प्रवृत्ति की यह तीव्रता जहाँ उसकी अन्य वृत्तियों को दबा देती है वहाँ उसके 'स्व' को अत्यधिक तीव्र भी कर देती है । उसके स्वाधिकार की सीमा इतनी अधिक विस्तृत हो जाती है कि उसका लोक-व्यवहार भी संतुलित गति पर नहीं चल पाता ।

मन की दूसरी वृत्ति का रूप ऐकान्तिक है । प्राणी को उसकी किशोरावस्था में ही 'अहं-बोध' हो जाता है और अनुकूल परिस्थितियों के प्राप्त होने पर यह 'अहं-बोध' अपने विस्तार का यत्न करने लगता है । वह जो कुछ भी देखता है उसे अपना कहना चाहता है । आगे चल कर उसमें 'अनादि—वासना' जाग्रत होती है और यही वह काल है जब कोमल वृत्तियों के पल्लवित होने का अवसर उपस्थित होता है । समस्त कोमल वृत्तियों के अन्तस्तल में ऐकान्तिक प्रवृत्ति ही कार्य करती हुई परिलक्षित होती है । यहाँ भी मन की गति दो स्पष्ट दिशाओं की ओर देखी जा सकती है । एक ओर दौड़ता हुआ मन समस्त जगत को समेट कर अपने में ही लीन कर लेना चाहता है और दूसरी ओर अपने को समस्त जगत में बिखेर देना चाहता है । एक दिशा में वह संग्रह की ओर दौड़ता है और दूसरी दिशा में त्याग की ओर। पहली दिशा में लोभ उसका सहायक होता है और दूसरी दिशा में सार्वभौमिकता का भाव ।

मन की संग्रह और त्याग की प्रवृत्तियाँ ये दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं, वस्तुतः ये एक ही प्रवृत्ति के दो विभिन्न रूप हैं । भावात्मक स्वत्व की धारा का उद्गम स्थान संग्रह प्रवृत्ति है और संगम-स्थान उसकी त्याग प्रवृत्ति । गंगोत्री में दिव्य जल-संग्रह करने वाली भागीरथी जिस प्रकार संग्रह में प्रवृत्त होकर अपने अस्तित्व का निर्माण करती है ठीक उसी प्रकार प्राथमिक 'अहं बोध' के उत्पन्न होने पर संग्रह-प्रवृत्ति के द्वारा जीवन 'जीवन' का संचय करता है । गंगा अजस्र और अश्रांत गति से बहती हुई जब समुद्र को अपना समस्त जल निष्काम भाव से दे देती है तब मानों वह स्वत्व-परित्याग करती है । इस मार्ग में चलती हुई उसकी सत्ता कहीं पर विच्छिन्न

होकर विभक्त नहीं होती है, वरन् एकरस प्रवाहित रहती है। ठीक इसी प्रकार भावात्मक अहं संग्रह करके त्याग तक पहुँचता हुआ एक ही बना रहता है और अन्त में अपने लिए सबको बिखेर कर 'स्वत्व' का विनाश कर देता है।

आध्यात्मिक और ऐकान्तिक प्रवृत्ति

'स्व' की इस अनुभूति के साथ ही मानव-मन की गति संग्रह करते हुए जब भीतर की ओर मुड़ जाती है और केवल अपनी ही ओर देखने लगती है तब उसे अपनी वर्तमान स्थिति से संतोष नहीं रहता है। 'स्व' की सतत जागरूकता उसके उद्वेग का कारण बनने लगती है। और कदाचित् इसी उद्वेग की स्थिति में वह सोचने लगता है—

'यदल्पं तद् दुःखम्, यद् भूमा तत् सुखम्

अथवा

"तत्र को मोहः। कः शोकः। एकत्वमनुपश्यतः।"

यह एकत्व की अनुभूति व्यक्ति के लिए आत्यन्तिक हित और उसका चरम साध्य है। मन की यह ऐकान्तिक वृत्ति कठिनता से प्राप्त होती है। संत जन संयम अभ्यास और वैराग्य द्वारा इस स्थिति को प्राप्त करते आए हैं। परन्तु इस स्थिति के प्राप्त होते ही वे जिस संसार में पहुँच गये हैं, उस संसार के विषय में कहा गया है कि वह "यत्र वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" है। मन के साथ वाणी वहाँ पहुँचने का यत्न करके लौट आती है, अर्थात् यह स्थान वाणी का विषय नहीं बन सकता। प्रायः यह देखा गया है कि मन उस स्थान पर कभी-कभी पहुँच तो जाता है, पर वहाँ टिक नहीं पाता है। उसकी चंचल वृत्तियाँ पुनः जागतिक व्यवहारों की ओर लौट कर नाना प्रकार के रूप धारण करने लगती हैं। इसीलिए संतों ने उसे अनेक रूपों में स्मरण करके उसके भिन्न-भिन्न क्रिया व्यापारों का विवेचन किया है। यथा—

पषान के ताला

माटी कै कोट पषान कै ताला, सोई बन सोई रखवाला।
सो बन देखत जीव डेराना, ब्राह्मन वैस्नव एकै जाना॥

—क० बी०, पृ० ५

(माटी कै कोट—शरीर। पषान कै ताला—मन।)

एकै भाव सकल जग देखी, बाहर परे सो होय बिबेकी।
बिषै मोह कै फंद छोड़ाई, तहाँ जाय जहाँ काट कसाई॥

—क० बी०, पृ० ७

(कसाई—मन)

गुड़ी

यहु मन कागद की गुड़ी, उड़ि चढ़ी आकास ।

—दादू० की बानी (भाग-१), पृष्ठ १०८

दगाबाज

मन सौ न कोऊ हम जान्यो दगाबाज है ॥

—सुन्दर ग्रंथावली, पृष्ठ ४४

(जिस प्रकार दगाबाज व्यक्ति धोखा देता है वैसे ही मन भी धोखा देने वाला है ।)

ससै

बिनु चरनन को दहुं दिस धावै, बिनु लोचन जग सूझे ।
ससै उलटि सिंघ को ग्रासै, ई अचरज को बूझै ॥

—क० बी०, पृष्ठ २८

(ससै—मन । सिंघ—आत्मा)

पारथि

पैठि गुफा महं सब जग देखै, बाहर कछुवो न सूझै ।
उलटा बान पारथिहि लागे, सूरा होय सो बूझै ॥

—क० बी०, पृष्ठ २८

(गुफा—हृदय । पारथि—मन)

नदी

बिना पिग्राला अमृत अंचवै, नदी नीर भरि राखै ।
कहैं कबीर सो जुग जुग जीवै, राम सुधा रस चाखै ॥

—क० बी०, पृष्ठ २९

(बिना पिग्राला—बिना साधन । नदी—मन)

नकटा

नकटी आगै नकटा नाचै, नकटी ताल बजावै ॥

—दादू० की बानी (भाग-१), पृष्ठ १०८

(नकटी—माया । नकटा—मन)

गज

ज्ञान अंकुस देइ के गज राखु त्रिकुटी पास ॥

—धरनीदास की बानी, पृष्ठ ३६

(गज—मन)

मच्छ

राहु मृगा संसे ठान हांकै, पारथ आना मेलै ।
सायर जरै सकल बन डाहै, मच्छ अहेरा खेलै ।।

—क० बी०, पृष्ठ ३६

(मच्छ—मन)

ठग

हरि ठग जगत ठगौरी लाई, हरि वियोग कस जियहु रे भाई ।

—क० बी०, पृष्ठ ४२

(ठग—मन)

सहदूल (शार्दूल)

नल को ढाढ़स देखहु आई, कछु अकथ कथा है भाई ।
सिंघ सहदूल एक हर जोतन्हि, सो कस बोइन्हि धाने ।।

—क० बी०, पृ० ४८

(सिंघ—आत्मा । सहदूल—मन)

श्वान, शृगाल, बिडाल, चोर आदि

स्वान कहूं कि शृगाल कहूं कि बिडाल कहूं मन की मति तैसी ।
ढेढ कहूं किधौं डूम कहूं किधौं भाँड कहूं कि भंडाइ दे जैसी ।।
चौर कहूं बटमार कहूं ठग जार कहूं उपमा कहूं कैसी ।
सुन्दर और कहा कहिए अब या मन की गति दीसत ऐसी ।।

—सुन्दर ग्रंथावली, पृष्ठ ४४७

(इस सवैया में मन को श्वान, शृगाल, बिडाल, ढेढ, भाँड, चोर बटमार, ठग, जार आदि रूपों में देखा गया है)

राजा

राजा देस बड़ो परपंची, रैयति रहत उजारी ।
इत ते ऊत, ऊत ते इत रहु, जम की साँट सवारी ।।

—क० बी०, पृष्ठ ४८

(राजा—मन)

क्षेत्रपाल

पांचो इन्द्री भूत हैं मनवां खेतरपाल ।।

—दादू० की बानी (भाग-१), पृष्ठ १०८

(खेतरपाल—क्षेत्रपाल—मन)

भूप

मुक्ति सरूप भूप मन जोते आसा सकल जराये।

—सहजोबाई की बानी, पृष्ठ ५१

बैल

रसना का हल बैल मन पवना बिरह भोम तहं बाई ।।

—दरिया०, पृष्ठ ४२

बाजीगर प्रेत

बाजीगर को सो ख्याल सुन्दर करत मन
सदाई भ्रमत रहै ऐसो कोऊ प्रेत है।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४४९

(बाजीगर प्रेत—मन)

परबत

बिनु पवनै जो परबत उडै, जिया जंतु सभ बिरछा बूड़े।

—क० बी०, पृष्ठ ६४

(परबत-मन)

चकवा

सरवर उठै हिलोर, बिनु जल चकवा करै किलोल।

—क० बी०, पृष्ठ ६४

बकुला

भौसिन्ह माँह रहत नित बकुला, तकुला ताकि न लीन्हा हो।

—क० बी०, पृष्ठ ५५

(भौसिन्ह—इन्द्रियां, बकुला—मन)

जेठ

एक गांव में पांच तरुनि बसें, तामह जेठ, जेठानी हो ।।

—क० बी०, पृष्ठ ३९

(गांव—शरीर। पाँच तरुनि—पाँच इन्द्रियां। जेठ—मन)

भुवंग

मन भुवंग बहु विष भर्‌या, निर्विष क्यों हू न होइ ।।

—दादू० की बानी, (भाग-१), पृष्ठ ११२

(भुवंगरूपी मन विष रूप विकारों से युक्त है ।)

करहा

बन ते भागि बिहड़े परा, करहा अपनी बान ।
बेदन करहा कासों कहै, को करहा को जान ।।

—क० बी०, पृष्ठ ९३

(करहा—मन)

स्वान

यह मन नेक न कह्यौ करै ।
स्वान पूछ ज्यों होय न सूधो कह्यो न कान धरै ।

—नानक (संतबानी संग्रह, भाग-२) पृष्ठ ४९

(जिस प्रकार श्वान की पूछ प्रयत्न करने पर भी सीधी नहीं होती उसी प्रकार मन भी वश में नहीं रहता । उसकी गति सदा वक्र बनी रहती है ।)

मानुष बिचारा का करै, ककहै न खेलै कपाट ।
स्वान चौक बैठाइये, पुनि पुनि ऐपन चाट ।।

—क० बी०, पृष्ठ १०२

(जिस प्रकार स्वान ऐपन ही चाटेगा जो उसे नहीं चाटना चाहिए, क्योंकि उसके चाटने से कुछ लाभ नहीं होता है । उसी प्रकार मन भी व्यर्थ के कामों में फँसता है ।)

बिना मूड का चोर

तीन लोक चोरी भई, सब का सरबस लीन ।
बिना मूंड का चोरवा, परा न काहू चीन्ह ।।

—क० बी०, पृष्ठ १०३

(बिना मूँड का चोर—निराकार मन ।)

मिरगा (मृग)

मन मिरगा मारे सदा ताका मीठा मांस ।

—दादू० की बानी, (भाग-१,) पृष्ठ ११०

(मन रूप मृग)

हस्ती

मन हस्ती माता बहै, अंकुस दे दे राखि ।

दादू० की बानी, (भाग-१) पृष्ठ १०३

(मन रूपी हस्ती को संयम रूपी अंकुश से वश में रखना है ।)

गयन्द

मन गयन्द मानै नहीं, चलै सुरति के साथ ।
दीन महावत का करै, अंकुश नाहीं हाथ ॥

—क० बी०, पृष्ठ १०५

(मन रूप गयन्द । संयम रूप अंकुश)

मींडका

दादू यहु मन मींडका, जल सौं जीवै सोइ ।।

—दादू० की बानी (भाग-१) पृष्ठ १११

संत साहित्य में मन के लिए लगवार, लहट, विषहर, पुत्र, सावज, सिंघ, भंवर, भुजा, स्यार, रोहू, नौका, घोरा, हिंडोला, व्याधा आदि कितने ही प्रतीकों अथवा रूपकों का प्रयोग किया गया है ।

शरीर

शरीर प्राकृतिक सम्पत्ति है जो जीव को उसके कर्मों के अनुसार प्राप्त होती है । तैत्तरीय उपनिषदकार ने लिखा है कि जैसा मानव का आत्मा है उसी के अनुकूल उसका विज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा के ही अनुकूल मनोमय आत्मा, मनोमय आत्मा के अनुकूल प्राणमय आत्मा और उसके अनुकूल यह दृश्यमान पाञ्च भौतिक शरीर है । प्रत्येक मानव की कर्मसम्पत्ति उसकी अपनी अर्जित की हुई है और परिणामतः दूसरे की कर्मसम्पत्ति से भिन्न है । इसीलिए यहाँ न सत्र की बुद्धि एक सी है, न मनन-शक्ति, न प्राणशक्ति और न शरीर । पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय सबके मुख कठोपनिषद के अनुसार बाहर शरीर में खुले हुए हैं जो गोलक कहलाते हैं । समस्त इन्द्रियों की शक्ति इन्हीं शारीरिक गोलकों द्वारा अपना आहार ग्रहण करती है और मन में समा जाती है । क्रिया-शक्ति का मुख्य अधिष्ठान शरीर ही है ।

मानव-शरीर अन्य प्राणियों के शरीरों से भिन्न है । वृक्ष यदि शीर्षासन की अवस्था में अपना सिर नीचे किए हुए हैं और पैर ऊपर को फैलाए हैं तो चतुष्पदों की अवस्था में पैर तो नीचे हैं परन्तु सिर ऊपर न होकर धड़ की समानान्तर स्थिति

में है। मानव के शरीर में सिर ऊपर है। हाथ और पैर नीचे लटके हैं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि मानव की चेतना, मानव की आलोक शक्ति, मानव की दर्शन, श्रवण और भाषण की शक्ति उर्ध्वगामिनी है। मानव शरीर का महत्व उसकी इसी ऊर्ध्वगा शक्ति में निहित है।

मानव शरीर वह देहली है जहाँ से हम चाहें तो दिव्यता में प्रवेश कर सकते हैं। स्वर्ग सुख ही नहीं, साक्षात् आनन्द के धाम परमपिता परमात्मा के साथ एक हो सकते हैं और यदि अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगें तो निऋति के घोर अभिशापमय कृच्छ कंटकापन्न गर्त में भी गिर सकते हैं। संतों का कथन है कि मानव-शरीर बड़ी कठिनाई से उपलब्ध होता है। निम्न योनियों के जाने कितने दारुण कष्ट सहन करने के उपरान्त मानव इस शरीर में आता है। इसीलिए मानव को इस शरीर द्वारा ऐसा कोई अर्जन करना चाहिए जो इसे ऊपर उठा सके।

शरीर पल-पल में विशीर्णता की ओर चलता रहता है। इसका स्वभाव ही जरण और मरण है। दिन भर कार्य करने के उपरान्त यदि शरीर को पोषण की सामग्री न मिले तो यह कार्य करने में अशक्त हो जाता है। अशना और पिपासा इसके जन्मजात संगी है। उचित व्यवहार पूर्वक यदि इसे प्रयोग में लाया जाय तो यह आत्मा का अतीव उपकारक सिद्ध हो जाता है। वेद ने शरीर को वृक्ष से उपमित किया है जिस पर बैठा हुआ जीवात्मा विविध प्रकार के फलों का उपभोग करता है। संतों ने वृक्ष के अतिरिक्त इसे और भी कई रूपों में देखा है। यह ऐसा घर है जिसे स्थपित अथवा वास्तुकार ने रच तो दिया है परन्तु इसमें कई सेंधें भी लगी हुई हैं जो यदि उपभोग की चौड़ाई में बढ़ती गई तो एक दिन इसे नष्ट-भ्रष्ट कर देंगी। यह ऐसा खेत है जिसकी फसल को खा जाने के लिए अनेक चिड़ियाँ घात लगाये बैठी रहती हैं। यह आखेट्य पशु है जो किसी भी समय मृत्यु रूपी वधिक का लक्ष्य बन सकता है। आवश्यकता है सावधानता की जिससे सदुपयोग के बन्धन द्वारा इसे प्रदीप्त किया जा सके जिसका तेज समस्त दिशाओं में फैल सके। मन ज्ञान से भासमान हो उठे और बुद्धि ज्योति से प्रकाशित हो सके।

संत साहित्य में शरीर की व्याख्या के लिए जिन विभिन्न प्रतीकों एवं रूपकों का आश्रय लिया गया है उनमें से कतिपय रूप इस प्रकार हैं—

माटी के कोट—

माटी के कोट पषान के ताला, सोई बन सोई रखवाला।

—क० बी० पृ० ५

(माटी का कोट (किला) अर्थात् मिट्टी का शरीर। पषान का ताला अर्थात् कर्म रूपी बंधन।)

वन—

तीसर बूढ़े पारथ भाई, जिन वन डाहो दवा लगाई ।

—क० बी० पृ० ५

(जैसे वन में दावाग्नि लगकर उसे नष्ट कर देती है वैसे ही शरीर को विषय विकार नष्ट कर देते हैं)

नाव

मीन जाल भौ ई संसारा, लोह के नाव पषान कै मारा ।

—क० बी०, पृष्ठ १५

(लोहा जल में तैरता नहीं । अस्तु लोहे की नाव डूब जायगी और यदि उस पर पत्थर लदे होंगे तो और भी शीघ्र डूबेगी । इसी प्रकार नाव रूप शरीर पत्थर रूप कर्मों के भार से नष्ट हो रहा है ।)

घर

दुरमति के दोहागिन मेटे, ढोरहि चाँप चपेरे ।
कहँहि कबीर सोई जन मेरा जो घर की रारि निबेरे ॥

—क० बी०, पृष्ठ २९

(घर की रारि से तात्पर्य है शरीर के कष्ट)

पुरिया

रामुरा चली बिनावन माहो, घर छांड़े जात जुलाहो ।
गज नव गज दस गज उनइस की, पुरिया एक तनाई ॥

—क० बी०, पृष्ठ ३४

(पुरिया से तात्पर्य शरीर है । इसी में नव गज (नव चक्र) और दस गज (दस इन्द्रियाँ) ये दोनों मिलकर १९ तत्व हैं ।

पुर

पुरता में राती है गैया, सेत सींग है भाई ।
अबरन बरन किछवो नाँहि वाके, खध अखधं खाई ॥

—क० बी०, पृष्ठ ३९

(पुर—शरीर । गैया—माया । सेत सींग—सतोगुण)

सरवर

तन सरवर मन देखु विचारी

—दरिया (विहार), पृष्ठ ४०

सुनु हँसा प्यारे, सरवर तजि कहाँ जाय ।
जेहि सरवर बिच मोतिया चुनते, बहु विधि केलि कराय ।।

—क० बी०, पृष्ठ १०

(सरवर—शरीर । हंसा—प्राण । मोतिया—ज्ञान)

राजा देश बड़ो परपंची, रैयति रहत उजारी ।
इत ते उत, उत ते इत रहु, जन की सांट सँवारी ।।

—क० बी०, पृष्ठ ४८

(देश—शरीर । रैयत—इन्द्रियाँ ।)

सहर

सहर जरै पहरु सुख सोवै, कहै कुशल घर मेरा ।
पुरिया जरै वस्तु निज उबरै, बिकल राम रंग तेरा ।।

—क० बी०, पृष्ठ ४९

(सहर—शरीर । पहरू—इन्द्रियाँ)

नगर

दरिया काया नगर में पंचभूत का राज ।

—दरिया (मारवाड़) बानी, पृष्ठ ७

जोगिया फिरि गयो नगर मझारी, जाय समान पांच जहां नारी ।

—कबीर बीजक, पृष्ठ ५१

बाबा काया नगर वसावै,

—सहजोबाई की बानी, पृष्ठ ५४

(जोगिया—प्राण । नगर शरीर । पाँच नारी—पाँच इन्द्रियाँ ।
गुफा—हृदय ।)

गुफा

गयउ देसंतर कोइ न बतावे, जोगिया बहुरि गुफा नहि आवे ।

—क० बी०, पृष्ठ ५१

(गुफा—शरीर । जोगिया—जीवात्मा ।)

चरखा

जो चरखा जरिजाय बढ़ैया न मरै ।
कातौं सूत हजार चरखुला जनि जरै ।।

—क० बी०, पृष्ठ ५२

(चरखा—शरीर । बढ़ैया—आत्मा ।)

जंत्र

जंत्री जंत्र अनूपम बाजै, वाके अष्ट गगन मुख गाजै ।
तूही बाजै तूही गाजै, तूही लिए कर डोलै ॥
—क० बी०, पृष्ठ ५३

(जंत्र—शरीर । अष्ट—अष्ट चक्र ।)

खेड़ा

चेतत रावल पावन खेड़ा, सहजै मूलहिं बाँधै ।
ध्यान धनुष धरि ग्यानबान बन, जोग सार सर साधै ॥
—क० बी०, पृष्ठ ५१

(खेड़ा—शरीर । रावल—जीवात्मा ।)

काचे बासन

काचे बासन टिकै न पानी उड़िगौ हंस काया कुम्हिलानी ॥
—क० बी०, पृष्ठ ६५

(काचे बासन—मिट्टी का शरीर । हंस—जीवात्मा ।)

भुजा

काग उड़ावत भुजा पिरानी, कहँहि कबीर यह कथा सिरानी ।
—क० बी०, पृष्ठ ६५

(भुजा—शरीर । काग उड़ावत—कर्म करते करते ।)

पिंजर

विरह, अगिन तन पिंजर छीना पिवकूं कौन सुनावै रे ।
—रज्जब, (संत सुधासार), पृष्ठ ३०३

(पिंजर—शरीर)

चमरा गाँव

अटपट कुंभरा करै कुंभरैया, चमरा गाँव न बांचै हो ।
—क० बी०, पृष्ठ ३५

(चमरा गांव—चमड़े का शरीर । कुंभरा—परमात्मा ।)

कोट

काल ग्रसत है बावरे चेतत क्यों न अजान ।
सुन्दर काया कोट में होइ रह्या सुलतान ॥
—सुन्दर ग्रंथावली, पृष्ठ ७०२

(काया रूपी कोट)

गढ़

काया गढ़ ऊपर चढ़ा परसा पद निर्वान ।

—दरिया (मारवाड़) बानी, पृष्ठ १३

(गढ़—शरीर)

चीर

रंग विरंगी पहिरे चीर, हरि के चरन धरि गावै कबीर ।

—क० बी०, पृष्ठ ८०

(चीर—शरीर । रंग विरंगी—नाना प्रकार के ।)

चूनर

ऐसा रंग कहाँ है भाई ।
वा देसवा के मरम न जानै जहाँ से चूनर आई ।
या चूनर में दाग बहुत हैं, संत कहैं गुहराई ।।

—क० शब्दावली, भाग—२, पृ० ५३-५४

(चूनर—शरीर)

खेत

सुन्दर पाणी सींचतौ, क्यारी कंण कै हेत ।
चेतनि माली चलि गयौ, सूकौ काया खेत ।।

—सुन्दर ग्रंथावली, पृष्ठ ७११

(खेत—शरीर । चेतनि माली—जीवात्मा ।)

काठ की कोठी

कोठी तो है काठ की, ढिग ढिग दीन्ही आगि ।

—क० बी०, पृष्ठ ९९

(काठ की कोठी—शरीर । आगि—विषयादि रूपी अग्नि ।)

काली काठी

काली काठी कालो घुन, जतन जतन घुन खाय ।

—क० बी०, पृष्ठ १११

दीपक

कबीर निरभै राम जपि, जब लगि दीवै बाति ।
तेल घट्या बाती बुझी, सोवेगा दिन राति ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ५

चोलिया

तीन पांच मोरी चोलिया कै घुण्डी ।
लागी कुमति सुमतिया की पाती ॥

—धरमदास की बानी, पृ० ६९

(चोलिया—शरीर । तीन-तीन गुण—सत, रज, तम । पांच इन्द्रियाँ ।)

कबीर (बीजक) में शरीर के लिए मंडहर (पृ० १९) मंदिर (पृ० २१), घट (पृ० ४३), कापर (पृ० ४८), पेलना (पृ० ७५), करिगट—करगा (पृ० ८०), भवन (पृ० ८७), पेड़ (पृ० १२०) आदि कितने ही प्रतीकात्मक रूपकों का प्रयोग किया गया है। अन्य संतों ने भी कबीर के अनुकरण पर ही शरीर के लिए प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया है।

शून्य

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि से पूर्व की अवस्था को सत् एवं असत् दोनों से विलक्षण माना है। वह है अतः उसे असत् नहीं कहा जा सकता। परन्तु वह क्या है, यह भी वर्णन एवं व्याख्या से परे है। वचनीयता का विषय नहीं है। अतः उसे सत् भी नहीं कह सकते। सूक्त में सत् एवं असत् से विलक्षण अवस्था को समझाने के लिए कई शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें एक शब्द है तुच्छेन[2] जो शून्य का बोधक है। ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में इस अवस्था को 'परम व्योम'[3] भी कहा गया है। व्योम अथवा आकाश को हमारे यहाँ शून्य माना गया है। अतः परम व्योम परम शून्य है, जिसे व्योम अथवा शून्य का आधार कहा जा सकता है। शून्य अथवा परम शून्य इस रूप में सृष्टि के आदि साहित्य वेद में उपलब्ध होता है।

उपनिषद् काल में ईश्वर सम्बन्धी विवेचन शून्य की कल्पना के रूप में भी हुआ। उसे अकायम् (शरीर रहित), अव्रणम् (व्रणों से रहित), अनाविरम् (नस नाड़ियों के बन्धन में न आने वाला) आदि कहा गया।[4]

केनोपनिषद में ईश्वर का परिचय देते हुए कहा गया है कि वह निराकार होने के कारण हमारे समस्त इन्द्रिय ज्ञान से परे है।[5] इन्द्रियाँ केवल भौतिक वस्तुओं से ही परिचय प्राप्त करा सकती हैं। मानव-मन की कल्पना भी ईश्वर के सम्बन्ध में

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् । —ऋग्वेद, नासदीय सूक्त
२. तुच्छेनाभ्वपि हितं यदासीत् । —ऋग्वेद ।
३. ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधिविश्वेनिषेदुः । —ऋग्वेद १/१६४/३९
४. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ईशोपनिषद् ८ ।
५. केनोपनिषद—३

कुछ कह सकने में असमर्थ है, यद्यपि मन उसी की शक्ति पाकर क्रियाशील रहता है—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

—केनोपनिषद् १/५

मुण्डक उपनिषद् के ऋषि ने भी उसे अद्रेश्यम् (जो ज्ञानेन्द्रिय से अनुभव नहीं होता), अग्राह्यम्, अगोत्रम्, अवर्णम्, अपाणिपादम् आदि कहते हुए उसे सर्वगतम्, सूक्ष्मम् और अव्ययम् माना है।[1] ब्रह्म को शून्य की संज्ञा इसीलिए प्राप्त हुई कि वह समस्त गुणों-विशेषणों तथा प्रकृतियों से रहित है—

"सर्वविशेषरहितत्वात् शून्यवत् शून्यः ।"

दूसरी और तीसरी शताब्दी के बीच में आचार्य नागार्जुन ने शून्य सम्बन्धी सिद्धान्त पर विशेष बल दिया। अपने माध्यमिक मत का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने शून्य की विशिष्ट व्याख्या उपस्थित की। उनका कथन है—'वह न सत् है न असत् है न सत् और असत् दोनों है और न दोनों से भिन्न ही है।' इन चारों कोटियों से परे वह एक विलक्षण तत्व है—

न सन्नासन् न सदसन् न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः ।।

—माध्यमिक कारिका: ७

इसी तथ्य को नागार्जुन ने इस प्रकार कहा है[2]—

शून्यमिति न वक्तव्यं अशून्यमिति वा भवेत् ।
उभयं नोभयं नैव प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ।।

इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते तथा दोनों-शून्याशून्य भी नहीं कह सकते। यह भी नहीं कह सकते कि यह शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नहीं है।

ऐसी ही स्थिति का परिचय देने के लिए "शून्य" का प्रयोग किया जाता है। शून्य की यह परिभाषा उसे अनिर्वचनीयत्व का गुण प्रदान करती है। इसी विलक्षण तत्व को माध्यमिक मत में परमतत्व माना गया है। नागार्जुन इसी शून्यता को

---

१. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।।

—मुण्डकोपनिषद ६

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी —कबीर, पृ० ७१

'प्रतीत्य समुत्पाद्' मानते हैं ।[1] प्रतीत्य समुत्पाद् का अभिप्राय उस सिद्धान्त से है जो प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति में कारण और हेतु को मानता है । हेतु और कारण पर अवलम्बित होने के कारण उनका अपना कोई धर्म अथवा स्वभाव नहीं होता । अत: वे धर्म और स्वभाव शून्य होती हैं । कार्य-कारण की भिन्नता भी इस निष्कर्ष की ओर संकेत करती है कि कारण के बिना भी कार्य सम्भव हो सकता है । तर्क की यह प्रक्रिया नागार्जुन को संसार की समस्त वस्तुओं में शून्यता का आभास कराती है । इसीलिए नागार्जुन का विश्वास है कि दृश्यमान जगत् में जो कुछ भी प्रतिभासित हो रहा है वह सब शून्य है और यह सब उस अनन्त शून्यता के प्रवाह में बह रहे हैं।

सिद्ध-साहित्य में शून्य को 'अद्वय' तत्व, कहा गया है । यहाँ भाव तथा अभाव दोनों का ही परित्याग हो जाता है । इनकी दृष्टि से शून्यस्वभाव की संप्राप्ति परम श्रेयस्कर मानी गई है । सिद्धों ने शून्य के अतिरिक्त जिस दूसरी भावना को विशेष प्रश्रय प्रदान किया वह है करुणा का भाव । शून्यता का भाव तथा करुणा दोनों ही परस्पर पूरक रूप में हैं । शून्य एवं करुण का समन्वितरूप ही इस विस्तृत ब्रह्माण्ड का मूलधर्म माना गया ।[2]

तात्विक दृष्टि से शून्य का अर्थ है एक ऐसी परम शक्ति जो संसार के अणु-अणु में व्याप्त है । इस विस्तृत ब्रह्माण्ड का ऐसा कोई अंश नहीं है, ऐसा कोई स्थान नहीं है, ऐसा कोई काल नहीं है जहाँ वह शून्य व्याप्त न हो । वह विश्व के सभी व्यापारों, घटना-चक्रों एवं समस्त आकृतियों में व्याप्त तो है, पर स्वत: आकृति-विहीन है । वह रूप-रंग हीन होते हुए भी समस्त रूपों, रंगों का एकमात्र हेतु है । जिस प्रकार सागर की लोल लहरियाँ सागर में ही उठ कर उसी में पुन: विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार यह दृश्यमान जगत उसी से नि:सृत होकर पुन: उसी में समा जाता है ।

नाथ पंथियों ने शून्य को परमतत्व माना है । पर उसकी शून्य संबंधिनी अभिव्यंजनापद्धति में नवीनता पाई जाती है । वे इसे रूपक के द्वारा व्यक्त करते हैं–

बसती न सुन्यं, सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा ।
गगन सिखर मंहं बालक बोलै ताका नांव धरहुगे कैसा ।।

–गोरखबानी (सबदी), पृ० १

प्रस्तुत सबदी में, "गगन सिखर मंहं बालक बोलै" से तात्पर्य है 'अनहद

१. य: प्रतीत्य समुत्पाद: शून्यतां तं प्रचक्ष्महे ।
सा प्रज्ञप्तिरुदाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ।।

–माध्यमिक कारिका, २४–१८

२. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७६१

नाद'। गगन-सिखर अथवा आकाशमण्डल या ब्रह्मरंध्र में ही तो ब्रह्म का निवास माना गया है। बालक की परिकल्पना द्वारा ब्रह्म को पाप-पुण्य से रहित व्यक्त किया गया है।

संत-साहित्य की शून्य-भावना में उस समय तक चली आई शून्यसंबंधिनी प्राय: समस्त कल्पनाओं की किसी न किसी रूप में छाप पाई जाती है। हठ-योग की पद्धति में शरीर के भीतर ही शून्य की कल्पना की गई थी। त्रिकुटी (भ्रूमध्य का स्थान) में ध्यान लगाने की एक विशिष्ट यौगिक क्रिया है। इसी त्रिकुटी में ही शून्य का स्थान माना जाता है। हठयोगियों द्वारा ब्रह्मरंध्र, ब्रह्म, सुषुम्ना नाड़ी, अनाहत चक्र आदि के लिए शून्य शब्द का ही प्रयोग किया गया है। पर वस्तुत: शून्य का स्थान सहस्रारचक्र है। "नाथपंथी" लोग अपने सबसे ऊपरी सहस्रारचक्र को शून्यचक्र कहते हैं।

शून्य की स्थिति वस्तुत: समस्त द्वन्द्वातीत 'केवल' स्थिति है, जहाँ मानवात्मा समस्त राग-द्वेषों से रहित हो जाती है। इस प्रसंग में यह दृष्टव्य है कि सिद्धों, नाथों और संत कवियों ने 'शून्य' के साथ ही साथ सहज का भी प्रयोग किया है। सहज यानी सिद्धों में तो सहजानन्द ही सर्व श्रेष्ठ आनन्द माना गया है। नाथपंथी भी अपनी साधना का एक मात्र लक्ष्य मानते हैं सहजावस्था की संप्राप्ति। कबीर आदि संत कवियों की रचनाओं में भी अनेक स्थलों पर 'सहज-शून्य' का प्रयोग एक साथ ही पाया जाता है–

सहज सुंन्नि में जिन रस चाष्या, सतगुरू थैं सुधि पाई।
दास कबीर इहि रस माता, कबहूँ उछकि न जाई॥

–कबीर ग्रंथावली, पृ० १११

कबीर को 'सहज सुंनि' के नेह की कल्पना बड़ी सुखद एवं आनन्ददायिनी प्रतीत होती है–

सहज सुनि को नेहरौ गगन मण्डल सिर मोर।

–क० ग्रं०, पृ० ९४

कबीर की भाँति दादू भी सहज शून्य को एक साथ देखते हैं–

मन पवना कर आतम खेला, सहज सुन्न घर मेला।

–दादू० की बानी, (भाग–२), पृ० ११३

गुलाल का भी 'सुन्न' सहज से अलग नहीं है–

१. हिन्दी साहित्य कोश–पृ० ७६१
२. हजारीप्रसाद द्विवेदी–कबीर पृ ७२

सुन्न सिखर पर माड़ो छावो, सहज के रूप लगाई ।

—गुलाल०, पृष्ठ ६४

सहज और शून्य की संश्लिष्ट स्थिति अन्य संतों में भी देखी जा सकती है । शून्य शब्द के पर्याय के रूप में महल, गढ़, गगन, मानसरोवर आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है । इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि संत कवि शून्य शब्द को विभिन्न रूपों में व्यक्त करते हैं । यथा–

शून्य महल के रूप में

हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान ।
मुनि जन महल न पावई, जहाँ किया विश्राम ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ १३

सुन्न महल में महल हमारा, निरगुन सेज बिछाई ।।

—मलूक०, पृष्ठ २३

शून्य गढ़ के रूप में

सायर नाहीं, सीप बिन, स्वाति बूंद भी नाहिं ।
कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिषर गढ़ माहिं ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ १३

शून्य गगन के रूप में

मन लागा उनमन्न सौं गगन पहूँचा जाइ ।
देखी चन्द विहूंणा चांदण, तहां अलख निरंजन राइ ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ १३

शून्य मानसरोवर के रूप में

मानसरोवर सुभर जल हंसा केलि कराहिं ।
मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं ।।

—क० ग्रं० पृष्ठ १५

कबीर की आत्मा तथा उनका परम पुरुष–निरंजन इसी शून्य में निवास करता है–

गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुन्नि ल्यौ घाट ।
तहां कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवैं बाट ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ १८

सुन्नि मंडल में पुरिष एक ताहि रहै ल्यौ लाइ ।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ६७

कहै कबीर जहां बसहु निरंजन, तहां कछु आहि कि सुन्यं ।

—क० ग्रं०, पृ० १४३

सांसारिक क्लेशों की परिनिवृत्ति एकमात्र शून्य समाधि की स्थिति में ही सम्भव है। मानव-चेतना जब तक सांसारिक व्यापारों में संपृक्त रहेगी तब तक व्यक्ति भौतिक उपकरणों की ओर ही दृष्टि रखेगा, और जब यह दृष्टि इससे पराङ्मुख होकर पारमार्थिकता की ओर होगी तभी उसमें स्थिरता आयेगी। स्थिरता ही समाधि की स्थिति है। साधक समाधिस्थ होकर ही परम तत्व का चिन्तन कर सकता है और यह सहज चिन्तन उसे परम पुरुष तक पहुँचाने में सक्षम होता है। इसीलिये धरमदास का कथन है—

सुन्नि समाधि लगाइके पहुँचे वहि तीर हो।

—धरमदास शब्दा ० ३७

साधना के क्षेत्र में अहम् का विनाश आवश्यक माना गया है। साधक की भावना जब तक स्वातमपरक होती है तब तक उसका 'आपा' विशिष्ट रूप से जागरूक रहता है। ज्यों–ज्यों उसका 'स्व' क्षीण होता जायेगा त्यों–त्यों उसका 'आपा' भी तिरोहित होता जायेगा। उत्तरोत्तर विकास करते-करते साधक में 'सम भाव' की सृष्टि होती है और उसके आपा का पूर्णत: विनाश हो जाता है। इसी स्थिति में उसे शून्य की संप्राप्ति होती है—

'दृष्टि सम करि सुन्न सोवो आपा मेटि उड़ाव

—यारी रत्ना०, पृ० ३

जैसा कि पहले कह आये हैं संत-साहित्य की साधना 'शून्य' की साधना है। शून्य की स्थिति ही उनका परम साध्य है। अस्तु प्रत्येक संत उसी शून्य की साधना में सतत संलग्न रहता है।

शून्य और गगन

संत-साहित्य में शून्य की स्थिति सहस्रार चक्र में मानी गई है। योगियों का सहस्रार चक्र तथा गगन मण्डल एक ही है। इसीको शून्य भी कहते हैं। यहीं पर अनहद नाद होता है। अनहद नाद के लिए कबीर गगन का गर्जन मानते हुए कहते हैं—

गगन गरजि अमृत चवै, कदली कँवल प्रकास।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५

पिंड रूप शरीर को आत्मा इसी संसार में छोड़ कर गगन (शून्य) में उड़ कर चली जाती है—

पंखि उड़ानी गगन कूं, प्यण्ड रहा परदेस।

—क० ग्रं०, पृ० १४

आत्मा जब उस गगन (शून्य) में पहुँच जाती है तब वहीं उसका विश्राम-स्थल बन जाता है–

रहै निरन्तर गगन मझारी।

–दादू०, (भाग-१), पृ० १०२

मलूकदास भी गगनमण्डल में अनहद की व्याप्ति मानते हुए वहीं पर परम ज्योति का दर्शन करते हैं–

गगन मण्डल में अनहद बोलै।

मलूकदास की बानी, पृ० ४

गगन मण्डल में करत कलोलै, परम ज्योति परगासा।

–मलूक०, पृ० १३

धरनीदास भी गगन की गर्जना में नगाड़े की आवाज की कल्पना करते हैं। यह आवाज अनहद नाद ही है–

अजब आवाज नगारा बाजत गगन गरज धुनि भारी।

–धरनीदास, पृ० ५

दरिया (मारवाड़) का भी गगन के प्रति ऐसा विशिष्ट आकर्षण है कि वह औघट घाट लाँघते हुए (साधना की विकट भूमियों में संचरण करते हुए) उस गगन तक पहुँचने का सफल प्रयत्न करते हैं–

दरिया चढ़िया गगन कूं को, लांघ्या औघट घाट।

–दरिया० (मारवाड़) पृ० १३०

धरमदास गगन में चढ़ कर ही घंट (अनहद नाद) को सुनते हैं–

सुपच भगत जब मास उठाये बाजे घंट गगन चढ़ि ऊँचे।

–धरमदास०, पृ० २

इसी प्रकार अन्य संत कवियों[1] ने भी शून्य और गगन के संबन्ध में विचार करते हुए अपने भाव–पूर्ण उद्‌गार अभिव्यक्त किए हैं।

शून्य और आकाश

संत-कवियों ने गगन और आकाश का प्रयोग प्राय: एक ही अर्थ में किया है। कुंडलिनी छह चक्रों को बेध कर अन्तिम चक्र सहस्रार चक्र में पहुँचती है। सहस्रदल कमल भी कहते हैं। इसी को शून्यचक्र, शून्य मंडल या गगन मण्डल, आकाश

---

१ यारी रत्नावली, पृ० २, गुलाल साहब की बानी पृ० ४, जगजीवन साहब की बानी, पृ० ३१

मण्डल आदि की संज्ञा दी गयी है। यही शिव का निवास होने के कारण इसे कैलास भी कहते हैं। और इसी स्थान में मानसरोवर की भी कल्पना माना गया है जिसमें हंस (निर्विघ्न चित्त) का निवास स्वीकार किया गया है। कबीर को इसी गगन अथवा आकाश में पहुँच कर परम मधुर रस की प्राप्ति होती है—

चढ़ि आकास आसन नहिं छांड़ै, पीउ महारस मीठा।

—कबीर, ग्रंथावली, पृ० १०९

आकाश-स्थित सहस्रार चक्र में रस-पान की क्रिया को वे एक रूपक द्वारा इस प्रकार व्यक्त करते हैं।

आकासे मुखि औंधा कुआँ, पाताले पनिहार।
ताका पांणीं को हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि॥

—कबीर ग्रंथावली, पृ० १६

इसी आकाश में अनहद शब्द सुनाई पड़ता है जिसे सुनने के लिए 'पंखि' रूप आत्मा आकाश की ओर उड़ान भरती है—

पंखि उड़ानी गगन कूं, उड़ी, चढ़ी असमान।
जिहिं सर मण्डल भेदिया, सो सर लागा कान॥

—कबीर ग्रंथावली, पृ० १४

संत सुन्दरदास अमर पद की प्राप्ति आकाश में ही मानते हैं—

चढ़ि आकाश अमर पद पावैं ताको काल कदे नहिं पौना।
सुंदरदास कहै सुन अवधू महा कठिन यह पंथ अलौना॥

—सुंन्दर ग्रंन्थावली, पृ० ८६२

संत कवि दरिया (मारवाड़) का विश्वास है कि आकाश में स्थिति होने पर ही मानव पूर्णता को प्राप्त होता है और परब्रह्म की प्राप्ति की समस्त युक्तियाँ वहीं स्पष्ट होती हैं—

चढ़ि अकास सकल जग देखा जुगती थी सो जानी।

—दरिया (मारवाड़), पृ० ४३

यारी साहब को भी आकाश के प्रति निश्चय ही कोई ऐसा विशिष्ट आकर्षण प्रतीत होता है जिससे वे अपनी आत्मा को उस दिशा की ओर उड़ने के लिए उद्-बोधन प्रदान करते हैं—

उड़ उड़ रे विहंगम चढ़ अकास।

—यारी साहब, रत्ना०, पृ० ६

प्रस्तुत उद्धरण इस तथ्य पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं कि संतों की एक सामान्य एवं समान साधना-प्रक्रिया थी जिसके सम्बन्ध में वे स्वतः जागरूक थे और

साथ ही अन्य व्यक्तियों के लिए भी उसी का उपदेश दिया करते थे ।

निरंजन

सिद्धों और संतों की साधना-पद्धति में निरंजन शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में पाया जाता है । निरंजन का शाब्दिक अर्थ है अंजन से रहित । अंजन का अर्थ है कालिमा अथवा दोष । संतों की वानियों में माया ही कलुष अथवा दोष युक्त मानी गई है । यह माया समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है । इस विश्व का प्रत्येक घटनाचक्र, प्रत्येक क्रिया–कलाप माया-प्रसूत अथवा माया-प्रेरित है । विश्व जब स्वत: ही मायाकृत है तब वे समस्त पदार्थ जो विश्व की परिधि में आते हैं माया से असम्पृक्त कैसे रह सकते हैं । स्वत: ब्रह्म भी तो मायोपाधि होकर ईश्वर कोटि में आता है । माया से रहित परब्रह्म ही एक ऐसी सार्वभौमिक सत्ता है जो सर्वत्र व्याप्त होकर भी पूर्णत: निर्लिप्त और निर्विकार है । इसीलिए उसकी संज्ञा निरंजन है । उपनिषदों में निर्गुण निरूपाधि ब्रह्म के लिए निरंजन शब्द का प्रयोग किया गया "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।" इस शब्द से संतों का अभिप्राय: निर्गुण ब्रह्म ही है । ब्रह्म और जगत के मध्य मायाकृत व्यवधान के विनाश के लिए ही निर्गुनिए संतों ने 'निरंजन' की मान्यता स्थापित की थी । सरहपाद ने एक ऐसी सर्वव्यापी परम सत्ता को जिसका न आदि है, न मध्य है और न अंत है तथा जो उत्पत्ति, विनाश तथा निर्वाण से रहित है, निरंजन माना है । वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म की जो परिभाषा की गई है उसी के अनुरूप 'जोइन्दु' ने भी 'णिरंजणु' (निरंजन) की व्याख्या की है—

जासु ण वण्णु ण गंध रसु जासु ण सद्दु ण फासु ।
जासु ण जम्म ण मरण णवि, णावु णिरंजणु तासु ।।

(अर्थात् निरंजन वर्ण, गंध, रस, शब्द, स्पर्श, जन्म तथा मरण से परे हैं । साधना के क्षेत्र में निरंजन शब्द इतना अधिक प्रचलित हुआ कि इसके नाम से निरंजनी संप्रदाय ही चल पड़ा ।

नाथ सम्प्रदाय में निरंजन की उपासना ही मानवात्मा के कल्याण के लिए सक्षम मानी गई है–'सेइबा तो निरंजन निराकार'[1] (चौरंगीनाथ) इसके लिए सर्व-प्रथम योगी को नादानुसंधान करना पड़ता है–

सदा नादानुसंधानात् क्षीयंते पाप संचया: ।
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्त-मारुतौ ।।

–हठ० ४–१०४

आत्मा का विकास अभेद-दृष्टि होने में ही सम्भव है । जब तक भेद-दृष्टि बनी रहती है तब तक 'मैं–मेरा', 'तू–तेरा' का भाव मानव-हृदय को चंचल बनाये

१. नाथ सिद्धों की बानियां, पृ० ४८

रखता है। चित्त की यह चंचलता साधक की गति को सुस्थिर नहीं होने देती। अस्तु साधक का सर्व प्रथम लक्ष्य होता है चित्त की चंचल गति से ऊपर उठ कर एक ऐसे स्थान पर अपने को लगा देना जिससे समस्त विकारी भावों का परिशमन हो सके। इसीलिए निरंजन की उपासना विधेय मानी गयी है—

यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरंजने ।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यन्ते विविधानि च ।।

—शिव० २-४८

स्वामी रामानन्द का विश्वास है कि पिंड-प्राण की रक्षा का एकमात्र उपाय निरंजन की साधना है—'पिंड प्राण की रक्षा श्रीनाथ निरंजन करे।'

—रामानन्द की हिन्दी रचनायें, पृष्ठ ३

जिस क्षण मानवात्मा निरंजन का साक्षात्कार कर लेती है, उसी के ध्यान में लीन हो जाती है उसी क्षण उसे परमानन्द की उपलब्धि होती है। आनन्द की ही स्थिति योगियों का 'परम पद' है। हिन्दी-संत-कवियों में निरंजन की उपासना परमतत्व, परब्रह्म आदि के रूप में हुई है। माया के आवरण के कारण हम इस निरंजन का साक्षात्कार नहीं कर पाते हैं और असत् माया को ही सत्य मानकर असत् व्यापार में लीन रहते हैं—

'अलख निरंजन लखै न कोई, जेहि बंधे बधा सब लोई।'
जिहि झूठे बंधा सो अयाना, झूठा बचन सांच करि माना ।।

—कबीर (रमैनी)

कबीर की दृष्टि में समस्त संसार का प्रसार उस निरंजन का ही अंजन है। समस्त प्रपंचात्मक विश्व में जहाँ कहीं जो कुछ भी हो रहा है वह सब उसी परम मायामय की माया है। वह परम विराट—पुरुष जो सर्वत्र रमण कर रहा है प्रत्येक सत् एवं असत् (विद्या एवं अविद्या) रूपों में विद्यमान है। जब तक व्यक्ति इन अंजन कृत रूपों में संलग्न है तब तक उस परम निरंजन का साक्षात्कार कैसे संभव हो सकता है। इसीलिए कबीर कहते हैं—

रांम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।
अंजन उतपति वो ऊंकार, अंजन मांड्या सब बिस्तार ।।
अंजन ब्रह्मा संकर इंद, अंजन गोपी संगि गोब्यंद।
अंजन बाणी अंजन बेद, अंजन कीया नांनां भेद ।।
अंजन विद्या वेद पुरान, अंजन फोकट कथहि गियान।

अंजन पाती अंजन देव, अंजन की करै अंजन सेव ।।
अंजन नाचै अंजन गावै, अंजन भेष अनेक दिखावै ।
अंजन कहौं कहां लग केता, दांन पुनि तप तीरथ जेता ।।
कहै कबीर कोई बिरला जागै, अंजन छांड़ि निरंजन लागै ।

—क० ग्रं०, पृ० २०१

कबीर का विश्वास है कि इस मायात्मक जगत्-शरीर (अंजन) में ही 'निरंजन' की भेंट सम्भव है। रूप-रेख के अभाव में उसका इन्द्रिय प्रत्यक्ष होना संभव नहीं है। वह पूर्णतः निराकार और निर्लिप्त होने के कारण केवल अनुभूति का विषय है। इसीलिए उसे जप, तप, योग, ध्यान आदि सबसे परे माना गया है। किसी प्रकार का शास्त्र-ज्ञान उसका पता नहीं दे सकता। उसकी गति तो वह स्वयं ही है।

"गोब्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं, मुद्रा नहीं माया।।
समद नाहीं सिषर नाहीं, धरती नाहीं गगनां।
रवि ससि दोउ एकै नाहीं, बहत नाहीं पवना।।
नाद नांहीं ब्यंद नाहीं, काल नाहीं काया।
जब तैं जल ब्यंब न होते तब तूं हीं राम राया।।
जप नांहीं तप नांहीं, जोग ध्यांन नहीं पूजा।
सिव नांहीं सकती नांहीं, देव नहीं दूजा।।
रुग न जुग न स्यांम अथरबन, बेद नहीं ब्याकरनां।
तेरी गति तूं हीं जांनै, कबीरा तौ सरनां।।

—क० ग्रं०, पृ० १६२

माया असत् है इसलिए मायाकृत जितने रूप हैं वे भी असत् होंगे। संसार में व्याप्त सृष्टि और विनाश का रूप माया ही का गुण है। मानव भी मायाक्रांत होने कारण मरणधर्मा है। कबीर का कथन है कि अनादि काल से मनुष्य मृत्यु का ग्रास बनता आया है। जीवनोच्छ्वास की परिसमाप्ति में मृत्यु का समालिंगन तो सभी तो सभी करते हैं; विशिष्टता उस व्यक्ति की है जो जीते जी अपने को मारता है। ऐसा ही व्यक्ति मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। जिसने जीते जी अपने को मार लिया है अर्थात् मायाकृत प्रभावों—अहं, दर्प, मद, मत्सर आदि से अपने को विनिर्मुक्त कर लिया है वही महामानव शून्य-स्थल का अधिकारी है। वही निरंजन का साक्षात्कार करके माया। पाश से सदा के लिए मुक्त हो जाता है—

जीवित मरै मरै पुनि जीवै, ऐसे सुन्नि समाया।
अंजन मांहि निरंजन रहिए, बहुरि न भव जल पाया।।

क० ग्रं०,

निरंजन की व्याख्या करते हुए आचार्य डॉ० मुंशीराम शर्मा का कथन है–

'अंजन या आँजना किसी वस्तु के चमकाने का साधन है। प्रभु साधन नहीं साध्य है। यह समस्त विश्व पार्थिवता से लेकर दिव्य सत्ताओं तक, वाणी से लेकर वेद तक, उसी साध्यरूप प्रभु की प्राप्ति के लिये साधन का काम देता है। इसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। परन्तु प्रभु एक रस है। हम जिन देवताओं और अवतारी महापुरुषों की पूजा करते हैं, वह मानो अंजन की अंजन के द्वारा पूजा है, साधन की ही साधन द्वारा सेवा है। प्रभु सेव्यों का भी सेव्य है। वहाँ अंजन की की गति नहीं है। वह सूक्ष्म-स्थूल सभी रूपों से पृथक अरूप है, निरंजन है।

–भक्ति का विकास, पृ० ४००

डा० बड़थ्वाल ने निरंजन के परिचय में एक पौराणिक कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कबीर पंथियों में इस बात की मान्यता प्राप्त है कि "निरंजन परम पुरुष के पुत्रों में से एक था। इसने धोखे से अपने पिता से सातों द्वीपों की ठकुराई और अष्टांगी भवानी भी ठग ली। आदि माया अथवा आद्या पर वह इतना मोहित हुआ कि वह उसे निगल गया। आदि माया उसका पेट फाड़ कर निकल आई। उसके बाहर आने पर निरंजन ने उससे प्रेम प्रकट किया और दोनों के संयोग से ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश उत्पन्न हुए। उत्पन्न होने के पूर्व ही निरंजन ने अदृश्य होने की प्रतिज्ञा की थी। अस्तु, ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश भी उसकी खोज न कर सके।.. ....कतिपय संत इस प्रकार निरंजन को परम पुरुष से पृथक मानते हैं।"

–हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ०–१६१-६२

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी निरंजन–सम्बन्धी ऊपर वर्णित मान्यता के अनुरूप ही उल्लेख करते हुए लिखा है कि "सृष्टि को उत्पन्न करने के लिए काल पुरुष (निरंजन) ने आद्या शक्ति या माया को उत्पन्न किया और उसी के संयोग से सत्व-गुण प्रधान ब्रह्मा, रजोगुण प्रधान विष्णु और तमोगुण प्रधान शिव की सृष्टि की। ज्यों ही ये तीन देवता उत्पन्न हुए, वह अन्तर्धान होकर अपने लोक में चला गया। जाते समय माया से कहता गया कि इन पुत्रों को मेरा पता न बताना।"

–कबीर, पृ० ५५

ऊपर ब्रह्मा को सत्वगुण प्रधान तथा विष्णु को रजोगुण प्रधान कहा गया है। पर हमारे विचार से ब्रह्मा सृष्टि का निर्माता होने के कारण रजोगुण प्रधान तथा विष्णु पालक होने के नाते सत्वगुण प्रधान होना चाहिये।

ऊपर के ये दोनों उद्धरण इस बात की ओर संकेत करते हैं कि संतों के बीच में निरंजन के संबंध में यह धारणा भी रही है कि वह निकृष्ट अथवा शैतान के रूप में है। इस प्रकार की मान्यता का आधार संत-साहित्य में प्रक्षिप्त अंशों का होना

ही है । कबीर तथा अन्य संतों के साहित्य में निरंजन संबंधी ऐसे अनेक स्थल प्राप्त होते हैं जहाँ पर उसके विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण अभिव्यक्तियाँ की गई हैं । श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है–

"पौराणिक कल्पना चाहे जितनी प्राचीन परम्परा का विकसित रूप क्यों न हो, कबीरदास उसको ज्यों का त्यों नहीं मानते थे । वे ब्रह्म या निरंजन को शैतान तो मानते ही नहीं थे, उलटे उसे परम काम्य समझते थे ।" –कबीर पृष्ठ, ६५

कबीर की परम्परा में आने वाले अन्य संत कवियों ने भी निरंजन के महत्व को विविध रूपों में निरूपित किया है । दादू का मत है कि जीवित रूप में मुक्तावस्था की उपलब्धि निरंजन की उपासना से ही होती है–

निकट निरंजन लागि रहे । तब हम जीवित मुक्त भए ।

–दादू वानी (भाग २), पृ० २२

गुरु नानक देव उसे सर्वांशत: माया से परे मानते हुए कहते हैं कि वह न तो किसी के द्वारा स्थापित होता है और न बनाया जाता है, वह तो स्वयं ही है–

थापिआ न जाइ कीता न होइ ।
आपे आपि निरंजनु सोइ ॥

–संत सुधासार, पृ० १२९

संत निरंजन को ही आदि अथवा मूल देवता मानते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार पेड़ के स्पर्श से समस्त डालों का स्पर्श मान लिया जाता है, उसी प्रकार निरंजन को प्राप्त करके ऐसी कोई भी वस्तु शेष नहीं रह जाती है, जो प्राप्त न हो सके–

सेइ निरंजन दीन दयाल, पेड़ परसि पूजीं सब डाल ॥

–रज्जब, (संत सुधार), पृ० ३०७

संत सुन्दरदास संसार को माया तथा नाशवान मानते हैं । उनकी दृष्टि में केवल निरंजन ही नित्य और अविनाशी है–

अंजन यह माया करी, आपु निरंजन राइ ।
सुन्दर उपजत देखिए, बहुर्यौ जाइ बिलाइ ॥

–संत सुधासार, पृ० ३७७

इसी प्रकार अन्य संतों ने भी निरंजन के विषय में अपने भाव व्यक्त किये हैं ।

शब्द

वदिक ऋषियों ने वाणी के चार रूप स्वीकार किए हैं जिसमें तीन छिपे हुए और चतुर्थ रूप का प्रयोग मनुष्यों द्वारा होता है ।[1] परा, पश्यन्ती और मध्यमा

१. तिस्रो वाचो निहिता नेंगयन्ति तुरीयो वाचो मनुष्याः वदन्ति

छिपे हुए रूप हैं। व्यवहार में आने वाली वाणी का रूप वैखरी है। यह वाणी या शब्द ही मानव की श्रेष्ठ सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति मानवेतर प्राणियों को उपलब्ध नहीं है। इसी शब्द के आधार पर मानव के समस्त व्यवहार संपादित होते हैं। शब्द के माध्यम से ही एक मनुष्य के भाव या विचार दूसरे तक पहुँचते हैं। मनुष्य के पास यदि भाव-प्रकाशन की क्षमता (शब्द) न होती तो वह भी पशुओं की ही भाँति अशक्त एवं असमर्थ होता।

शब्द (वाणी) का वैभव इतना विपुल है कि उसकी सीमा निर्धारित करना प्राय: असम्भव है। मानव-सृष्टि के आरम्भ से लेकर अब तक शब्द रूप जिस साहित्य का निर्माण हुआ है। उसका आंकलन सहज नहीं है। मानव-वाणी विविध रूपा है। एक ही जाति वाणी के विविध रूपों का प्रयोग करती है। एक ही विचार या भाव की अभिव्यक्ति विभिन्न भाषाओं में विभिन्न शब्दों द्वारा होती है। मानव-जाति को इस वाणी (शब्द) ने जो आलोक प्रदान किया है वह विकास की दृष्टि से अत्यन्त श्रेयस्कर है। निश्चय ही यह निखिल ब्रह्मांड अंधकाराच्छन्न होता यदि वाणी का आलोक इसे आलोकित न करता।[1]

कुछ विद्वान वाणी को नित्य मानते हैं और कुछ अनित्य। जो इसे अनित्य मानते हैं उनकी सम्मत्ति में वाणी ध्वनियों से निर्मित होती है और वे ध्वनियाँ उच्चारण के उपरान्त नष्ट हो जाती हैं। अत: शब्द को अनित्य मानना चाहिए। इस मान्यता के विरुद्ध वाणी की नित्यता के पक्ष का समर्थन करने वाले कहते हैं कि मुख से उच्चरित शब्द जिन ध्वनियों द्वारा निर्मित हैं वे ध्वनियाँ बोलने के पश्चात नष्ट नहीं हो जातीं, अपितु वे आकाश में सुरक्षित रहती हैं। आधुनिक वैज्ञानिक चमत्कारों ने इस तथ्य का समर्थन किया है। कई वर्ष पुरानी ध्वनियों को हम आज भी रेडियो के माध्यम से निरन्तर सुनते रहते हैं।

व्याकरण की दृष्टि से शब्द के दो अर्थ होते हैं-आविष्कार करना तथा शब्द करना।[2] अक्षर, वाक्य ध्वनि और श्रवण के लिए भी शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।[3] महाभाष्यकार पंतजलि का कथन है—'प्रतीति पदार्थ को लौके ध्वनि: शब्द इत्युच्यते', अर्थात् लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि ही शब्द है। वस्तुत: शब्द में ध्वनि और अर्थ दोनों की ही व्याप्ति रहती है।

शब्द की महत्ता का वर्णन करते हुए महाभाष्यकार का कथन है कि "एक:

१. इदमन्ध: जगत् कृत्स्नं जायेत भुवन त्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योति: आसंसारात् न दीप्यते॥

—वाक्यपदीय

२. 'शब्द आविष्कारे। शब्द शब्दकरणे।' —सिद्धान्त कौमुदी

३. शब्दोऽक्षरेयशोगीरयोर्वाक्ये रवे श्रवणे ध्वनौ। हैम:

शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च काम धुग्भवति" अर्थात् यदि एक शब्द का सुन्दर ज्ञान हो जाय और उसका सुन्दर प्रयोग किया जाय तो वह शब्द लोक और परलोक दोनों में अभीप्सित फल का प्रदाता होता है ।

शब्द के इसी महत्व का निरूपण संतों ने भी किया है । संत-साहित्य में शब्द का अर्थ है गुरु-उपदेश । यदि साधक अपने गुरु द्वारा दिए गए उपदेश का सम्यक रीति से श्रवण, मनन तथा उसी के अनुरूप आचरण करता है तो उसे निश्चय ही सिद्धि प्राप्त होती है । कबीर का कथन है–

> सब्दै मारा गिर परा, सब्दै छोड़ा राज ।
> जिन-जिन सब्द बिवेकिया, तिनको सरिगो काज ।।[1]

नानक भी इस कथन का समर्थन करते हुए कहते हैं–

> सबद न जानउ गुरु का, पार परउ कित बाट ।
> ते नर डूबे नानका, जिन कर बड़ बड़ ठाट ।।[2]

गुरु शब्द रूपी वाण जिसके अच्छी तरह से मार देता है वही व्यक्ति संसार सागर से उबर जाता है–

> सबद वाण गुरु साधके, दूरि दिसंतर जाइ ।
> जेहि लागे सो ऊबरै, सूते लिए जगाइ ।।
>
> –संतबानी सं०, भा० १, पृ० ७८

दरिया (मारवाड़ वाले) का कथन है कि गुरु शब्द की चोट पाकर ही शिष्य की चंचल-गति, जीवन की अस्थिरता समाप्त हो जाती है और वह स्थिरप्रज्ञ होकर परम सुख का उपभोग करता है–

> दरिया सदगुरु सबद की, लागी चोट सुठौर ।
> चंचल सो निश्चल भया, मिट गई मन की दौड़ ।।
>
> –संतबानी सं०, भाग १, पृ० १२६

साधक के मन में जब तक संशय बना रहता है तब तक उसे स्थिरता नहीं प्राप्त होती है । यह अस्थिरता ही नाना प्रकार के कर्मपाश में बंधन का कारण बनती है । जो व्यक्ति संशय को नष्ट करके प्रभु की शरण में जाता है उसी का कल्याण होता है, वह कर्मपाश से पूर्ण मुक्त हो जाता है । गीता में कहा गया है–

> योगसंन्यस्त कर्माणं ज्ञानसंछिन्न संशयम् ।
> आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजयः ।। ४/४१

१. कबीर बीजक, पृ० ३

२. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० ७०

संत कवि सुन्दरदास का भी कथन है कि गुरु-शब्द सुनकर संदेह मिट जाता है और द्वैत भाव-जनित समस्त उपाधियाँ नष्ट हो जाती हैं–

व्यापक ब्रह्म विचार अखंडित, द्वैत उपाधि सबैं जिन टारी ।
सबद सुनाय संदेह मिटावत सुन्दर वा गुरु की बलिहारी ।।

–संतबानी सं०, भाग २, पृ० १००

मन माया-मोह के कारण भौतिकता में ही निरन्तर अधिकाधिक उलझा रहता है । आध्यात्मिक दृष्टि से यह उसकी सुप्तावस्था है । अत: सोते हुए मन को जगा देने के लिए धनी धर्मदास गुरु से प्रार्थना करते हैं–

गुरु पैयाँ लागौं नाम लखा दीजो रे ।
जनम–जनम का सोया मनुवां सबदन मार जगा दीजो रे ।।

–संतबानी सं०, भाग २, पृ० ३९

संत परम्परा में सुरति का विशेष महत्व माना गया है । सुरति ही साधक को सिद्धि-प्राप्ति की ओर ले जाती है । पर सुरति का लगना गुरु-शब्द के बिना कठिन है । वही अपने उपदेश (शब्द) द्वारा साधक को सुरति की स्थिति में प्रतिष्ठित करता है । दरिया (विहार) का कथन है–

जैसे तिल मे फूल को, बास जो रहा समाय ।
ऐसे सबद सजीवनी, सब घट सुरति दिखाय ।।

–संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० १२२

कबीर का विश्वास है कि जो प्राणी गुरु के शब्द से वंचित हैं वे निश्चय ही काल–कवलित होंगे । उनकी रक्षा किसी प्रकार भी संभव नहीं है–

गुरु सीढ़ी ते ऊतरे सब्द बिहूना होय ।
ताको काल घसीटिहै, राखि सकै नहिं कोय ।।

–कबीर बीजक, पृ० १२८

इसीलिए दादू एक ऐसे शब्द–सरोवर की रचना में विश्वास करते हैं जिसमें हरि–रूपी निर्मल जल भरा हुआ है । उसी जल का पान करके वे परम सुख, संतोष एवं शान्ति का अनुभव करते हैं–

सबद सरोवर सूभर भरया, हरि जल निर्मल नीर ।
दादू पीवैं प्रीति सौं, तिनके अखिल शरीर ।।

–संतबानी सं०, भाग-२ पृष्ठ ७८

अनहद

संत-साहित्य में ऐसे अनेक शब्द प्रचलित हैं जो पारिभाषिक होने के साथ ही साथ विशिष्ट अर्थ का द्योतन भी करते हैं अनहद शब्द उन्हीं में से एक है । इस शब्द का प्रयोग प्राय: नाद–विशेष के लिए होता है तथा अनहद नाद अथवा अनाहत नाद इन दो रूपों में मिलता है । इसके द्वारा दो अर्थों की निष्पत्ति होती है–असीम तथा बिना बजाये ध्वनित होने वाले शब्द का ज्ञान । इसके दोनों ही अर्थ उचित हैं तथा संत कवियों ने इसका दोनों ही अर्थों में व्यवहार किया है । इसका प्रयोग उस विलक्षण ध्वनि के लिए किया जाता है, जिसे योगी समाधि की अवस्था में सुनता है तथा जो मानव शरीर के अन्तर्गत स्वत: उद्भूत होती है । यौगिक मार्ग का अनुसरण करते हुए संत कवियों ने अनहद नाद की स्थिति का पूर्ण आस्था के साथ ग्रहण किया है तथा वे इस ध्वनि के संगीत में परम तोष का अनुभव करते हैं ।

अनहद केवल पिंडगत ध्वनि ही नहीं है, अपितु यह संपूर्ण विश्व में प्रतिध्वनित होता रहता है । परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार योरोप के प्राचीन दार्शनिक इस व्यापक नाद के अस्तित्व के सम्बन्ध में विश्वस्त थे तथा उन्होंने इस ध्वनि को विश्व का मधुर संगीत (म्यूजिक आफ दि स्फियर्स) कहा है ।[1] योग–साधना के अनुसार इस ध्वनि को सुनने वाला प्रत्येक प्राणी नहीं होता, अपितु जो योगी कुंडलिनी शक्ति को जागृत कर प्राणवायु का सुषुम्णा में प्रवेश करा देता है वही इस ध्वनि का श्रवण कर पाता है । इसकी एक सम्पूर्ण प्रक्रिया है । सर्वप्रथम योगी प्राणायाम के द्वारा तीनों नाड़ियों को जागृत करता है । सुषुम्णा के जागृत होने पर कुंडलिनी मूलाधार चक्र से ऊपर उठती है तथा षट्चक्रों का बेधन करती हुई आज्ञा चक्र में पहुँचती है । अत: जब प्राणवायु आज्ञाचक्र में पहुँच जाती है तो समाधिस्थ योगी अपने आप में रमण करने लगता है तथा उसे मेघ-गर्जन के समान एक विचित्र ध्वनि सुनाई पड़ती है जो क्रमश: अधिक मधुर होती जाती है । इस ध्वनि के संगीत में प्राण तथा मन तल्लीन हो जाता है तथा योगी के निवृत्त होने का अनुमान किया जाता है । इस संगीत तक पहुँचाने की प्रक्रिया कबीर के इस पद्य में देखी जा सकती है–

पंषि उड़ानी गगन कूं, उड़ी चढ़ी असमान ।
जिहिं सर मण्डल भेदिया, सो सर लागा कान ।।

–क० ग्रं०, पृष्ठ १३

संत कवियों ने अनहद अथा अनाहत शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनों ही अर्थों में किया है । धरनीदास के अनुसार सीमा का अतिक्रमण करके ही उस अनंत अक्षर तत्व का साक्षात्कार किया जा सकता है, जो ऊपर और नीचे के मध्य में स्थित है–

१. कबीर साहित्य की परख, –पृष्ठ २३२

हद्द उलंघि अनाहद निरखौ, अरधि उरधि मधि ठांव रे ।

—धरनी०, पृ० १५

दरिया साहब के अनुसार त्रिकुटी सीमा है, इस सीमा तक कोई-कोई साधक पहुँच पाता है। जो इस सीमा को पार कर लेता है वह असीम अनन्त क्षेत्र में पदार्पण करता है—

दरिया त्रिकुटी हद्द लग, कोई पहुँचै सन्त सयान ।
आगे अनहद ब्रह्म है, निराधार निर्बान ।।

—दरिया (मारवाड़ी) संत संग्रह, भाग-१, पृष्ठ १३१

प्रायः सभी संतों ने अनहद नाद को साधना का चरम विन्दु माना है। कबीर के अनुसार इड़ा, पिंगला के आज्ञाचक्र में मिलने पर अनहद नाद ध्वनित होता है तथा इसकी झंकृति को श्रवण करके साधक 'अक्षर तत्व' के साथ एकाकार हो जाता है—

ससिहर सूर मिलावा तब अनहद बेन बजावा ।
जब अनहद बाजा बाजै तब साईं संगि बिराजै ।।

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४६

संत मलूक भी ब्रह्मा का निवास उसी स्थान पर मानते हैं जहाँ अनहद नाद होता है—

शब्द अनहद होत जहां ते तहां ब्रह्म करि वासा ।

—मलूकदास, पृष्ठ १७

यारी साहब के अनुसार शून्य (गगन) में सुरति के लग जाने पर ही अनहद नाद सुनाई पड़ता है—

गगन मद्धे सुरति लागी सब्द अनहद हुआ ।

—यारी, (रत्ना०), पृष्ठ २

कबीर और धरनीदास भी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं।[1] गुलाब साहब के अनुसार अनहद ढोल बजने पर प्राणी द्वन्द्वात्मक जगत के क्लेशों से विनिर्मुक्त हो जाता है तथा परमानंद की स्थिति में मग्न हो जाता है—

मगन भयो सुख दुख नहिं व्यापै, अनहद ढोल बजावै ।

—गुलाब बानी, पृष्ठ ७

---

१. गगनि गरजि मन सुंनि समाना, बाजे अनहद तूरा

—कबीर ग्रंथावली, पृ० ८८

गुरै नगारा गगन में बाजै अनहद तूर । —धरनी०, पृ० १४

अनहद नाद की स्थिति अन्तर्मन के विकसित होने पर प्राप्त होती है, इसमें बाह्य इन्द्रियों के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अंधा भी तीनों लोकों का दर्शन कर सकता है और बधिर भी अनहद नाद को सुन सकता है—

अंधा तीनों लोक कौं सुंदर देखे नैन।
बहिरा अनहद नाद सुनि अति गति पावैं चैन ॥

—सुंदर ग्रंथावली, पृष्ठ ७४७

इसके साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि अनहद नाद कोई सामान्य संगीत नहीं है जिसे प्रत्येक व्यक्ति सुन सके। यह एक कठिन मार्ग से चलने पर ही सुनाई पड़ता है और इसका सुनने वाला व्यक्ति असामान्य होता है। दादू ने इसको संकीर्ण पथ कहकर व्यक्त किया है—

दादू अनहद ऐसे कहिए भगति तत्व यहु मारग संकरा।

—दादू० (भा० १), पृ० ३६

दरिया (मारवाड़) के अनुसार कोई विरला संत ही इस ध्वनि-श्रवण का अधिकारी हो पाता है—

दरिया त्रिकुटी हद्द लग कोई पहुँचै संत सयान।

—संतबानी सं०, पृ० १३१

जैसा कि ऊपर कहा गया है, अनहद नाद सर्व प्रथम गम्भीर होता है तथा उत्तरोत्तर मधुर होता जाता है। संत कवियों ने कहीं भी इस क्रम का उल्लेख नहीं किया है, पर पृथक-पृथक ध्वनियों का निर्देश तथा वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग इसी तथ्य का संकेत करता है। तूरा, ढोल, गगन-गरज जहाँ अनहद की गम्भीरता के द्योतक हैं, वहीं बेन, कींगरी, बाजा, वीणा आदि शब्द उसकी मधुरता का भी निदर्शन करते हैं।

सुरति-निरति

संतों की साधना-पद्धति में जिन विशिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है उनमें सुरति और निरति भी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इनके प्रयोग की कहानी सुदूर अतीत तक नहीं जाती है। नाथों एवं सिद्धों के साहित्य में ही इनके यत्र-तत्र संकेत प्राप्त होते हैं। बाद में संत-साहित्य में उनका प्रयोग प्रचुरता से पाया जाता है। सुरति के उद्भव की कल्पना में विद्वानों ने 'स्रोत' शब्द का आश्रय ग्रहण किया है। स्रोत का शाब्दिक अर्थ होता है प्रवाह। सुरति के प्रसंग में इसका अर्थ होगा चित्त का वह स्वाभाविक प्रवाह जो ब्रह्म की ओर निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। सुरति का एक दूसरा अर्थ स्मृति भी लिया गया है। आगे के विवेचन में हम इसके विभिन्न प्रयोगों पर विचार करेंगे।

वज्रयानी साहित्य में 'सुरति' शब्द आया है। सरहपा ने सुरति को प्रज्ञोपाय

या कमल कुलिश योग का पर्याय मानते हैं–

कमल कुलिश वेवि मज्झ ठिउ जो-जो सुरअ विलास।
को त रमइ णहि तिहुअणे हि किस्स णू पूरइ आस ॥

काण्हपा की दृष्टि में एवंकार बीज लेकर मधुकर रूप में कुसुमित अरविन्द (महासुख चक्र) तक जाकर मकरन्द पान करने वाला ही सुरत वीर है–

एवंकार विअ लइअ कुसुमिअ अरविन्दए।
महुअर हएं सुरअ वीर जिघइ मअरन्दए ॥

ऊपर उद्धृत प्रसंगानुसार 'सुरति का अर्थ सिद्धों की दृष्टि से प्रेम-क्रीड़ा के निकट पहुँच जाता है। गोरख-बानी के 'मछींद्र गोरष बोध' प्रसंग के अन्तर्गत सुरति-निरति शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। गोरख प्रश्न करते हैं और मछिंद्र उत्तर देते हैं–

गोरख

स्वामी कौंन बीरज कौंन षेत्र। कौंन सरवंण कौंन नेत्र।
कौंन जोग कौंन जुगति। कौंन मोक्ष कौंन मुकति ॥

मछिंद्र

अवधू मंत्र बीरज मति षेत्र। सुरति श्रवण निरति नेत्र।
ऊरम जोग धूरम जुगती। जोति मोक्षि ज्वाला मुकति ॥[1]

गोरख

स्वामी कौंण सो शब्द कौंण सो सुरति।
कौंण सो बंध कौंण सो निरति ॥
दुबध्या मेटै कैसे रहै। सतगुरु होइ सु बूझ्यां कहै।

अवधू सबद अनाहद सुरति सो चित्त। निरति निरालंम लागै बंध।
दुबध्या मेटि सहज में रहै। ऐसा बिचारि मछिंद्र कहै ॥[2]

ऊपर के प्रसंग से सुरति की स्थिति साधना विशेष की स्थिति प्रकट होती है। यहाँ आज्ञा चक्र में सुनाई पड़ने वाले अनाहद नाद से सुरति का संबंध व्यक्त किया गया है और निरति की स्थिति निरालंभ की स्थिति मानी गई है जो सुरति से भी ऊपर की है। सुरति में अनाहद नाद सुनाई पड़ता है और निरति में उसी

१. गोरख-बानी, पृ० १८७
२. गोरख-बानी, पृ० १९९

नाद में लीन हो जाना होता है ।

संतों द्वारा प्रयुक्त सुरति-निरति शब्द पर नाथ पंथियों का प्रभाव प्रकट होता है । कबीर ने इसका प्रयोग कई अर्थों में किया है । ये सुरति से कहीं-कहीं स्मृति का अर्थ-बोध करते हैं । यथा–

विषया अजहूं सुरति सुख आसा ।
हूंड़ न देइ हरि के चरन निवासा ॥

–क० ग्रं०, पृ० ११४

अन्यत्र भी

ग्रामं छै पणि कांम नांहीं ग्यानं, छै पणि धंध रे ।
श्रवण छै पणि सुरति नांहीं, नैन छै पणि अंध रे ॥

–क० ग्रं०, पृ० २१७

सुरति द्वारा श्रुति अथवा वेद का बोध–

चारि वेद कहूं मत का विचार, इहि भ्रंमि भूलि पर्‌यौ संसार ।
सुरति स्मृति दोइ को बिसवांस, बाझि पर्‌यो सब आस पास ॥

–क० ग्रं०, पृ १०३

सुरति और निरति को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं–

(१) सुन्दरं रमणं यस्यां सा सुरतिः ।
(२) नितरां रमणं यस्यां सा निरतिः ॥

सुरति स्मृति का जगत है जो चित्त तक सीमित है और निरति आत्मा का जगत है अस्तु आत्मा से संबंधित है । जैसा पहले कह आए हैं निरति की स्थिति सुरति की स्थिति से ऊपर है । कबीर इसी तथ्य को इस प्रकार कहते हैं–

सुरति समांणीं निरति में, निरति रही निराधार ।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यंभ दुआर ॥
सुरति समांणीं निरति मैं, अजपा मांहै जाप ।
लेख समांणां अलेख मैं, यूं आपा मांहै आप ॥

–क० ग्रं०, पृ० १४

सुरति में ध्यान रहता है पर निरति की अवस्था ध्यान रहित होती है । साधक की आत्मा प्रभु में पूर्णतः तन्मय हो जाती है । वह वही बन जाती है । अस्तु ध्याता और ध्येय का अन्तर निरति की दशा में रहता ही नहीं है । धरमदास का कथन है–

सुरति समनी सार सबद में, निरति रही लव लाई ।

–धरमदास की शब्दावली, पृ० २

गोरखबानी से उद्धरण देते हुए हम पहले कह आए हैं कि सुरति के जाग्रत होने पर अनहद शब्द सुनने की स्थिति आ जाती है। यारी साहब का भी यही कथन है–

गगन मद्धे सुरति लागी। सब्द अनहद हुआ।

–यारी रत्नावली, पृष्ठ २

दादू सुरति की स्थिति को सुपरम चैतन्य की स्थिति मानते हैं–

सून्यहि मारग आइया, सून्यहि मारग जाइ।
चेतन पैंडा सुरति का, दादू रह ल्यौ लाइ॥

–संतसुधासार, पृष्ठ २८३

संत कवि दरिया (विहार वाले) अष्ट कमल दल से सुरति का संबंध स्थापित करते हुए कहते हैं–

अठदल कंवल सुरति लौ लाय।
अजपा जपि के मन समुझाय॥

–सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १४०

जिस साधक के हृदय में सुरति जाग्रत हो जाती है उसकी समस्त चित्तवृत्तियाँ ऐहिकता से हट कर पारलौकिकता की ओर उन्मुख हो जाती हैं। वह अपनी ध्यानावस्था में एकमात्र उस विराट, प्रभु का ही चिंतन करता है। उसकी स्मृति उसी से संलग्न रहती है। स्मृति करते-करते प्रभु (राम-रत्न) की प्राप्ति हो जाती है। कबीर का कथन है–

पंच संगी पिव-पिव करै, छठा जु सुमिरे मन्न।
आई सूति कबीर की, पाया राम रतन्न॥

–कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५

छान्दोग्य उपनिषद में भी स्मृति के जाग्रत होने पर ही समस्त मायाकृत बंधनों से मुक्ति मानी गई है–

आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः,
स्मृति लम्भे सर्व ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।

–छान्दोग्य, २६वां खंड, २

सहज

भारतीय धार्मिक साहित्य में सहज शब्द पर विशेष रूप से विचार किया गया है। सिद्ध साहित्य, नाथ सम्प्रदाय तथा हिन्दी-सन्त-कवियों की वाणियों में सहज शब्द का प्रयोग अत्यधिक पाया जाता है। धार्मिक क्षेत्र में अनेकानेक किंवदंतियाँ भी प्रचलित हुई हैं। डा० प्रबोध चन्द्र बागची की कल्पना है कि सहज शब्द चीनी धर्म के

मूल सिद्धान्त ताओ का संस्कृत अनुवाद है । इस धर्म का मूल प्रचारक च्वांगत्से ईसा के लगभग ४०० वर्ष पूर्व हुआ था । कहा जाता है कि चीन देश में ताओ मत का प्रचार करने के उपरान्त च्वांगत्से भारत की पुण्य भूमि में आये और उन्होंने अपना शेष जीवन यहीं पर व्यतीत किया ।[1] कुछ दक्षिण भारतीय अनुश्रुतियाँ यह मानती हैं कि ईसा से पहले ही कोई 'भोग' नामक चीनी आचार्य दक्षिण भारत में आया और तिनेवली के सिद्धकूट पर्वत पर रहने लगा । वह भी काया की अमरता का उपदेश देता था और गुह्य साधनायें करता था ।[2] ऐसे अनेकानेक प्रमाण प्राप्त होते हैं जिनसे भारत और चीन के पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान का पता चलता है । पर सहज शब्द ताओ का ही पर्याय है इसका कोई पुष्ट आधार नहीं है । केवल किंवदंती द्वारा तथ्य का निरूपण तब तक नहीं किया जा सकता जब तक उसकी पुष्टि किसी अन्य माध्यम से न हो ।

विष्णु पुराण नामक ग्रंथ में सहज सिद्धि का वर्णन प्राप्त होता है । इस सिद्धि के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह साधना की स्वाभाविक प्रक्रिया है । बारहवीं शताब्दी के आसपास बल्लभ देव के कामरूप वाले शिला-लेख में सहज का उल्लेख किया गया है ।[3] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईसवी शताब्दी के पूर्व से ही भारत में धर्म सम्बन्धी एक ऐसी विचार-धारा विशेष रूप से सक्रिय थी जो नाना योगपरक कृच्छ साधनाओं के स्थान पर साधना के एक ऐसे रूप को मान्यता प्रदान कर चुकी थी जो अत्यन्त सरल और सुगम था । तात्विक दृष्टि से इस पद्धति में और वैष्णव भक्ति के रूप में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता है ।

बुद्ध मतावलम्बियों ने भी इस सहज शब्द को स्वीकार किया है पर इसमें उन्होंने अपनी कतिपय विशेषतायें सन्निहित कर दीं हैं । उन्होंने इसे प्रज्ञोपाय युगनद्ध परक बना दिया । उनका तात्पर्य यह था कि सहज एक ऐसा साधन है जिसमें प्रज्ञा तथा उपाय के द्वारा उस परम शक्ति को उपलब्ध किया जा सकता है । वस्तुतः साधना क्षेत्र में सहज शब्द अपने में बड़ी ही व्यापक शक्ति लिए हुए प्रविष्ट हुआ । विभिन्न मतावलम्बियों ने इसे स्वीकार करके अपने-अपने ढंग से इसकी व्याख्यायें उपस्थित कीं । सामान्यत: धार्मिक अकृत्रिमता ही 'सहज' की स्थिति का प्रमाण बनती है ।[4]

---

१. डा० धर्मवीर भारती–सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १५०

२. हिन्दी साहित्य कोष, पृष्ठ ८२५

३. वही, पृष्ठ ८२५

४. सहजं सत्सर्व्वं सहजच्छायानुकारित्वात् सहजमित्यभिधीयते ।
सहजच्छाया सहज सदृशं ज्ञानं प्रतिपादयति । सहजं प्रज्ञाज्ञानम् ।
अतएव प्रज्ञाज्ञाने सहजस्योत्पत्तिर्नास्ति । यस्या: सहजं नाम स्व-
रूपं सर्व्वधर्म्मानामकृत्रिम लक्षणं इति यावत् ।

—अद्वयवज्र संग्रह

तांत्रिकों ने सहज शब्द के नवीन गुह्य अर्थ प्रदान किए। योगपरक दृष्टि से 'सहज' की स्थिति को 'धर्ममुद्रा' कहा गया है। तांत्रिक करुणा एवं शून्य की अभेद स्थिति को धर्ममुद्रा मानते हैं। मन जब तक विश्व के नाना रूपों में भ्रमणशील रहता है तब तक वह चंचल होने के कारण अशान्त रहता है और जब मन अपनी विशालता में विश्व को समाविष्ट कर लेता है तब वह स्थिर होकर सहजावस्था को प्राप्त करता है।[1] गुरु गोरखनाथ ने भक्ति की सहज स्थिति को ही निर्वाण का रूप माना है। उनके अनुसार सहज का लक्षण है–

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चालिबा, धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा, सहजै रहिबा, भणत गोरष रावं॥

–गोरखबानी, पृष्ठ ११

कबीर की "संतो सहज समाधि भली" वाली भावना नाथ पंथियों की इस भावना से पूर्णतः मेल खाती है। साम्य का एक दूसरा रूप देखिये। गुरु गोरखनाथ

एही पांचो तत बाबू सहज समाधि।

कबीर का कथन है:—

सहज-सहज सब कोउ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
पांचू राखै परसती, सहज कहीजै सोइ॥

–क० ग्रं०, पृ० ४२

हमारी पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ सांसारिक सम्बन्धों में इतना अधिक सम्पृक्त रहती हैं कि एक क्षण के लिए भी वे भौतिक उपलब्धियों से पराङ्मुख नहीं हो पातीं। पर जब अत्यन्त सरल एवं स्वाभाविक (सहज) रूप में सांसारिक सम्बन्धों एवं विभिन्न उपलब्धियों की परिसमाप्ति हो जाती है तभी आत्मा परमात्मा की एकत्वानुभूति प्राप्त करती है–

सहजै सहजै सब गये, सुत वित कामणि काम।
एक मेक ह्वै मिलि रह्या दास कबीरा-राम॥

–कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४२

इस प्रसंग में यह दृष्टव्य है कि कबीर ने उपर्युक्त साखी द्वारा अपने गुरु स्वामी रामानन्द के सहज-संबन्धी निम्नांकित उपदेश का कथनी एवं करनी दोनों ही रूपों में पालन किया–

१. सुखं न सहजादन्यत् सुखं चासङ्गलक्षणम् विश्वं स्वसमयं कृत्वा,
मग्नः सहजसागरे।

–अद्वयवज्र संग्रह।

सहजे-सहजे सबगुन आइला, भगवन्त भगता एक थिर थाइला ।
मुक्ति भईला आप अपीला, यों सेवग स्वामी संग रहीला ।।
—रामानन्द की हिन्दी रचनायें, पृष्ठ ८४

योग-परक साधनाओं को कबीर एक प्रकार से उपाधि ही मानते हैं । उनका कथन है—

तन में होतीं कोटि उपाधि ।
उलटि भई सुख सहज समाधि ।।

कबीर अपने ब्रह्म-सहज को रसमय स्थिति में होकर प्राप्त करना चाहते हैं । उनका विश्वास है कि यह रसमय स्थिति जीवन की स्वाभाविक–प्रक्रिया से ही प्राप्त हो सकती है । इसीलिए सहज–ब्रह्म को साधना के सहज रूप द्वारा ही जब प्राप्त किया जायेगा तभी तन्मयी स्थिति उत्पन्न होगी । अस्तु, इस स्थिति की संप्राप्ति के लिए उनकी आत्मा तड़प रही है । यदि किसी संत के द्वारा उन्हें सहज की स्थिति प्राप्त हो जाय तो वे उसे अपना समस्त जप–तप का पुण्य समर्पित कर सकते हैं—

है कोउ संत सहज सुख उपजै जाकौं जप–तप देउं दलाली ।
एक बूंद भरि देइ रामरस, ज्यूं भरि देई कलाली ।।
नींझर झरे अमी रस निकसै तिहि मदि रावल छाका ।
कहै कबीर यहु बास बिकट अति ग्यान गुरू लै बांका ।।
—कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १३९

अन्य संत कवियों ने भी इस सहज शब्द के माध्यम से अपनी अनेकानेक साधनापरक अभिव्यक्तियों को व्यक्त किया है । दादू दयाल सहज मुद्रा का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

सहजै मुद्रा अलख अधारी, अनहद सांगी रहणि हमारी ।
काया वनखण्ड पांचौ चेला, ज्ञान गुफा में रहै अकेला ।।
—दादू दयाल, भाग-२, पृष्ठ ९८

गुरु नानक सहज स्वभाव की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

जो कुछ करै सो महज सुभाय, सहज-सहज हरि के गुण गाय ।
सहज सुभाय का यही विचारू, सहज सुभाइ मन रोइ उद्धारू ।।
—नानक, प्राणसंगली, पृष्ठ १४७

दादू भी जीवन–स्वरूप को उस परम पुरुष के सहज स्वभाव का ही परिणाम मानते हैं—

सोई प्राण प्यंड पुनि सोई, सोई लोही मासा ।
सोई नैन नासिका सोई, सहजै कीन्ह तमासा ।।
—दादू दयाल, भाग-२, पृष्ठ २८

संत-साहित्य के अन्तर्गत सहज आचार, सहज रहनी, सहज परम पद तथा सहज भक्ति को लेकर अनेकानेक मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं। ये सभी सहज गति (साधना की स्वाभाविक प्रतिभा) की ओर संकेत करते हैं।

उन्मनि

सामान्यत: उन्मनि से अभिप्राय है मन की एक विशिष्ट स्थिति जिसमें वह इस संसार के क्रिया-कलापों से हट कर ब्रह्म की ओर अग्रसर होता है। मन इत (अत्र)—संसार में न लग कर उत (ऊपर की ओर) संसार से ऊपर, पारलौकिक चिंतन में लग जाता है। मन की यही अवस्था साधना-सापेक्ष्य होती है। गीता में कहा गया है—

> चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
> असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम्।
> अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते॥
>
> —६/३४, ३५

मन की इसी चंचल स्थिति के कारण उसे स्थिर करने के लिए विभिन्न साधनात्मक क्रियाओं को करना पड़ता है। इन क्रियाओं में एक उन्मनि मुद्रा भी है। ध्यानावस्थित होकर सुरति को अग्रनख (अग्रदृष्टि) के भीतर की ओर प्रेरित करने की क्रिया का नाम उन्मनि मुद्रा अथवा महामुद्रा है। संस्कृत में इसे—मनोन्मनी भी कहा जाता है। मनोन्मनी दशा से तात्पर्य है मन की स्थिर अवस्थिति। मन की सुस्थिर गति के संबंध में वर्णन करते हुए हठ-योग प्रदीपिका में मनोन्मनी शब्द का प्रयोग हुआ है—

> मारुते मध्य संचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते।
> यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी॥ —२।४२

नाथपंथियों में इस शब्द का विशेष प्रचलन रहा है। गोरखबानी के 'सिष्या-दर्शन' के प्रसंग में इस अवस्था का वर्णन प्राप्त होता है। उन्मनि योग की सिद्धि के संबंध में कहा गया है कि कुम्भक द्वारा श्वासोछ्वास का भक्षण करने, नवों द्वारों को रोकने तथा 'छठेछमासे' काया कल्प द्वारा उन्मनि योग सिद्ध होता है—

> सास उसास बाइ को भषिबा, रोकि लेहु नव द्वारं।
> छठे छमासि काया पलटिबा, तब उनमंनी जोग अपारं॥
>
> —गोरखबानी, पृष्ठ १९

गुरु गोरखनाथ सहज स्थिति की प्राप्ति के लिए उन्मनि योग आवश्यक

मानते हैं उन्होंने एक रूपक द्वारा इस स्थिति का विवेचन किया है—

> उनमनि डांडी मन तराजू, पवन कीया गदियांनां ।[1]
> आपै गोरषनाथ जोषण बैठा, तब सोनां सहज समांनां ।।
>
> —गोरखबानी, पृष्ठ ९२

कबीर भी ब्रह्म-प्राप्ति के लिए उन्मनि मुद्रा अथवा उन्मनी ध्यान आवश्यक मानते हैं—

> उपजत-उपजत बहुत उपाई,
> मन थिर भयौ तबै थिति पाई ।
> बाहरि षोजत जनम गंवाया,
> उनमनी ध्यान घट भीतरि पाया ।।
>
> —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ९४

जब तक मन उन्मनि अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक आत्मानंद की स्थिति संभव नहीं। जैसे ही उन्मनि की साधना पूर्ण हो जाती है आत्मज्योति के प्रकाश में एक ऐसे रस की उपलब्धि होती है जिसको पाकर आत्मा पूर्ण संतुष्ट हो जाती है—

> अवधूं मेरा मन मतिवारा ।
> उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा ।।
>
> —क० ग्रं०, पृ० ११०

विद्वद्वर श्री परशुराम चतुर्वेदी उन्मनि का विवेचन करते हुए 'कबीर साहित्य की परख' नामक ग्रंथ के पृ० २३६ में कहते हैं कि "इन्हें (कबीर) ने उन्मनि अथवा उनयन्न के ऐसे भी प्रयोग किये हैं जिनसे प्रतीत होता है कि ये उनके द्वारा परम तथ्य की ओर संकेत कर रहे हैं।" इसके लिए वे कबीर की निम्नांकित साखी की ओर संकेत करते हैं—

> मन लागा उन्मन्न सौं, गगन पहुँचा जाइ ।
> देखा चंद विहूंणा चांदिणां, तहां अलख निरंजन राइ ।।
>
> —क० ग्रं०, पृ० १३

प्रस्तुत प्रसंग में चतुर्वेदी जी का उन्मन से परम तत्व का अर्थ लेना समीचीन नहीं प्रतीत होता। 'उनमन्न सौं, का अभिप्राय उन्मनी अवस्था से है जिससे लग कर मन संसार से उपरामता धारण कर लेता है और फिर गगन (सहस्रार) में पहुँच जाता है। विद्वद्वर डा० मुंशीराम शर्मा ने उन्मन सौं का अर्थ उन्मनी-अवस्था ही

---

१. गद्याणो माषकै षड्भिः । —शार्ङ्गधर संहिता ।
गदियान—गद्याण—छमासे के बराबर की एक तौल ।

लिया है ।[1] भाव की संगति भी इसी अर्थ के माध्यम से बैठती है ।

कबीर की परम्परा में आने वाले अन्य संत कवियों ने भी उन्मनि शब्द का प्रयोग किया है । दादू के विचार से मन जब संसार से पूर्ण विरक्त होकर निसंग स्थिति में उन्मनि अवस्था तक पहुँच जाता है तभी पूर्ण सिद्धि संभव है ।

जोगिया बैरागी बाबा, रहै अकेला उन्मनि लागा ।

—दादू० बा० (भाग २), पृ० ९८

यारी साहब भी उन्मनि-स्थिति प्राप्ति के लिये समस्त, ऐहिकता परक प्रवृत्तियों का त्याग आवश्यक मानते हैं—

उन्मनि रहनि सकल को त्यागी नवधा प्रीति परम बैरागी ।

—यारी रत्ना०, पृ० ६

गगन (सहस्रार चक्र) में ध्वनित होने वाला अनहद नाद बिना उन्मनी अवस्था के नहीं प्राप्त हो पाता—

उन्मनि धुनि धरै ध्यान गगना गरजावै ।

—गुलाल, पृ० १२

उन्मनी अवस्था के प्राप्त होते ही समस्त प्रपंचों का स्वत: विनाश हो जाता है, मन की स्थिरता में अद्वैत अवस्था का भान होने लगता है । साधक अपने को सत की स्थिति में पाता है । इसी सत की स्थिति में उसे परम ज्योति का दर्शन होता है और उसके लिए कल्याण का द्वार खुल जाता है । उसका आत्मदर्शन ही परमात्म-दर्शन बनता है ।

खसम

हिन्दी संत-साहित्य में प्रयुक्त होने वाला शब्द खसम संत-साहित्य के अध्येताओं के लिए विचार का विषय बन गया है । भाव की चरमोत्कर्ष दशा में पहुँच कर आनुभूतिक तीव्रता की दशा में अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्दों के माध्यम से संतों ने अपने मन की बात व्यक्त करने का प्रयत्न किया है । प्रतीकात्मक अभिव्यंजना शैली के मूल में ऐसी ही परिस्थितियाँ रहती हैं, ऐसा हम पहले कह आये हैं । संतों के समक्ष प्रतीकों का सामान्यत: अति सुनिश्चित स्वरूप नहीं रहा है । यही कारण है कि एक ही शब्द विभिन्न मनोदशाओं अथवा वस्तुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है । उदाहरणार्थ 'दीपक' शब्द कहीं पर ज्ञान[2] के लिए और कहीं माया[3]

१. कबीर वचनामृत, पृ० २५
२. कबीर गुरुदेव को अंग साखी १२
३. कबीर ,, ,, ,, १९

के लिए आया है । खसम शब्द की भी यही कहानी है । यद्यपि कबीर ने इस शब्द के सम्बन्ध में अपनी ओर से व्याख्यात्मक रूप में कुछ भी नहीं कहा, पर कबीर-साहित्य के पारखियों ने अपनी सूझ-बूझ के अनुरूप अर्थ किये हैं जो इस प्रकार हैं–

खसम–पति–कबीर साहित्य की परख, पृ० २३८

निकृष्ट–पति–कबीर-ह० प्र० द्विवेदी, पृ० ७८

खसम–ब्रह्म और नभ–कबीर की विचारधारा, पृ० ४०७

ऊपर दिये हुए अर्थों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निष्कृट पति के लिए खसम शब्द मानना विचारणीय है । वे कहते हैं–'मेरा अनुमान है कि कबीरदास खसम शब्द की पुरानी परम्परा से जरूर वाकिफ थे और उन्होंने जान-बूझ कर खसमावस्था की तुलना निकृष्ट पति से की है ।[1] अपने निष्कर्ष की पुष्टि में वे निम्नांकित रमैनी उद्धृत करते हैं–

> **जाड़न मरै सुपैदी सौंरी, खसम न चीन्है धरनि भै बौरी ।**
> **सांझ सकारा दियना बारै, खसम छोड़ि सुमिरै लगवारै ॥**

इसका सीधा सादा अर्थ है घरनी (गृहणी) बावली हो गई है इसीलिए जाड़ों में सफेद चादर प्रयोग करके मरी जा रही है, अपने पति को नहीं पहचानती है और सायं-प्रात: दीपक जलाती है तथा अपने पति को छोड़कर दूसरे से प्रेम करती है । तात्पर्य यह कि जीवात्मा अपने पति परमात्मा को न पहचान कर संसार की अन्य वस्तुओं से प्रेम करती है । यह स्थिति उसके लिए कष्ट सहन (जाड़न मरै) का कारण बनती है ।

यहाँ पर 'खसम' शब्द से निकृष्ट पति का बोध नहीं होता । हाँ, जीवात्मा की मूर्खता का अवश्य परिचय प्राप्त होता है, जो अपने पति परमात्मा को नहीं पहिचान सकती ।

इसमें संदेह नहीं कि खसम शब्द बड़ा ही व्यापक हो गया है । ऐतिहासिक दृष्टि से इसका प्रारम्भिक प्रयोग सिद्धो की रचनाओं में उपलब्ध होता है । उनकी परम्परा में खसम का अर्थ होगा–ख = आकाश; सम = समान अर्थात् अकाशवत । इस आकाशवत की संगति के लिए विद्वानों ने संस्कृत पदावली का प्रयोग किया है– "आकाशवत् सर्वगतश्चपूर्ण: ।" दोहा कोष नामक ग्रन्थ में कई एक ऐसे पद आते हैं जिसमें खसम शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

> **चित्त खसम जहि सम-सुह पइट्ठइ**
> **(इन्दीअ–बिसअ तहि मत) ण दीसइ ।**

–तिल्लोपाद ५

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी–कबीर पृष्ठ ७८

जत्त विचित्तहि विस्फुरइ तत्तवि णाह सरूअ ।
अण्ण तरंग कि अण्ण जलु भवसम खसम सरूअ ।।

—सरहपाद ७२

सिद्ध-साहित्य के अन्तर्गत खसम की व्याख्या करते हुए योग-साधना की गगनोपम अवस्था या 'ख' अवस्था में मन को विलीन करने के सम्बन्ध में गोरक्ष पद्धति तथा हठयोग प्रदीपिका का उद्धरण प्रस्तुत किया गया है—[1]

निर्मलम् गगनाकारम् मरीचिजल सन्निभम् ।
आत्मानम् सर्वगम् ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ।।
ख मध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ।।

आकाश शून्य है । मन भी जब स्थितिप्रज्ञ बन जाता है तब दृश्यमान जगत के प्रभावों से रहित होकर अपने में ही लीन हो जाता है । उसकी यह तन्मयी अवस्था ही शून्यावस्था है । ख+सम=आकाशवत् अर्थ करके साधना की इसी स्थिति की ओर विद्वानों ने संकेत किया है । कबीर-साहित्य में निश्चय ही खसम शब्द के प्रयोग में आकाशवत की कल्पना नहीं पाई जाती । हमारे विचार से उन्होंने उसे विशुद्ध रूप से लोक प्रचलित अर्थ के 'पति' रूप में ही लिया है । यह पति परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई हो नहीं सकता । भारतीय आस्तिक भावना पति में ही स्वामी और परमेश का दर्शन करती रही है । इसीलिए निम्नांकित रूपों में खसम शब्द का प्रयोग पाया जाता है—

खसम=स्वामी[2]

खसम लिए कर डोरी डोलै ।

—क० ग्रं०, पृ० ११७

खसम=पति

खसम मरै तो नारि न रोवै उस रखवारा औरो होवै ।।

—क० ग्रं०, पृ० २८०

---

१. डा० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृ० ३६३

२. सरहपाने भी खसम शब्द का प्रयोग करते हुए उसके लिए नाह (पति) विशेषण प्रदान किया है ।

अक्खह अच्चेय परमं पहु खसम महासुह नाह ।
जो आवाम अचित्त वि तस्स च्चक्खु करेह ।।

खसम = परमात्मा

जो जन लेहि खसम कर नाऊँ, तिनके सद बलिहारे जाऊँ ।।

—क० ग्रं०, पृ० १६०

अन्य संत कवियों ने भी खसम शब्द का प्रयोग किया है उदाहरणार्थ निम्नांकित कतिपय पंक्तियाँ देखिये—

संतकवि दरिया (बिहार) आत्मा को कुलवन्ती नारी का रूप प्रदान करते हुए उसे अपने खसम (प्रियतम-परमात्मा) की परम प्रिय मानते हुए कहते हैं—

"मैं कुलवंती खसम पियारी जांचत तू लै दीपक बारी ।"

—संतसुधासार, पृ ४१४

संत बुल्ला साहब की आत्मा भी अपने खसम की प्यारी बनकर उसी का गुण-गान करने में अपना परम कल्याण मानते हैं—

"सुरति सुहागिनि चरन मनावहि खसम आपनो पैवों ।
जन बुल्ला ह्वै प्यारी खसम की रहसि रहसि गुन गैवां ।।

—बुल्ला० (शब्दसागर), पृ० ११

अवधूत

अवधूत का लक्षण बताते हुए कहा गया है —

यो विलंघ्याश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् ।
अति वर्णाश्रमी योगी अवधूतः स उच्यते ।।
अक्षरत्वात् वरेण्यत्वात् धूत संसार बंधनात् ।
तत्त्वमस्यर्थं सिद्धत्वादवधूतो ऽभिधीयते ।।[1]

अर्थात् जो व्यक्ति आश्रम एवं वर्ण को लांघ कर अपने में ही स्थित है, ऐसा अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूत कहा जाता है। और भी, अक्षर (अविनाशी) वरेण्य एवं संसार-बंधन से मुक्त होने के कारण तथा 'त्वमसि' की अर्थ सिद्धि प्राप्त कर लेने से उसकी संज्ञा अवधूत होती है ।

गौरक्ष सिद्धान्त संग्रह में अवधूत की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

क्वचिद्योगी क्वचित् त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत् ।
क्वचिद्राजा क्वचारी सो ऽवधूतो विधीयते ।।

—गो० सि० स०, पृ १०

साहित्य के अन्तर्गत अवधूत या अवधू सिद्ध आचार्यों के लिए प्रयुक्त हुआ

१. आप्टे-संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी—पृ० १६४

है । जो महापुरुष सांसारिक राग-द्वेष से मुक्त हैं—लाभ हानि, संयोग-वियोग, सुख-दुख जिन्हें नहीं प्रभावित करता है तथा जिन्होंने समस्त भौतिकतापरक प्रवृत्तियों से पराङ्मुखता ले ली है और जो निरन्तर सत् के चिन्तन में ही लीन रह कर आत्मा का विकास करते-करते इतने ऊँचे उठ जाते हैं कि प्रभु का ध्यान सहज रीति से सम्पन्न होने लगता है, उसकी संप्राप्ति के लिये किसी प्रकार भी कृच्छ साधना नहीं करनी पड़ती है, सभी क्रियाएँ अत्यन्त स्वाभाविक रूप में होती रहती हैं और उन्हें सर्वांशतः पूर्ण सहजावस्था प्राप्त हो जाती है तब वे अवधूत संबोधन के अधिकारी होते हैं ।

तंत्र साहित्य में अवधूतों के विषय में उल्लेख करते हुए उन्हें चार भागों में विभक्त किया गया है–(१) ब्रह्मावधूत, (२) शैवावधूत, (३) भक्तावधूत, (४) हंसावधूत । इनमें से जो हंसावधूत पूर्णता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है वही परमहंस पद का अधिकारी माना जाता है ।[1]

नाथ सम्प्रदाय में भी अवधूत की चर्चा पाई जाती है । गोरखबानी के 'मछिंद्र गोरख बोध' के अन्तर्गत गोरख मछिंद्र से प्रश्न करते हुए स्वामी शब्द का प्रयोग करते हैं और मछिंद्र गोरख को उत्तर देते हुए अवधू शब्द का प्रयोग करते हैं–

गोरख–स्वामी कौन पेड़ि बिन डाल, कौन पंषि बिन सूवा ।
कौन पालि बिन नीर, कौन बिन कालहि मूवा ॥
मछिंद्र–अवधू पवन पेड़ि बिन डाल, मन पंषि बिन सूवा ।
धीरज पालि बिन नीर, निंद्रा बिन कालहि मूवा ॥[2]

स्पष्ट है कि मछिंद्र द्वारा प्रयुक्त अवधू शब्द गुरु गोरखनाथ के लिए ही है । कबीर ने भी गोरखनाथ को अवधू शब्द से स्मरण किया है ।

रामगुन बेलड़ी रे अवधू गोरखनाथ योगी ।

—क० ग्रं०, पृ० १३२

अवधूत की वेश-भूषा के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं, उनके सर में जटायें होती हैं । समस्त शरीर में वे भस्म लगाए रहते हैं और मस्तक पर त्रिपुण्ड लगाते हैं । कानों में बड़े-बड़े छेद होते हैं जिनमें वे कुण्डल पहनते हैं । काली सींग की एक सीटी सी गले में लटकाए रहते हैं जिसे शृंगीनाद कहते हैं । इनके हाथ में सदा एक नारियल का खप्पर रहता है । कबीर ने अवधूत की चर्चा का वर्णन करते हुए कहा है–

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी–कबीर, पृ० २६
२. गोरखबानी, पृ० १८७

अवधू जोगी जग थैं न्यारा ।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न षंडै धारा
बसै गगन में दुनी न देखै चेतनि चौकी बैठा
चढ़ि अकास आसण नहीं छांड़ै पीवे महा रस मीठा ।
परगट कंथा मांहै, जोगी, दिल में दरपन जोवै
सहज इकीस छ सै धागा निहचल नाकै पोवै
ब्रह्म अगिनि में काया जारै त्रिकुटी संगम जागै
कहै कबीर सोई जोगेस्वर सहज सुंनि-ल्यो लागै

कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०९

अवधू का निवास सदा गगन-मण्डल में रहता है। वहीं वह अमृत रस का पान करता हुआ अनाहद नाद सुना करता है—

अवधु गगन मंडल घर कीजैं ।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बकनालि रस पीवैं ।
मूल बांधि सर गगन समांनां सुषमन यों तन लागी ।
काम क्रोध दोऊ भया पलीता, तहां जोगिणीं जागी ।
मनवां जाइ दरीबैं बैठा मगन भया रसि लागा ।
कहै कबीर जिय संसा नांही, सबद अनाहद बागा ।

कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ११०

संत कवि सुन्दरदास अवधू को सम्बोधन करते हुए उस पद की प्राप्ति के लिए जो उपाय करने पड़ते हैं उनका उल्लेख करते हैं—

है कोई योगी साधै पवना ।
मन थिर होइ बिंद नहिं डोलै, जितेंद्री सुमिरै नहिं कौना ।
यम अरु नेम धरै दृढ़ आसन, प्राणायाम करै मन मौना ।
प्रत्याहार धारणा ध्यानं लै समाधि लावै ठिक ठौना ।
इड़ा पिंगला सम करि राखै सुषमन करै गगन दिशि गौना ।
अहंनिशि ब्रह्म अग्नि परजारै सापनि द्वार छांड़ि दे जौना ।
बहुदल षटदल दशदल षोजै, द्वादशदल तहां अनहद भौना ।
षोडशदल अमृत रस पीवै, ऊपरि द्वै दल करै चतौना ।
चढ़ि अकास अमर पद पावै, ताको काल कटे नहिं षौना ।
सुन्दरदास कहै सुन अवधू, महा कठिन यह पंथ अलौना ।

ऐसा प्रतीत होता है कि संत-साहित्य में अवधू एक विशिष्ट प्रकार के योगी हैं जिनकी संगति नाथ पंथ के योगियों से बैठती है ।

गुरू

विस्तृत विश्व के रंगमंच पर मानव अपनी सीमित सांसों और शक्तियों के साथ अवतरित होता है। वह अपनी जीवन-यात्रा में बीहड़ वनों, उत्तुंग शैलमालाओं एवं अतल सागरों की गहराइयों को नापता हुआ गतिमान तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके जीवन में कोई पथ-प्रदर्शक न हो। मानव को ज्ञान उसे अर्जित सम्पत्ति के रूप में ही प्राप्त होता है। जो भी इस अर्जन-क्रिया में सहायक होता है, तात्विक दृष्टि से उसी की संज्ञा गुरू है। भगवती श्रुति हमारी आदि गुरू के रूप में है जिसके अनुसार गुरू अपनी संकल्प शक्ति, भावना शक्ति, मन अथवा चक्षु-दृष्टि से ही शिष्य के अन्दर शक्ति का संचार कर सकता है। शिष्य का कार्य इस संचार को ग्रहण कर उसके पीछे चल देना है।[1] उपनिषद् साहित्य का जितना भी ज्ञान है वह गुरू-शिष्य संवाद के माध्यम से ही प्राप्त होता है। वहाँ शिष्य प्रश्न करता है और गुरू उसका समाधान प्रदान करता है। भागवत धर्म में गुरू की महत्ता का विशेष वर्णन हुआ है। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि भवार्णव-संतरण के लिए गुरू अनिवार्य है विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय चाहे वे वैष्णव हों, चाहे वे शैव हों अथवा शाक्त, जैन हों अथवा बौद्ध; सभी में आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि गुरू के बिना असम्भव बताई गई है। भारतीय उपासना-पद्धति में ही नहीं, अपितु भारतेतर धर्मों के अन्तर्गत भी गुरू का महत्व प्रतिपादित किया गया है। बौद्ध सम्प्रदाय में बुद्ध, जैनियों में जिन, इस्लाम के पीर-पैगम्बर और ईसाई धर्म के फादर पाल वही महत्व रखते हैं जो महत्व हिन्दू धर्म के अन्तर्गत गुरू को प्राप्त है।

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत जिन चार प्रकार के देवताओं का वर्णन हुआ है उनमें आचार्य (गुरू) भी एक देवता माना गया है–"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवा भव"। गुरू को देव के समान सम्मान पुराण तथा अर्वाचीन उपनिषद् काल में प्राप्त हुआ था। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है–"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।" गीता में शारीरिक तप का वर्णन करते हुए गुरू-पूजन का निर्देश हुआ है–

देवद्विजगुरूप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १७-१४

सामान्यत: व्यक्ति अपने को भूल जाता है। मैं कौन हूं, मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है ? आदि विषयों के भूल जाने का परिणाम होता है देहात्म-बोध की प्रबलता, किन्तु जब गुरू अत्यन्त कृपापूर्वक व्यक्ति को उसके 'मैं' का ज्ञान करा देता है तभी

---

१. यदाकूतात् समसुस्रोत् हृदो व मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा
तदनुप्रेत सुकृतामुलोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः। यजु० १८–५८

आत्म-स्मृति उदय होती है । यह स्मृति ही समस्त ग्रंथियों के मोक्ष का कारण बनती है ।

गुरु गीता में गुरु को भगवान ही माना गया है—

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ।।

गुरु को साक्षात् ब्रह्म माना गया है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

तांत्रिक सम्प्रदाय में सर्वाधिक प्रधानता गुरु को ही दी गई है । इस सम्बन्ध में कतिपय विचारकों का मत यह है कि नये तांत्रिक सम्प्रदाय ने प्राचीन अनुदार आचार्यों की तुलना में अपने आचार्यों को अधिक प्रतिष्ठा प्रदान करने के अभिप्राय से गुरु के महत्व का अधिकाधिक निरूपण किया है ।[1]

प्रायः सभी युगों में धार्मिक सम्प्रदायों के अन्तर्गत गुरु के रूप की व्याख्या भिन्न-भिन्न रूपों में हुई है । कहीं वह योग-साधन-क्रियाओं में बड़ा निष्णात है और कहीं वह भक्ति की वैष्णव विचारधारा से पूर्ण है । गुरु स्वरूप पर मतभेद हो सकता है, पर इस बात में सभी सम्प्रदाय एकमत हैं कि बिना गुरु के—'निगुरा'—रह कर साधक ब्रह्मोपासना में सफल नहीं हो सकता ।

गुरु शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक रूप में होता है । अमरकोष में गुरु की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

बृहस्पतिः सुराचार्यो गीष्पतिर्धिषणो गुरुः ।
जीव आंगिरसो वाचस्पतिश्चित्रशिखण्डिजः ।। —१-३-२५

उपाध्याय, अध्यापक और संस्कार करने वाले व्यक्ति भी गुरु की ही संज्ञा प्राप्त करते हैं ।[2] मनुस्मृति में गुरु का महत्व निरूपण करते हुए तीन प्रकार के गुरुओं का निर्देश किया गया है—

लौकिकं वैदिकं वापि तथाऽध्यात्मकमेव च ।
आददीत् यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ।।

गुरु शब्द की व्याख्या उपस्थित करते हुए कहा गया है कि 'गु' शब्द का अर्थ है अंधकार, और 'रु' शब्द का अर्थ है निरोधक । जो अंधकार का विनाश

१. हिंदी साहित्य कोष, पृ० २७४
२. अमरकोष, द्वितीय काण्ड, पृ० १५२

करता है वही वास्तव में गुरू है ।[1]

संत-साहित्य में भी गुरू का विशेष महत्व निरूपित किया गया है । नानक पंथी तो गुरू के शब्द को वेदवत् स्वीकार करके उसकी आज्ञा मानने में अपने जीवन का परम कल्याण समझते हैं । इसलिए गुरुग्रंथ के शब्दों को भी वे वेदाज्ञा मानते हैं । इस सम्बन्ध में नानक का कथन है—

गुरूमुखि नादम् गुरूमुखि वेदम रहिआ समाई ।
गुरू ईसरू गोरखु वर्मा गुरू पारबती माई ।।

—संतसुधासार, पृ० १३१

वस्तुत: गुरू मानव-जीवन में एक अद्भुत शक्ति के रूप में आता है । डा० बड़थ्वाल उसे एक डाइनिमिक शक्ति के रूप में देखते हैं । उनका कथन है—साधक चाहे जितने साधुओं का सत्संग करे, उसे अपनी आध्यात्मिक-शक्ति में उत्तेजना लाने के लिए उनके साथ केवल कभी-कभी संसर्ग में आने से ही काम नहीं चल सकता । उन्हें एक ऐसे डाइनमों की आवश्यकता है जो उन्हें अनवरत रूप में अभीष्ट विद्युत् शक्ति की धारा पहुँचाता रहे ।[2]

कबीर गुरू और शिष्य के कार्यों अथवा रूपों का विवेचन करते हुए कहते हैं कि गुरू के लिए यह आवश्यक है कि वह शिष्य को उपदेश की सीधी प्रक्रिया द्वारा उपदेश प्रदान करे । यदि उपदेश के वचनों में किसी प्रकार की वक्रता अथवा दाँव-पेंच होंगे तो वे प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकते । इसी प्रकार शिष्य को भी चाहिए कि वह उघारे अंग होकर (निरावृत अवस्था में) गुरू के समीप जावे अर्थात् उसके हृदय में किसी प्रकार का पूर्वाग्रह न होना चाहिए, अन्यथा गुरू के उपदेश को वह सम्यक् रूपेण ग्रहण न कर सकेगा ।

सतगुर मार्‍या बाण भरि, धरि करि सूधी मूंठि ।[3]
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि ।।

—कबीर ग्रंथावली, पृ० ५

गरीबदास का भी यही कथन है—

१. गु शब्दस्त्वन्धकार: स्याद्रु शब्दस्तन्निरोधक: ।
अधकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ।। —अद्वैतार्कोपनिषद
२. हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० २०७
३. प्रणवो धनु: शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रत्येन वेधव्यं शरवत् तन्मयो भवेत ।।
अप्रमत्ते न वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।

—मुण्डक ४/३१

सतगुरु मारा बान कस, कँबर गांसी खेंच।
भरम करम सब जरि गए, लई कुबुधि सब ऐंच ॥

—संतबानी संग्रह, (भाग-१), पृ० १८२

उपदेश के सम्बन्ध में कबीर का यह भी कथन है कि उपदेश में केवल कोरा शासन और विधि की ही चर्चा न हो, क्योंकि विधेय कर्मों का शासन के रूप में कथन मानव की केवल बौद्धिक सीमा का स्पर्श करने वाला होता है। कोई भी कार्य क्यों न हो, जब तक उसमें हृदयस्थ राग का सन्निवेश नहीं होगा तब तक उसकी सफलता में प्रश्न सूचक चिह्न का बना रहना स्वाभाविक है। समस्त विश्व प्रणव के प्रेम से बिंधा हुआ है। अस्तु, गुरु का वही उपदेश सार्थक सिद्ध हो सकता है, जिसमें शिष्य के कल्याण के प्रति अगाध स्नेह विद्यमान हो। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है। प्रेम से पढ़ाया हुआ पाठ न केवल गुरु के प्रति अतुल श्रद्धा की सृष्टि करता है, अपितु शिष्य के जीवन में वह अविस्मरणीय घटना के रूप में सतत विद्यमान रहकर कल्याण-साधन करता रहता है। इसीलिए कबीर कहते हैं—

सतगुरु लई कमाण कर, बांहण लागा तीर।
एक जो बाह्या प्रीति सों, भीतर रह्या सरीर ॥

—क० ग्रं०, पृष्ठ १

उपदेश में प्रेम की प्रधानता के महत्व का निरूपण कबीर बादल की रूपक योजना द्वारा करते हैं—

सतगुरु हमसूं रीझ कर, एक कह्या परसंग।
बरस्या, बादल प्रेम का, भीग सब अंग ॥

—क० ग्रं०, पृष्ठ ४

कबीर की भाँति दरिया (मारवाड़ी) गुरू की कृपा का उल्लेख करते हुए बादल का ही रूपक उपस्थित करते हैं—

गुरु आये घन गरजि कर, अंतर कृपा उपाय।
तपता ते सीतल किया, सोता लिया जगाय ॥

—संतबानी संग्रह, (भाग-१,)पृष्ठ १२६

संशयात्मक स्थिति मानव-जीवन के विकास में अवरोधक बनती है। ज्ञान के अभाव में व्यक्ति नाना प्रकार की संकल्पात्मक एवं विकल्पात्मक स्थितियों में घड़ी के पेण्डुलम की भाँति इधर-उधर भटकता रहता है। कबीर का विश्वास है कि जिसके हृदय में गुरु-उपदेश बिंध कर रह गया है, वह समस्त संशयात्मक स्थितियों से परे रह कर पूर्ण मुक्तावस्था का उपभोग करता है। इसीलिए उनका कथन है—

संसय खाया सकल जग, संसा किनहुं नखद्ध ।[1]
जे बेधे गुरु अष्षिरां, तिन संसा चुण-चुण खद्ध ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ३

दरिया (मारवाड़ वाले) का भी यही विश्वास है—

सतगुरु सब्दां मिट गया, दरिया संशय सोग ।
औषद दे हरिनाम का, तन मन किया निरोग ।।

—संतसुधासार, पृष्ठ ४२२

गुरु के लिए यह आवश्यक है कि वह सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक दोनों ही प्रकार के प्रयोगों में पूर्णतया निष्णात हो, अन्यथा वह शिष्य के लिए उपादेय सिद्ध न हो सकेगा । इसीलिए कबीर कहते हैं—

जाका गुरु भी आंधला, चेला खरा निरंध ।[2]
अन्धै अन्धा ठेलिया, दून्यूं कूप परंत ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ २

जिस प्रकार गुरु के लिए पूर्ण ज्ञानी होना आवश्यक है उसी प्रकार शिष्य को भी पूर्णतः जिज्ञासु तथा बुद्धि-सम्पन्न होना आवश्यक है, अन्यथा गुरु के समस्त उपदेश शिष्य में ग्राहिका शक्ति के अभाव में व्यर्थ सिद्ध होंगे—

सतगुरु बपुरा क्या करै, जो सिषही मांहे चूक ।
भावै त्यूं प्रमोधि लै, ज्यूं बंसि बजाई फूंक ।।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ३

सुन्दरदास भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

सुंदर शिष जिज्ञास है, परि जो बुद्धि न होइ ।
तौ सदगुरु क्यों पचि मरै, शब्द ग्रहै नहिं कोय ।।

—सुंदर ग्रंथावली, पृष्ठ ६७२

---

१. अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।। गीता, ४/४०
[अज्ञ गुरुपदिष्ट अर्थ में अनभिज्ञ, गुरु-पदेश-ग्रहण में असमर्थ, कथंचित् ज्ञान उत्पन्न होने पर भी उसमें श्रद्धाहीन और कुछ श्रद्धायुक्त होने पर भी मुझे इसमें सिद्धि प्राप्त होगी या नहीं, इस प्रकार के संशयाक्रांत पुरुष स्वार्थ भ्रष्ट हो जाते हैं, क्योंकि संशयात्मा पुरुष का न तो यह लोक होता है और न परलोक और न सुख ही मिलता है]

२. अन्धेनैव नीयमाना: यथान्धाः ।। "(श्वेताश्वतरउपनिषद)"
—मुण्डकोपनिषद् ८।१७

संसार-सागर में डूबने से बचाने वाला एकमात्र गुरु ही है । भक्ति-मुक्ति का भी वही प्रदाता है । इसी बात का उल्लेख करते हुए दादू कहते हैं–

सतगुरु काढ़े केस गहि, डूबत इहि संसार ।
दादू नाव चढ़ाइ करि, कीये पैली पार ।।

–संतबानी सं०, (भा०१), पृ० ७६

सतगुरु मिलै तो पाइए, भक्ति मुक्ति भंडार ।
दादू सहजैं देखिए, साहिब का दीदार ।।

–संतबानी संग्रह (भाग-१), पृष्ठ ७७

समस्त संशयों का विनाशक तथा मुक्ति का प्रदाता गुरु को ही मानते हुए संत कवि सुन्दरदास का कथन है–

ऐसे गुरु पहिं आइ, प्रश्न करै कर जोरि कै ।
शिष्य मुकति ह्वै जाइ, संशय कोऊ नां रहै ।।

–संतसुधासार, पृ० ३४३

पर ऐसा गुरु साधारणतः संप्राप्त नहीं होता । उसके लिए बड़ी खोज करनी पड़ती है; फिर भी यदि भगवत्कृपा नहीं होगी तो सद्गुरु नहीं मिलेगा । उसी की कृपा के फलस्वरूप सद्गुरु की संप्राप्ति संभव है–

खोजत-खोजत सद्गुरु पाया, भूरि भाग्य जाग्यौं शिष आया ।
देखत दृष्टि भयो आनन्दा, यह तौ कृपा करी गोबिन्दा ।।

–संतसुधासार, पृ० ३४३

संत कवि रज्जब दास भी सद्गुरु की प्राप्ति प्रभु की कृपा का ही फल मानते हैं–

जनम सफल तब का भया, चरनौं चित लाया ।
रज्जब राम दया करी, दादू गुरु पाया ।।

–संतसुधासार, पृष्ठ ३०७

धरनीदास का विश्वास है कि गुरु के बिना जीवन वैसे ही निष्फल होता है जैसे धूयें का महल जो वायु का थोड़ा सा-भी स्पर्श पाते ही विलीन हो जाता है तथा धूलि का घर जिसका कुछ भी अस्तित्व नहीं है–

धूंवां केरा धौरेहरा, औ धूरी को धाम ।
ऐसे जीवन जगत में, बिनु गुरु बिनु हरि नाम ।।

–धरनीदास-संतबानी संग्रह पृष्ठ ११३

गुरु की भक्ति उनका स्मरण सदैव हितकारी होता है ।[1] उसके चरणों में रह कर व्यक्ति सदैव सुख-विलास अनुभव करता है ।[2] उसी की कृपा प्राप्त कर प्राणी सुजान की श्रेणी में परिगणित होने लगता है ।[3] गुरु की उपदेशरूपी दवा खा लेने पर फिर किसी प्रकार की आधिव्याधि नहीं रहती है ।[4] गुरु के उसी महत्व को अनुभव करते हुए रैदास एक रूपक की योजना द्वारा अपने गुरु संबंधी विचार व्यक्त करते हैं–

> चल मन हरि चटसाल पढ़ाऊं
> गुरु की सांटि, ग्यान का अच्छर, बिसरै तौ सहज समाधि लगाऊँ।
> प्रेम की पाटी, सुरति की लेखनि,
> ररौ ममौ लिखि आंक लखाऊँ ।

—रैदास, संतसुधासार, पृष्ठ ९६

जीवन का सच्चा सुख मन की स्थिर गति में है । स्थिरप्रज्ञ[5] प्राणी ही समस्त विकारों से रहित होकर परम आनन्द का उपभोग कर सकने में सक्षम होते हैं । जीवन की यह स्थिरता तब तक संभव नहीं है जब तक मन का चांचल्य दूर नहीं होता है । गुरु अपने उपदेशों द्वारा शिष्य को सतत प्रभावित करता रहता है । अन्ततोगत्वा वह पुण्य घटिका अवतरित होती है जब शिष्य भ्रामक स्थिति से पूर्णत: ऊपर उठ कर स्थिरता को प्राप्त कर लेता है । कबीर के शब्दों में 'पाऊँ' थैं पंगुल भया, सतगुरु मार्‍या बाण[6] की स्थिति ही पूर्ण आत्मबोध की स्थिति है । इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए दरिया (मारवाड़ वाले) कहते हैं–

> दरिया सतगुरु सबद की, लागी चोट सुठौर ।
> चंचल जो निसचल भया, मिट गयी मन की दौड़ ।।

—संतबानी संग्रह (भाग १), पृ० १२६

१. धरनीदास-संत सुधासार, पृ० ११२
२. जगजीवन-संत सुधासार, पृ० ४०१
३. दरिया (मारवाड़ वाले)—संत सुधासार, पृ० ४२२
४. बषना-संतसुधासार, पृ० ३१६
५. भगवती गीता में स्थिर प्रज्ञ की परिभाषा देते हुए भगवान कृष्ण का कथन है-
प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।—गीता २/५५
हे पार्थ ! मन में स्थित सारी कामनाओं को जिन्होंने पूर्णरूप से त्याग दिया है तथा जो आत्मा द्वारा आत्मा में तुष्ट रहता है, वही स्थितप्रज्ञ है ।
६. कबीर ग्रंथावली, पृ० २

संत-साहित्य में गुरु सम्बन्धी विचारों को प्रतीकात्मक शैली में भी व्यक्त किया गया है कहीं उसे बधिक के रूप में, कहीं सूरमा[1], कहीं लुहार[2], कहीं केवट[3] और कहीं राजगीर[4], पारस[5] आदि विभिन्न रूपों में वर्णन किया गया है । इसमें सन्देह नहीं कि संत-साहित्य में गुरु का ही सर्वाधिक महत्व है । कबीर का विश्वास है–

गुरु गोबिन्द तौ एक है, दूजा यहु आकार ।
आपा मेटि जीवत मरै, तौ पावै करतार ।।

–क० ग्रं०, पृ० १

त्रिवेणी

यौगिक साधना में प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों तथा षट्चक्रों को उत्तेजित किया जाता है तथा इनमें शक्ति का प्रादुर्भाव होते ही योगी सिद्धत्व की ओर उन्मुख होता है । शिवसंहिता के अनुसार शरीर में ३,५०,००० नाड़िया होती हैं, किन्तु सामान्यत: इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्णा ही अधिक प्रमुख हैं । इनमें से इड़ा और पिंगला मेरुदण्ड के क्रमश: वाम तथा दक्षिण दिशा में रहती हैं । सुषुम्णा इन दोनों के मध्य में रहती है । ये तीनों नाड़ियाँ त्रिकुटी में जाकर मिलती हैं । यौगिक साधना के अन्तर्गत संत कवियों ने भी इन तीन नाड़ियों के द्वारा सिद्धावस्था का निरूपण किया है ।

संतों के अनुसार इन तीनों नाड़ियों का शोधन करने से साधक सिद्धत्व प्राप्त कर लेता है ।[6] दरिया साहब का कथन है कि इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्णा त्रिकुटी में जाकर सम्मिलित होती है–

इड़ा पिंगला सुषुमना त्रिकुटी संधि मझार ।

–दरिया (मारवाड़), पृ० १

धरमदास ने भी साधक को त्रिकुटी में इन तीनों नाड़ियों की साधना का उपदेश दिया है–

इला पिंगला दोइ हैं, त्रिकुटी मन लावो ।

–धरमदास० पृ० ३१

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १
२. वही, पृ० ४
३. गरीबदास की बानी, पृ० १३
४. संतबानी संग्रह, पृ० १
५. गरीबदास की बानी, पृ० १९
६. इगला, पिंगला, सुखमन सोधै, गगन मण्डल मठ छावे । –धरमदास०, पृ० ४७

ऊपर पहुँच कर इड़ा, पिंगला किस प्रकार सुषुम्णा से मिलती हैं, इसे सहजोबाई के शब्दों में देखिये–

इड़ा पिंगला ऊपर पहुँच, सुखमन पाट उघारा।

–सहजो०, पृ० ५१

इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्णा में सुषुम्णा ही अधिक प्रसिद्ध है, क्योंकि इसी में कुंडलिनी का निवास है।[1] संतों ने इस रहस्य का भी उद्‌घाटन किया है। कबीर ने कई स्थलों पर यह संकेत किया है–

चंद सूर दुइ माठी कीन्हीं, सुखमनि चिगवा लागी रे।

–कबीर ग्रंथावली, पृ० ११०

इड़ा पिंगला कीन्हीं, ब्रह्म अगिनि परजारी।

–कबीर ग्रंथावली, पृ० ५१

धरनीदास सुषुम्णा के द्वारा नव नाड़ियों के निरीक्षण का उल्लेख करते हैं[2] तथा दरिया साहब (मारवाड़ी) के अनुसार सुषुम्णा का गतिशील होना ही योगी की सिद्ध दशा है।[3] वस्तुतः सभी संतों ने सुषुम्णा की जागृति पर बल दिया है, क्योंकि तत्व का दर्शन इसी से होता है–

सुखमना पर बैठि आसन, सहज ध्यान लगाव।

–यारी० रत्ना०, पृ० ३

सुखमनि सेज बिछाओ गगन में, नित उठि करौं निहोर।

–धरमदास०, पृ० १२

सुखमन सेज जे सुरत संवारहिं, झिलमिल झलक दिखावन।

–गुलाल०, पृ० ३१

गंगा-जमुना-सरस्वती

संत कवियों ने प्रतीक रूप में इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्णा को गंगा, जमुना तथा सरस्वती कहा है–

गंग जमुन सुरसुती मिलावे।

–यारी०, पृ० ८

गंग जमुना सरसुती। मिले जब सागर मांहि।

–दादू० भा० १, पृ० १६

---

१. (बीन) जोर का नाहीं काम इंगल पिंगल बोलै राम। –यारी रत्ना०, पृ० ८

२. नव नारिन को द्वारा निरखो, सहज सुखमना नारी। –धरनीदास० पृ० ५

३. अवस चलत है सुखमना, चलत प्रेम की सीर। –दरिया (मारवाड़ी), पृ० १४

गंगा जमुना अंतरवेद । सरसुती नीर बहै परवेस ।

—दादू० भा० १, पृ० १७३

गंग तीर मोरी खेती जमुन खरिहनियां ।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ९३

गंग जमुन की घाट, तो कलस धराइल हो ।

—गुलाल०, पृ० ११९

जिस प्रकार गंगा, जमुना तथा सरस्वती का संगम त्रिवेणी कहलाता है। उसी प्रकार इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्णा को भी संत कवियों ने त्रिवेणी कहा है—

त्रिवेणी मनाह न्हवाइए, सुरति मिले जो हाथि रे ।

—कबीर ग्रंथावली, पृ० ८८

तीया तीन त्रिवेणी संगम जहां अगम अस्थाना ।

—धरमदास० बानी, पृ० ७७

सहज समरपण सुमिरण सेवा, तिरवेणी तट संजम सपरा ।

—दादू० (भा० २), पृ० ३२

आध्यात्मिक विकास तथा परम आनन्द प्राप्त करने के लिए सभी संतों ने त्रिवेणी संगम पर ध्यान करने के लिए कहा है—

तिर तट करि बिहार । पीवत पठैं अमी धार ।

—सहजो०, पृ० ५५

तिरबेनी एक संगहि संगम, सुन्न सिखर कहं धाव रे ।

—धरनी०, पृ० १५

यारी साहब के अनुसार त्रिवेणी के घाट पर ही अमृत रस की प्राप्ति होती है ।[1] धरमदास ने इस त्रिवेणी का स्थान मस्तक माना है ।[2] धरनीदास के अनुसार कोई बिरला ही इस त्रिवेणी संगम के रहस्य को समझ पाता है ।[3]

चन्द्र और सूर्य

जिस प्रकार इड़ा, पिंगला के लिए गंग-जमुन प्रतीकों का प्रयोग होता है, उसी प्रकार चंद्र और सूर्य का भी । इसी आधार पर इड़ा चन्द्रा तथा पिंगला सूर्या नाड़ी कहलाती है । "चंद सूर दुइ खम्भवा, बंकनाल की डोर"[4] कह कर कबीर

१. आपा उलटि के हमी चुआओ तिरबेनी के घाट । —यारी० रत्ना०, पृष्ठ ५

२. माथे पर तिरबेनी बहत है । —धरमदास, पृष्ठ २३

३. तीया तीन त्रिबेनी संगम, सो बिरलै जन जाना । —धरनीदास, पृष्ठ ४७

४. कबीर ग्रंथावली, पृ० ८८

इन्हीं नाड़ियों का संकेत करते हैं। प्रायः सभी संत कवियों ने त्रिवेणी का उल्लेख करते हुए इनका वर्णन किया है—

चांद सुरज दोउ कोहबर बावा पांजी दसौ दुआर।

—धरमदास०, पृ० ५१

चंद सूर दर आयल तिरबेनी तीर।

—गुलाल०, पृ० ३२

गंगा-यमुना के संगम की भांति चन्द्र तथा सूर्य के मिलने पर ही अनाहत नाद सुनाई पड़ता है—

ससिहर सूर मिलावा।
तब अनहद बेन बजावा॥

—कबीर ग्रंथावली, पृ० १४६

भंवर गुफा

इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्णा का मिलन भौहों के मध्य में होता है, जिसे सामान्यतः त्रिकुटी कहा जाता है। संत कवियों ने इसके लिए भंवर गुफा शब्द का प्रयोग किया है। इसके लिए कहीं-कहीं पर ज्ञान गुफा[1] अथवा गगन गुफा[2] जैसे शब्द भी मिलते हैं। त्रिवेणी भंवर गुफा दोनों में ही साधक परमानन्द का लाभ करता है।

कबीर के अनुसार भंवर गुफा में ही अमृत रस की निर्झरिणी प्रवाहित होती है।[3] चरनदास के मत से यह वह स्थान है जहां घृत के अभाव में भी अखंड ज्योति आलोक-प्रसार करती है।[4] साधक ब्रह्माण्ड रूपी मेखला धारण करके भंवर गुफा में योग की साधना करता है।[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिवेणी का विश्राम-स्थल भंवर गुफा है—

भंवर गुफा में है तिरबेनी, सुरति निरति लै धावौ।

—चरन० (भा० १), पृ० ४८

१. काया खण्ड पांचौं। ज्ञान गुफा में रहे अकेला। —दादू० (भा०) २, पृ० ९८
२. गगन गुफा में बैठ के, देखे जगमग जोती। —मलूकदास, पृ० २१
तहं है गगन गुफा गढ़ गाढ़ो। —धरनी०, पृ० १५
३. नीझर झरै रस पीजिए, तहाँ भंवर गुफा के घाटि रे।—कबीर ग्रंथावली, पृ० ८८
४. भंवर गुफा में भंवर बनायो, बिन घृत जोती जारी है।
—चरनदास, (भा० १), पृ० ३४
५. भंवर गुफा ब्रह्मण्ड मेखला, जोग जुगति बनि आई। —यारी० साहब, पृ० ३

संत कवियों ने इन तीन नाड़ियों को समझने के लिए प्रतीकों का आश्रय लिया है तथा ये तीनों ही त्रिवेणी नाम से विख्यात हैं । कबीर ने एक ही पद में त्रिवेणी के सम्पूर्ण स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत की है तथा मूलाधार चक्र से लेकर आज्ञा चक्र तक की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है–

अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कमल की घाट ।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेनी संगम बाट ।।

–कबीर ग्रंथावली, पृ० ९४

बंकनाल

हठयोग में मेरुदण्ड का जो कार्य है वही ध्यानयोग में बंकनाल का है । बंकनाल मूलाधार से जागृत होकर नाभि के वाम पार्श्व से होकर हृदय और वक्षस्थल का स्पर्श करती है तथा आज्ञाचक्र में स्थित रुद्रग्रंथि में समाविष्ट हो जाती है । यहाँ से ब्रह्मरंध्र में होकर सिर की ओर जाकर पुनः ब्रह्मरंध्र की ओर आती है । इस अवस्था में इसका आकार अर्धवृत्ताकार कमलनाल की भाँति होता है । अतएव इसे बंकनाल कहते हैं । पुनः यह भंवर गुफा में प्रवेश कर जाती है । ध्यान योग के प्रसंग में संतों ने बंकनाल का उल्लेख किया है–

चंद सूर दुई खम्भवा, बंकनाल की डोर ।

–कबीर ग्रंथावली, पृ० ८८

कबीर ने सुषुम्णा के लिए बंकनाल का प्रयोग किया है । दरिया साहब (बिहार वाले) भी बंकनाल का वर्णन करते हैं–

कोइल कुहुके अपने भाऊ, बंकनाल बस नामी ठाऊ ।

–ज्ञान दीपक ५–३१

अकह अंक यह बंक नाल में, पदुम झलाझलि पावही ।

–ज्ञानरत्न, ५७-२

षट्चक्र

शरीर में कतिपय ऐसे प्रमुख स्थल हैं जिनमें प्राण तत्व की स्थिति मानी जाती है । ये स्थल मेरुदण्ड के अन्तर्गत होते हैं तथा इनका उचित स्थान मेरुदण्ड के मिलन-बिन्दु पर होता है । इन्हें चक्र कहते हैं तथा कमलाकृति सदृश होने के कारण पद्म नाम से अभिहित होते हैं । योग में इन्हीं चक्रों को शक्ति का अधिष्ठान माना गया है । इनसे ऊपर शिव का स्थान होता है । जागृत अवस्था में कुण्डलिनी सहस्रदल कमल तक पहुँचने के पूर्व इन चक्रों का भेदन करती है । ये चक्र संख्या में ६ होते हैं जिनका विवरण इस प्रकार है–

१. मूलाधार चक्र

यह समस्त चक्रों में प्रथम स्थान रखने के कारण प्रमुख है। जैसा कि इसके मूलाधार नाम से स्पष्ट है इसका स्थान नीचे योनि में माना गया है। इसका लोक भू: है और यह रक्त वर्ण का होता है। इसकी साधना करने से एक प्रकार की विशिष्ट ध्वनि क्रमश: वं, शं, षं, सं, के रूप में होती है। शिव संहिता के अनुसार मूलाधार चक्र पर मनन करने से योगी दर्दुरी सिद्धि प्राप्त करता है–

यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षण: ।
तस्य स्याद्दर्दुरी सिद्धिर्भूमित्यागक्रमेण वै ॥

–शिव सं०, ५।६४

इससे वह व्यक्ति ऋद्धि-शक्तियों का अर्जन करता है, जैसे आकाश में उड़ना हेतु सहित भूत, भविष्य तथा वर्तमान का ज्ञान, श्रेष्ठ बुद्धि तथा विद्या की प्राप्ति, मंत्र-सिद्धि आदि। वह जरा, व्याधि, मृत्यु इत्यादि क्लेशों से छुटकारा पाकर पूर्ण स्वस्थ, विनोदी तथा काव्य प्रबंध में समर्थ हो जाता है। इस चक्र में ब्रह्मा की स्थिति मानी गई है।

२. स्वाधिष्ठान चक्र

शिव संहिता के अनुसार षट्दल वाला स्वाधिष्ठान चक्र पेडू (लिंगमूल) में होता है।[1] यह षट्दल सिंदूर वर्ण का होता है। इसका लोक भुव: माना गया है। इसकी साधना करने से एक ध्वनि झंकृत होती है जो क्रमश: मं, यं, रं, लं, बं, की होती है, तथा इस पर मनन करने से योगी बंधन-मुक्त होकर निर्भय विचरण करता है। स्वर्गीय देव वधुएँ उससे अनुराग करने लगती हैं तथा अणिमा-लघिमा सिद्धियाँ उसके पास निवास करती हैं। वह मृत्यु-बंधन से भी मुक्त हो जाता है। उसमें अहंकारादि विकारों का पूर्णत: विनाश हो जाता है। इस चक्र में विष्णु के अधिवास की कल्पना की गई है।

३. मणिपूरक चक्र

इस चक्र की स्थिति नाभि में है, तथा इसके दस दल होते हैं। यह नील वर्ण का होता है जिसमें स्वर्णिम आभा भी विद्यमान रहती है। इसका लोक स्व: है। इसका ध्यान करने से क्रमश: डं, ढं, रगं, नं, थं, ध, नं, पं, फं, की ध्वनियाँ होती हैं। इसकी सिद्धि करने पर साधक पाताल सिद्धि प्राप्त करता है, जिसके प्रभाव से वह दूसरों के शरीर में प्रवेश कर जाता है, तथा सम्पत्ति का अधिकारी बनता है। साथ ही वह संहार तथा पालन की क्रियाओं में भी समर्थ होता है। इस चक्र में

१. द्वितीयं तु सरोजं च लिंगमूले व्यवस्थितम् ।
बादिलांतं च षड्वर्णं परिभास्वर षड्दलम् । ५।७५

महारुद्र का निवास माना जाता है ।

४. अनाहत चक्र

अनाहत नामक चतुर्थ चक्र हृदय में होता है ('हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत्' शिव संहिता, ५।८३) । इसमें द्वादश दल होते हैं । और यह अरुण वर्ण का होता है ।[2] इसका ध्यान करने से साधक को अनाहत नाद की-सी झंकृति सुनाई पड़ती है जो क्रमशः कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं के रूप में होती है। इसका लोक महः होता है। इसका ध्यान करने से योगी को खेचरी शक्ति प्राप्त होती है, जिससे वह आकाश मार्ग से जा सकता है। इसके साथ ही उसे अपूर्व ज्ञान प्राप्त होता है ।

५. विशुद्ध चक्र

यह चक्र कंठ में स्थिर होता है। इसका वर्ण शुद्ध स्वर्ण की भाँति होता है। इसमें सदा शिव का निवास माना गया है। शिव संहिता के अनुसार इसमें षोडस स्वर (अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ऐ ओ औ अं अः) होते हैं तथा यही इसके षोडश दल कहलाते हैं–

कण्ठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नाम पंचमं।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वर संयुतम् ।।

–शिव संहिता, ५।९०

इसका लोक जनः होता है। इस चक्र पर मनन करने से योगी योग की सम्पूर्ण प्रक्रिया का स्वामी बन जाता है। बाह्य जगत से सम्बन्ध-विच्छेद करके वह आंतरिक संसार में विचरण करता है। उसके कुपित होने पर सम्पूर्ण विश्व संत्रस्त हो उठता है तथा वह १,००० वर्ष की दीर्घायु प्राप्त करता है।

६. आज्ञा चक्र

आज्ञा चक्र अंतिम चक्र है। यह भौहों के मध्य में होता है। इसमें दो दल होते हैं तथा यह शुक्लाभ होता है। इसका लोक तपः है। इसकी सिद्धि करने पर हँ, शँ, का अनहद नाद सुनाई पड़ता है। इसका चिंतन करने से सर्वोत्तम सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। शिव संहिता (५।९८) के अनुसार यह परम तेज रूप होता है। यह समस्त तंत्रों में प्रधान माना गया है।

चक्रों में स्थित जिन देवों की कल्पना ऊपर बताई गई है उनके संबंध में कबीर आदि संत कवियों ने अपनी स्थिति पूर्णतः स्वतंत्र रखी है। वे बहुदेववादी थे भी

१. शिवसंहिता में इसे हेम वर्ण का माना गया है–
तृतीयं पंकजं नाम मणिपूरक संज्ञकम् ।
दशारंडाफिकांतार्णं शोभितं हेम वर्णकम् ।। ५।७९

नहीं। अतः उन्हें तो एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता मान्य है उसी सत्ता को वे विभिन्न नामों से स्मरण करते हैं। कहीं वह श्री रंग बन जाता है, कहीं निरंजन, कहीं हरि कहीं राम और कहीं रहीम आदि।

सहस्रार चक्र

षट्चक्रों के अतिरिक्त ब्रह्मरंध्र में एक अन्य चक्र होता है जिसे सहस्रार चक्र या साहस दल कमल कहते हैं। इसकी त्रिकोण कर्णिका में पूर्णचन्द्र मण्डल होता है, इसमें एक अलौकिक प्रकाशपुंज होता है तथा इसी में परमशिव विराजमान है। इसके समीप में सहस्रों रवियों के प्रकाश के तुल्य अर्धचन्द्र आकार की निर्वाण कला का निवास है तथा इसी के मध्य भास्वर निर्वाण शक्ति होती है।

सहस्रार चक्र तालु मूल में होता है, इसी में सुषुम्णा का विवर होता है।[1] मूलाधार से जागृत होकर कुंडलिनी षट्चक्रों का बेधन करके इसी में पहुँचती है। इसमें छ द्वार होते हैं जिन्हें कुंडलिनी ही खोलती है। प्राणायाम की शक्ति से आत्मा इस बिन्दु पर पहुँच कर शरीर से स्वतंत्र हो जाती है और 'सोऽहं' का अनुभव करती है।

चक्रों के लिए प्रायः कमल का प्रयोग होता है। संत कवियों ने भी इन चक्रों को कमलों के नाम से सम्बोधित किया है। दरिया (मारवाड़) के अनुसार षट्कंवल का बेधन करने पर काम-वासना पाताल को चली जाती है।[2] परब्रह्म का निवास षट्कमलों के मध्य होता है। इन्हीं में उसकी ज्योति जगमगाती है। संतो ने कमल शब्द का प्रयोग अष्ट कमल, षट्कमल, षोडष कमल आदि के रूप में किया है तथा उन सभी में परम तत्व का निवास माना है—

> **अष्ट कवंल दल भीतरां, तहां श्री रंग केलि कराइ रे।**
>
> कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८८
>
> **अरध उरध षट कवंल बिच, करतार छिपाया।**
>
> —दरिया (मारवाड़) पृष्ठ ४५
>
> **षोडस कवंल जब चेतिया, तब मिलि गये बनवारि रे।**
>
> —कबीर ग्रंथावली, पृ० ८८

कुंडलनी

हठयोग साधना का प्रधान लक्ष्य मूलाधार चक्र से कुंडलिनी को जागृत करके

१. अत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारंसरोरुहम्।
अस्ति यत्र सुषुम्णा या मूलं सविवरं स्थितम्॥ —शिवसंहिता, ५।१२०

२. षट कंवल बेधकर नाभि कंवल छेदकर काम को लोप जाते।
—दरिया (मारवाड़), पृ० ५०

सहसदल कमल में पहुंचाना है। शरीर में तीन प्रधान नाड़ियाँ हैं–इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा। कुंडलिनी शक्ति सुषुम्णा नारी के मार्ग में स्थित है तथा विद्युत लता की भाँति कुटिल (सर्पाकार) होती है[1]–

तत्र विद्युल्लताकारा कुंडली पर देवता।
सार्द्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्गसंस्थिता ।।

–शिव संहिता, २-२३

प्राणायामादि के द्वारा जागृत होकर कुंडलिनी शक्ति सुषुम्णा के अधोभाग में स्थित मूलाधार चक्र से होकर सहस्रदल कमल की ओर बढ़ती है। वह षट्चक्रों का भेदन करती है तथा सहस्रदल उसमें शक्ति-संचार कर ब्रह्मरंध्र की ओर अग्रसर होती है। इसकी गति के साथ ही मन शक्ति सम्पन्न होता जाता है तथा सहस्रदल में पहुँचने पर योगी पूर्ण मुक्त हो जाता है, वाह्य तथा आंतरिक तत्त्वों से पृथक होकर आत्मा उन्मुक्त रूप से विचरण करती है। यही पूर्ण सिद्धावस्था कहलाती है।

कुंडलिनी सतत निर्माण में प्रवृत्त रहती है तथा यही संसार की मूल सृजन-कर्त्री है। इसे वाग्देवी कहा जाता है तथा देवगण इसकी वंदना करते हैं (शिव-संहिता २।२४)। शिवसंहिता के अनुसार सर्प के समान प्रसुप्त कुंडलिनी अपनी ही प्रभा से आलोकित रहती है। इसे जागृत करने के लिए पंचप्राण (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) की आवश्यकता रहती है। प्राणायाम द्वारा इनकी साधना की जाती है तथा प्राणायाम की विशिष्ट क्रिया द्वारा ही योगी कुंडलनी शक्ति को जागृत करता है। सिद्धों, नाथों, एवं संतों की साधना पद्धति में इसका विशेष वर्णन प्राप्त होता है।

संतों की उलटबासियाँ

भाषा अभिव्यक्ति का एक साधन है। अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ शब्दों के माध्यम से ही व्यक्त होती है। अस्तु शब्द ही अभिव्यंजना के मूल साधन हैं। विषय अथवा भाव के अनुसार शब्दों का प्रयोग होता है। जीवन के सामान्य अनुभव तथा क्रियाकलाप सामान्य शब्दावली में प्रकट होते हैं, किन्तु आध्यात्मिक जीवन की अनिर्वचनीय अनुभूति सरल भाषा में व्यक्त नहीं हो पाती। इसके लिए उसे प्रतीकों तथा उपमानों का आश्रय लेना पड़ता है। ये प्रतीक कभी तो सरल होते हैं और कभी उलटे और जटिल। संत-साहित्य में उपलब्ध इन उलटे प्रतीकों को ही उलटबांसी कहा जाता है। धरती के बरसने से आकाश का भीगना, समुद्र में आग लगाने से नदियों का जलकर कोयला हो जाना, आकाश में स्थिति औंधे मुँह के कुएं में पाताल-स्थित पनिहारिन का पानी पीना आदि अनेक असम्भव विपरीत प्रतीत होनेवाली

१. कातिक षष्ट कवंल दल भीतर अगम जोति दरसै।

–धरमदास, पृष्ठ ५७

बातों का संतों ने सामान्य रूप में प्रयोग किया है ।[1]

डा० बड़थ्वाल ने उलटबांसियों के दो भेद माने हैं, १–सांकेतिक और २–रहस्यात्मक । उनके अनुसार जब सत्य की अभिव्यक्ति बिना इनके असम्भव प्रतीत होती है तो इनका प्रयोग स्वाभाविक है, किन्तु जहाँ जन सामान्य से पृथक करने के लिए आध्यात्मिक अनुभूतियाँ जानबूझ कर पहेली के रूप में उपस्थित की जाती है, वहाँ वे अवश्य ही रहस्यमयी होती है ।[2] डा० बड़थ्वाल का यह विभाजन तो स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु जहाँ उन्होंने यह कहा है कि इस शैली के निर्माण में संत कवियों अथवा अन्य साधकों की स्वेच्छा तथा गोपनीयता की भावना ही मूल हेतु थी, वह अधिक तर्क-संगत नहीं प्रतीत होता । वस्तुस्थिति यह है कि विषय की दुर्बोधता ने ही इस शैली को जन्म दिया है । इसमें साधकों का दोष नहीं है । वस्तुत: अनिर्वचनीय अनुभूति का स्पष्टीकरण सामान्य जन के सामर्थ्य की बात नही हैं । जो इस रहस्य को समझ लेता है, वही तो वास्तविक ज्ञानी और अध्यात्मविद् है । कबीर ने अपनी बानियों में स्थल-स्थल पर यह संकेत दिया है कि तत्व-पराङ्मुख व्यक्ति इन्हें समझ ही नहीं सकता तथा जो इन्हें सम्यक्‌रूपेण जानता है वही परम ज्ञानी और पंडित है, कबीर उसे अपना गुरु तक बनाने को तैयार है–

अवधू सो जोगी गुर मेरा । जो या पद का करै निबेरा ।।

–क० ग्रं०, पृ० १४३

वस्तुत: ये उलटबांसियाँ मनोविनोद अथवा पहेली के लिए निर्मित नहीं हुई थीं । इनमें तत्त्वज्ञान का सार समाया हुआ है तथा इनके क्लिष्टत्व अथवा रहस्यमयता का कारण भी यही है ।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है, उलटबांसी आध्यात्मिक अनुभूति को व्यक्त करने की प्रतीक शैली पर आधारित है । अत: इनका प्रयोग न केवल संत-साहित्य में, अपितु इनके बहुत पहले से होने लगा था । ऋग्वेद के एक मंत्र में उलटबांसी का रूप देखा जा सकता है–

क इमं वो नृण्य माचिकेत, वत्सो मातृर्जायति सुधाभि: ।

–ऋग्वेद, सूक्त, ९५

(अर्थात वन आदि में अन्तर्निहित अग्नि को कौन जानता है । पुत्र होकर भी अग्नि अपनी माताओं को हव्य द्वारा जन्म देता है) ।

श्री परशुराम चतुर्वेदी भी अथर्ववेद के एक मंत्र में इसके रूप को देखते हैं[2]–

ईह ब्रवीतु य ईयंवेदास्य वामस्य निहितं पदं वें ।
शीर्ष्ण: क्षीरे दुहते गावो अस्य व पिबमाना उदकं पदायु: ।।

अथर्ववेद, ९-९-५

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ३७०–७१ ।
२. कबीर साहित्य की परख, पृ० १५३

(हे विद्वान ! जो भी इस सुन्दर एवं गतिशील पक्षी के भीतर निहित रूप को जानता हो बतलावे, उसकी इंद्रियाँ अपने शिरोभाग द्वारा क्षीर प्रदान करती हैं और अपने चरणों से जल पिया करती हैं।)

उपनिषदों में इस प्रकार की अभिव्यंजना शैली का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (३/१९) एक ऐसी शक्ति का परिचय देता है जो हस्तपाद-विहीन होने पर भी वेगवान और ग्रहण करने वाला, नेत्रहीन होने पर भी देखने वाला और कर्ण-रहित होने पर भी सुनने वाला है।[1] कठोपनिषद भी इसी भाव को व्यक्त करता है–

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः। –१-२-२१

ईशोपनिषद कुछ भिन्न शब्दों में इसी मन्तव्य की पुष्टि करता है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ५ ॥

रहस्यात्मक प्रतीकों अथवा उलटवासियों की यह परम्परा बौद्ध तथा जैन साहित्य में प्रयुक्त हुई है।[2]

वस्तुतः संत कवियों की उलटबांसियाँ वज्रयानी सिद्धों एवं नाथपंथी योगियों के ही उत्तराधिकार को सुरक्षित किए हैं तथा इस दृष्टि से इन कवियों ने अपने पूर्वजों का सफल अनुकरण किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी[3] के अनुसार इन सिद्धों और योगियों की सफलता का रहस्य यही था कि ये तीन लोक से न्यारी बात को कहते थे। उनके मत से सारी दुनियाँ उलटी बही जा रही थी तथा हठयोग के सिद्धांतों और व्यवहारों को मानने वाले ही उचित मार्ग पर थे। इस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण जगत के नियमों को उलटे रूप में देखने का अभ्यास किया। सामान्यतः संसार, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को क्रमशः देखता है। योगियों की दृष्टि में यह क्रम इस प्रकार है:–मोक्ष, धर्म, अर्थ, काम। यह विरोध-भावना तथा उलटी बात कहने की प्रवृत्ति योग तथा तंत्रमार्ग में अधिक बलवती हुई और इन सम्प्रदायों में उल्टी बात कहने का अभ्यास बढ़ता गया। इसके उपरान्त उन्होंने दृश्यमान जगत के सत्य पदार्थों को गलत करके दिखाया तथा उन्हीं प्रतीकों को लेकर योग-मार्ग की प्रक्रिया का निरूपण करना प्रारम्भ कर दिया।

सामान्य नियम के अनुसार सूर्य प्रकाश और जीवनदान देता है, परन्तु

१. मानस में इसी का रूपान्तर देखिए–
पद बिनु चलइ सुनइ बिनु काना, कर बिनु कर्म करइ बिधि नाना
२. धम्मपद–पकिण्ण वग्गो, ५-६
३. हजारीप्रसाद द्विवेदी–कबीर, पृ० ८०

योगियों ने माना कि सूर्य ही मृत्यु का कारण है। चन्द्रमा के क्षरणशील अमृत का सूर्य निगल जाता है, अतः सूर्य का मुंह ढकना ही योगी का परम कार्य है—

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृत दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यः तेन पिण्डो जरायुतः ।।

—हठयोग०, ३-७६

इसी प्रकार समाज में बाल-विधवा के सम्मान और रक्षण का विधान है, पर हठयोगियों ने कहा कि बाल-विधवा बलात्कार पूर्वक ग्रहण करना ही तो परमपद का सत्य मार्ग है—

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी ।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम् ।।

—हठयोग, पृ० ३-१०१

परन्तु द्रष्टव्य यह है कि सूर्य और चन्द्र क्या हैं, बाल-विधवा कौन है ? हठयोगियों के ही शब्दों में बाल-विधवा का स्वरूप देखिये—

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा तु कुण्डली ।।

—हठयोग०, ३-१०२

स्पष्ट है कि बालविधवा से लेखक का अभिप्राय कुण्डलिनी शक्ति से है जो इड़ा, पिंगला के मध्यवर्ती सुषुम्णा के अन्दर निवास करती है। अतः इन उल्टे प्रतीत होने वाले प्रतीकों के द्वारा योगियों ने योगमार्ग के जटिल सिद्धान्तों को समझाने का प्रयत्न किया है। अतः साम्प्रदायिक आधार पर उल्टी बानियाँ योग-मार्ग से प्रविष्ट हुई।

सहजयानी सम्प्रदाय में इन उल्टी बानियों का नाम संध्या भाषा व्यवहृत होता था। महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार संध्या भाषा का अर्थ उस भाषा से है जिसका कुछ अंश बोधगम्य हो और कुछ अस्पष्ट। विधुशेखर भट्टाचार्य के मत से यह शब्द वस्तुतः 'सन्धा भाषा' है, 'संध्या भाषा' नहीं। संधा का अर्थ साभिप्राय से है जो संधाय (अभिप्रेत्य) का अपभ्रष्ट रूप है। इसका वास्तविक अर्थ कुछ भी हो, पर इतना स्पष्ट है कि शास्त्री जी का अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उलटबांसियों की परम्परा संत कवियों से बहुत पहले की है तथा सहजयान में इसका पूर्ण विकसित स्वरूप परिलक्षित होता है। संत कवियों ने इस शैली को वहीं से ग्रहण किया था। योगियों ने इन प्रतीकों

को जिन विभिन्न अर्थों को व्यक्त करने के लिए अपनाया था उन्हीं अर्थों में संतों ने भी इनका प्रयोग किया है। नीचे हम कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं:—ब्रह्मनाड़ी-बिल। नाद-शिकारी, गंधक, काष्ठ। इड़ा-सूर्य अंग, वरुणा गंगा। पिंगला-चन्द्रअंग, यमुना, असी। सुषुम्णा-शून्य पद, राजपथ, ब्रह्मरंध्र, महापथ, श्मशान, मध्य मार्ग, ब्रह्मनाड़ी, सरस्वती। कुण्डलिनी-कुटिलांगी, भुजंगी शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती, बालरण्डा। मूलाधार पद्म-सूर्य। ब्रह्मरंध्र-चन्द्र। चन्द्र का रस-सोमरस, अमर वारुणी, अमृत। ब्रह्मरंध्र-त्रिवेणी, शून्य, कमल, कूप गगन।

ये शब्द हठयोग तथा संत-साहित्य दोनों ही में प्राप्त होते हैं, परन्तु संतों ने केवल इन्हीं को ग्रहण नहीं किया है। उनकी उलटवाँसियाँ लोक-जीवन के सामान्य शब्दों पर भी आधारित हैं। उदाहरण के लिए कबीर के बिलैया, मूसा, पूत, बोझ माता, आदि शब्द उनके अपने हैं, जिनका योग-सम्प्रदाय में प्रयोग नहीं हुआ है। ईश्वर, जीव, माया, मन, संसार आदि के सम्बन्ध में संत-साहित्य में प्रयुक्त होने वाले अधिकांश प्रतीकात्मक शब्दों को हम पहले दे आए हैं। यहाँ पर कुछ अन्य प्रतीकात्मक शब्दों को दे रहे हैं जिनका प्रयोग संतों ने कभी तो उलटवाँसियों और कभी सामान्य अभिव्यक्तियों के लिए किया है—[1]

नर-तन—यौवन, दिवस, दिन।
इन्द्रिय—सखी, सहेलरी इत्यादि।
ज्ञान—दीपक, हीरा, फल, दाँ, स्वाति बूँद, मोती, कीड़ा, चौपड़।
सहस्रार चक्र—गगन, स्यंभ, दुआर, औंधा कुआं।
प्रकृति—पत्ते।
काम-क्रोधादि—पांच लरिका, पांच चोर।
करुणा-गुण—मेघ।
साधक—अहेरी, पारधी।
चित्त—कपास।
अज्ञानी चित्त—काग।
अन्तःकरण—आँगन।

विद्वद्वर पं० परशुराम चतुर्वेदी ने 'कबीर साहित्य की परख' नामक पुस्तक में उलटवाँसियों के दो रूपों पर प्रकाश डाला है। एक में प्रतीक या पारिभाषिक शब्दों का आधार होता है तथा दूसरे में असंगति, विषम, विरोध, विभावना, रूपक, विशेषोक्ति तथा अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग होता है। इसके मध्यम स्थान की कुछ उलटवांसियाँ ऐसी हैं जिनमें दोनों का ही समावेश होता है।[2] इनमें से प्रथम

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० ८४
२. कबीर साहित्य की परख, पृ० १६१

वर्ग की उलटबांसियां व्यक्त तथ्य को और अधिक दुर्गम बना देती हैं तथा इनका अर्थ ज्ञात करने के लिए साम्प्रदायिक बातों की जानकारी भी आवश्यक हो जाती है। इसके साथ ही इन उलटबांसियों के बोध के लिए वर्ण्य-विषय का ज्ञान अथवा पारिभाषिक शब्दों का पूर्ण परिचय भी आवश्यक है। किन्तु जिन उलटबांसियों के मूल में अलंकार होते हैं, उनके लिए अधिक प्रकृष्ट ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार वस्तु धर्म के साथ जिस किसी भी उपमान का साधर्म्य हो सकता है उसे ही अतिशयोक्ति अलंकार की शैली पर वस्तु का वाचक मान लिया जाता है।[1] संसार में विषयी लोग डूब जाते हैं, इसीलिए वह सागर का समानधर्मा है। जो इसमें एक बार फँस जाता है वह पुन: मार्गान्वेषण नहीं कर पाता। इसके साथ ही यह वन के समान भी है क्योंकि इसमें पदे-पदे घातक पशुओं की भाँति विषयों का भय होता है। अत: सागर तथा वन का समानधर्मी होने के कारण संसार सागर एवं वन कहलाता है और ये उसके पर्याय जैसे प्रतीत होते हैं।

चतुर्वेदी जी ने कबीर साहित्य की उलटबांसियों को निम्नलिखित रूपों में विभक्त किया है[2]—

(१) वे जिनमें सांसारिक भ्रम, प्रपंच, व्यवहार जैसे विषय आते हैं और वे भी जो कबीर साहब की व्यक्तिगत समस्याओं की चर्चा करती है।

(२) वे जिनमें साधनात्मक रहस्यों का परिचय पाया जाता है।

(३) वे जिनमें ज्ञान-विरह, सहजानुभूति अथवा आध्यात्मिक जीवन का वर्णन रहा करता है।

(४) वे जिनमें आत्मज्ञान, माया, काल, सृष्टि एवं मन जैसे विषयों के स्वरूप का परिचय दिया गया है।

(५) वे जिनके द्वारा कबीर साहब सर्व साधारण को किसी न किसी रूप में अपना संदेश देते जान पड़ते हैं।

उलटबांसियों की यह परम्परा सहजयानी तथा नाथपंथी सम्प्रदायों से निर्गुण पंथी संत कवियों तक निरन्तर चलती रही तथा संत कवियों ने अपने पूर्ववर्ती लेखकों की अपेक्षा इनका अधिक प्रयोग किया है। यहाँ पर हम कबीर, सुन्दरदास आदि प्रमुख संत कवियों की कतिपय उलटबांसियों को प्रस्तुत करेंगे—

---

१. कबीर, पृ० ८४

२. कबीर साहित्य की परख, पृ० १६१-६२

अवधू ऐसा ग्यान विचारं ।
मेरे चढ़ें सु अधधर डूबे, निराधार पारं ।
ऊघट चले सुनगरि पहूते, बाट चले ते लूटे ।।
एक जेवड़ी सब लपटाने, के बांधे के छूटे ।
मंदरि पेसि चहूं दिसि भीगे, बाहरि रहे ते सूका ।
सरि मारे ते सदा सुआरे अनमारे ते दूषा ।
बिन नैनन के सब जा देखे, लोचन अछते अंधा ।
कहे कबीर कछु समझि परी है, यहु जग देख्या धंधा ।।

—कबीर ग्रंथावली पृ० १४७

(अर्थ—हे अवधू ! जो लोग नाव पर चढ़े (भिन्न-भिन्न इष्ट देवों का आधार लेकर बढ़े) वे समुद्र में डूब गए (संसार में ही रह गए), किन्तु जिनके पास ऐसा कोई भी साधन नहीं था वे पार हो गए (मुक्त हो गए) । जो बिना किसी मार्ग के चले वे नगर (परमपद) तक पहुँच गए, किन्तु जिन लोगों ने मार्ग (अंधविश्वास पूर्ण परम्पराओं) का सहारा लिया वे लूट लिए गए (उनके आध्यात्मिक गुणों का ह्रास हो गया) । (माया के) बंधन में सभी बंधे हुए हैं, किसे मुक्त और किसे बद्ध कहा जाय । जो कोई उस घर (परमपद) में प्रविष्ट हो गए उनके सभी अंग भीग गए (वे ईश्वरीय प्रेम रस से सिक्त हो गए) किन्तु जो बाहर रह गए (जो उससे प्रभावित न हो सके) वे पूर्णरूपेण सूखे हैं (उससे वंचित हैं) । वे ही सुखी हैं जिन्हें बाण लग गया है । जो सतगुरु के वचनों द्वारा प्रभावित हैं अथवा जिनके भीतर आध्यात्मिक विरह जाग्रत हो चुका है । और अभागे व दुखी वे हैं जिन्हें उसकी चोट नहीं लग सकी । अन्धे लोग (जिनकी आँखें संसार की ओर से बन्द हैं) सभी कुछ देखते हैं, किन्तु आँख वाले (संसारी लोग) कुछ भी नहीं देख पाते ।)

कबीर ने ब्रह्म के लिये तड़पने वाली आत्मा की रक्षा का वर्णन पति-पत्नी की वियोगानुभूति को प्रतीकात्मकता के रूप में किया है—

यहु तन जालौ मसि करौं, लिखौं राम का नाउं ।
लेखनि करौं करंक की, लिखि लिखि राम पठाउं ।।

सुन्दरदास की भी उलटबांसी निम्नांकित पद में दृष्टव्य है[1]—

कुंजर कूं कीरी गिल बैठी, सिंघहि खाइ अघानो स्याल ।
मछरी अग्नि मांहि सुख पायो, जल में बहुत हुती बेहाल ।।
पंगु चढ्यो परबत के ऊपर, मृतकहिं डेराने काल ।
जाका अनुभव होय सो जाने, सुन्दर उलटा ख्याल ।।

—सुन्दर विलास, पृ० ८७

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय पृ० ३७५

[अर्थ—चींटी (जीवात्मा) ने हाथी (वस्तुतः विस्तृत संसार या माया) को निगल लिया है तथा शृगाल ने सिंह को खा लिया है । मछली (आत्मा) को (ज्ञान की) आग में सुख मिलता है, वह पानी में बेचैन थी । लंगड़ा (अधिक एकाग्रचित होने के कारण अपनी इन्द्रियों का प्रयोग त्याग कर) पहाड़ी (आत्मानुभूति की उच्च दशा तक) पहुँच गया है । मृत्यु (संसार की ओर से मरे हुए) मृतक से भयभीत होती है । सुन्दर के मत से अनुभवी ही ऐसी बानी का रहस्य जान सकता है ।]

उलटबांसियों की यह स्वरूप सभी संतों के साहित्य में प्राप्त होती है तथा अधिकांश में वे ही प्रतीक व्यवहृत हुए हैं, जिनका प्रयोग कबीर ने किया है । संत-साहित्य की भाषा की यह एक प्रमुख विशेषता है । इसका आध्यात्मिक एवं भाषा वैज्ञानिक महत्व अक्षुण्ण है ।

संत-साहित्य में संख्यावाचक शब्द

ज्ञान के कई प्रकार होते हैं । सबसे श्रेष्ठ ज्ञान विशुद्ध रूप से स्थूल आश्रय से रहित ज्ञान के प्रत्यय में विचरण करना है । गणित और दर्शन इसी कोटि के ज्ञान में परिगणित होते हैं । दर्शन सत्यता या वास्तविकता की जिज्ञसा है, परन्तु गणित ज्ञान के क्षेत्र में सूक्ष्म प्रत्ययों तक पहुँचना है । संख्या गणित का ही एक भाग है । सांख्य शास्त्र में जिस ज्ञान का प्रतिपादन है वह भी संख्या पर आधारित है । 'एकोऽहं बहुस्याम्' उपनिषद की इस युक्ति के आधार पर अव्यक्त प्रकृति तत्व एक से अनेक बनता है । सांख्य में उसके प्रथम सात विकार प्रकृति एवं विकृति दोनों ही कहे जाते हैं, परन्तु अंतिम सोलह केवल विकार हैं ।[1] वेद द्वारा भी सांख्य का प्रतिपादन कई स्थलों पर होता है और जैसे प्रचलित व्यवहार में पाँच महाभूत, तीन गुण, सोलह संस्कार आदि प्रख्यात हैं, इसी प्रकार संत-साहित्य में भी एक निश्चित संख्या कुछ निश्चित पदार्थों का बोध कराने वाली मानी जाती है । संतों ने जहाँ इन संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग किया है वहाँ इनके द्वारा उन्होंने अपने समय में प्रचलित तथा परम्परा प्राप्त पदार्थों का ज्ञान कराया है ।

नीचे हम कतिपय संख्यावाचक शब्दों को उनके प्रयोग सम्बन्धी संकेतों को दृष्टि में रखते हुए दे रहे हैं । प्रायः सभी संतों ने उन्हीं संख्यावाची संकेतों को लिया है जिन्हें कबीर ने विभिन्न भावों एवं तथ्यों को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त करना उचित समझा है । उदाहरण के लिए 'पाँच-पचीस' संख्यावाचक शब्दों को ही ले लेजिए । इनका प्रयोग प्रायः सभी संतों ने इस प्रकार किया है—

१. मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।। —सांख्य कारिका ३

कबीर– पाँच पचीस तीन के पिंजरा तेहि माँ राख छिपाई हो ।
–कबीर (शब्दावली भाग २), पृ० ४९

दादू०– काया के अस्थल रहै, मन राजा पंच प्रधान ।
पचिस प्रकिरती तीनगुण, आपा गर्व गुमान ।।
–दादू० (भा० १), पृ० ५८

सुन्दर दास– पंच तत्व को देह जड़, सब गुन मिलि चौबीस ।
सुन्दर चेतनि आतमा, ताहि मिलै पच्चीस ।।
–सुन्दर ग्रंथावली, पृ० ७७६

रज्जब– पांच पचीसौं त्रिगुण मनहिं, बिरला फेरे कोइ ।
–रज्जब, पृ० १५

धरमदास– पांचे पांच पचीसो बस करि सांचे होइ ठहरावे ।
–धरमदास की बानी, पृ० ७७

धरनी दास– एक जगदीस को सीस अरपै नहीं, पांच पचीस बहु बात ठानी ।
–धरनीदास की बानी, पृ० ३१

दरिया (बिहार)–पांच पचीस भवन में नाचहिं भर्म अबीर उड़ाया ।
–संतबानी संग्रह, (भाग २), १३८

मलूकदास– पांच ओ पचीस चोर लूटहिं दुकनियाँ ।
–मलूकदास० पृ० २६

यारी– पांच पचीस तमासा देखहिं उलटि गगन चढ़ि खेला ।
–यारी रत्नावली, पृ० ४

गुलाल– पांच पचीसो दे झझकारी, गहहु नाम की डोरि संभारी ।
–दूलन० बानी, पृ० २

ऊपर हमने कतिपय संत कवियों के उद्धरण प्रस्तुत किए हैं जिनसे स्पष्ट है कि इन संख्याओं द्वारा सभी संत प्रायः एक ही बात कहते हैं । इसी प्रकार अन्य संख्याओं के प्रयोग भी हैं । अस्तु हमने संख्यावाची शब्दों को कबीर-साहित्य से ही लेकर संतोष किया है । यदि सभी संतों से इन शब्दों को लिया जाता तो प्रबन्ध के कलेवर में अत्यधिक वृद्धि भी हो जाती और उससे किसी अन्य विशेष उद्देश्य की सिद्धि भी न होती ।

"एक"

एक जोति : ब्रह्म– एक जोति एका मिली किंबा होइमहोइ ।।
–रा० कु०, संतकबीर, पृ० ५८

एक सयान[1]: अद्वैतबादी—ग्यानी चतुर बिचिच्छन लोइ ।
एक समान-समान न कोई ।।

—बीजक, पृ० १३

एक नारी : माया, वाणी—एकहि नारी पसारा, जग महं भया अंदेसा ।

—बी०, पृ० ३०

अंतर जोति सब्द यक नारी हरि ब्रह्माता के त्रिपुरारी ।

—बी०, पृ० २८

एकै अंड : ब्रह्माण्ड—एकै अंड सकल चौरासी भर्म भूला संसार ।

—बीजक, पृ० ३०

एकै पुरुष : चैतन्य—एकै पुरुष एक है नारी, ताकर करहु विचारा ।

—बी०, पृ० ३०

एकै काल : यमराज, मन—एकै काल सकल संसारा,
एक नाम है जपत पियारा ।

—बी०, पृ० ३०

एक बिरवा: संसार—बिरवा एक सकल संसारा ।
सरग सीस जरि गयल पतारा ।।

—बीजक, पृष्ठ ४६

एक फूल : शरीर—एक फूल भल फूलल बिरहुली ।
फलि बिंद के मध्य समाया ।।

—बीजक, पृष्ठ ८९

एक चाक : माया, प्रकृति—एक चाक सब चित्र बनाया ।
नाद बिंद के मध्य समाया ।।

—बीजक, पृष्ठ ७३

एक शब्द : ओंकार—एक शब्द ओंकार का ताका अनंत विचार ।

—बीजक, पृष्ठ १०३

एक चोर : मन—चोर एक मूसे संसारा, बिरला जन कोइ बूझ निहारा ।

—बीजक, पृष्ठ १९

---

१. गीता में भी भगवान कृष्ण ने अपने प्रिय भक्तों के गुणों का लक्षण बताते हुए दक्ष शब्द का प्रयोग किया है । यह दक्ष शब्द सयान का समानार्थी है—
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। १२वां अध्याय, पृष्ठ १६

एक गंग : इच्छा, माया—पाहन फोरि गंग एक निकसी,
चहुं दिशि पानी पानी ।।

—बीजक, पृष्ठ २८

"दो"

दूसर सयान : मायावादी—
दूसर सयान का मरम न जाना, उतपति परलै रैनि विहाना ।

—रमैनी ३६, पृष्ठ १

दुइ: शम, दम । विवेक, वैराग्य—
मिलहिं संत वचन दुइ कहियै, मिले असंत मौन होय रहियै ।

—रमैनी ७०, पृष्ठ २३

दुइ मिलि : मन, माया—
दुइ मिलि एकै होय रहा, मैं काहि लगावों हेत ।

—रमैनी ७१, पृष्ठ २३

दूनौ भूले : हिंदू, मुसलमान, वंचक, ज्ञानी, अज्ञानी—
कहहिं कबीर वै दूनौ भूले, रामहिं किनहुं न पाया ।

—शब्द ३०, पृ ४०

दुइ चकरी : लोक, परलोक । श्रेय, प्रेय, भोग, त्याग—
दुइ चकरी जेनिदरन पसारहु, तब पैहौ ठिक ठौरा हो ।

—कहरा २, पृष्ठ ७५

दुइ पट : जन्म-मरण, धरती आकाश—
दुइ पट भीतर आय के, साबुत गया न कोय ।

—साखी १२९, पृष्ठ १०१

दुइ टेंढ़ी : लोक, परलोक—
सेमर सुगना सेइया, दुइ टेंढ़ी की आस ।
टेंढ़ी फूटि चटाक पै, सुगना चला निरास ।।

—साखी १६५, पृ० १०७

दुइ थापे : पूजा, नमाज—
कहन सुनन को दुइ करि थापे, एक निमाज एक पूजा ।

—सब्द ३०, पृष्ठ ४०

दुई तुमरिया : माया, अविद्या—
सुरग पताल के बीच में, दुई तुमरिया बिद्ध ।

—साखी पृष्ठ २५४, ११५

दुइ दुख : जन्म-मरण–

तेहि साहब के लागहु साथा, दुइ दुख मेटि के रहहु सनाथा

–रमैनी ७५, पृष्ठ २४

फल दुइ : पाप, पुन्य । स्वर्ग, नरक । बन्धन, मोक्ष–

छव छत्री पात जुग चारी, फल दुइ पाप पुन्य अधिकारी ।

–रमैनी ८१, पृष्ठ २६

पुरुष दुइ : ईश्वर, जीव–

नारी एक पुरुष दुइ आया बूझहु पंडित ग्यानी ।

–सब्द १, पृष्ठ २८

दुइ जगदीस : अल्लह, राम–

भाई रे दुइ जगदीस कहाँ ते आया, कहु कवने भरमाया ।

–सब्द ३०, पृष्ठ ४०

दुइ गोड़ा : दोनों स्वांसा । इड़ा, पिंगला–

चांद सुरज दुइ गोड़ा कीन्हों, मांझ दीप कियो मांझा

–सब्द ६४, पृ० ५१

दुइ चांद सुरज : इड़ा, पिंगला–

चांद सुरज दुइ गोड़ा कीन्हों, मांझ दीप कियो मांझा ।

–सब्द ६४, पृष्ठ ५१

कुल दोई : लोक, परलोक–

झूठ, गर्भ भूले मति कोई, हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई

–रमैनी २६, पृष्ठ १०

"तीन"

पुत्र तीनि : ब्रह्मा, विष्णु, महेश–

तेहि नारी के पुत्र तीनि भैऊ । ब्रह्मा, विष्णु, महेसुर नाऊं ।

–रमैनी २, पृष्ठ १

तीनि लोक : स्वर्ग, मर्त्य, पाताल–

बूता पहिरि जप करैं समाना, तीनि लोक मंह करै पयाना ।

–रमैनी १०, पृष्ठ ४

त्रिकुटी : दोनों भौहों के ऊपर का स्थान–

वोछी मति चंदा गौ अथई, त्रिकुटी संगम सामी बसई ।

–रमैनी १३, पृष्ठ ५

त्रिविधि : तीन गुण, सत, रज, तम—
रज गति **त्रिविधि** कीन्ह प्रगासा, कर्म धर्म बुधि करे विनासा ।
—रमैनी २९, पृष्ठ ११

तीनि दंड : दैहिक, दैविक, भौतिक । वाक् दंड, मनो दंड, काय दंड—
जो तोहिं करता बरन बिचारा, जन्मत **तीनि दंड** अनुसारा ।
—रमैनी ६२, पृष्ठ २०

त्रिगुन : तीन गुण—रज, सत, तम—
पाखंड रूप रच्यो इन **त्रिगुन**, तेहि पाखंड भूला संसारा ।
—सब्द ३२, पृष्ठ ४१

तीनि डारा : तीन गुण—रज, तम, सत—
बिरवा एक सकल संसारा, पेड़ एक फूटत **तीनि डारा** ।
—सब्द ५६, पृष्ठ ४७

खूंटा तीन : तीन गुण—सत, रज, तम—
लम्बी पुरिया पाई छीन, सूत पुराना **खूंटा तीन** ।—बसंत ३ पृ० ८०

तीनि गाऊं : सत्यलोक, बैकुंठ, कैलास—दे० तीन लोक ।
हरिहर ब्रह्मा महतो नाऊं, तिन्ह पुनि **तीनि बसावत गाऊं** ।
—रमैनी १, पृ० १

तीसर सयान : जीव वादी—
तीसर सयान सयानहिं खाई, चौथ सयान तहां लै जाई ।
—रमैनी ३७, पृ० ११

त्रिभुवन : तीन भुवन—स्वर्ग, मर्त्य, पाताल—
वहि जोगिया की जुगति जो बूझै, राम रमै तेहि **त्रिभुवन** सूझै ।
—सब्द ६६, पृ० ५१

तीनि संझा : प्रातः, मध्यान्ह, सन्ध्या—
बैल बियाय गाय भै बंझा, बछवहि इहहिं **तीनि-तीनि संझा** ।

तिन पौवा : तीन गुण—सत, रज, तम—
कानि तराजू सेर **तिन पौवा**, डंहकै ढोल बजाई हो ।
—कहरा ४, पृ० ७६

"चार"

चारि चोर : (चारो) अंतःकरण चतुष्टय मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ।
चारि चोर चोरी चले, पगु पानही उतार ।
—साखी १०३, पृष्ठ १०३

चारि उदर : (चारि खानि) जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज ।
चारि उदर थूनी हनी, पंडित करहु विचार ।
—साखी १३०, पृष्ठ १०३

चारि मास : असाढ़, सावन, भादों, कुंवार—
चारि मास घन बरसिया, अति अपूर सर नीर ।
—साखी १५६, पृष्ठ १०६

चौथ सयान : तटस्थ ईश्वरवादी—
तीसर सयान सयानहिं खाई, **चौथ सयान** तहाँ लै जाई ।
—रमैनी ३७, पृष्ठ १३

चहुं दिसि : उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम—
रेंड रुख भये मलयागिरि, **चहुं दिसि** फूटी बासा ।
—सब्द २३, पृष्ठ ३७

चारि जना : अंत:करण चतुष्टय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—
जना चारि मिलि लगन सोधायो, जना पाँच मिलि माड़ो छायो ।
—सब्द ५४, पृष्ठ ४६

चारी : अंत:करण चतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—
जना पाँच मिलि कोखिया रखलौं, और दुई औ **चारी** ।

चारि वृक्ष : चारि वेद—ऋक्, यजु:, साम, अथर्व—
चारि वृक्ष छौ साख बखानै, विद्या अगनित गनै न जानै ।
—रमैनी २२, पृष्ठ ८

चारि अवस्था : बाल, कुमार, युवा, वृद्ध अथवा जाग्रत, स्वप्नन, सुषुप्ति, तुरीया—
चारि अवस्था सपने कहई, झूठो फूरो जानत रहई ।
—रमैनी २३, पृष्ठ ९

चारि वेद : ऋक्, यजु., साम, अथर्व—
चारि वेद ब्रह्मै निज ठाना, मुक्ति क मर्म उनहूं नहिं जाना ।
—रमैनी ३४, पृष्ठ १२

चारि युग : सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग—
गाइत्री जुग **चारि** पढ़ाई, पूछहु जाय मुक्ति किन पाई ।
—रमैनी ३५, पृष्ठ १२

चारि बरन : (वर्ण) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा श्वेत, लाल, पीला, काला-
नाना रूप बरन यक कीन्हा, **चारि बरन** उन काहु न चीन्हा ।
—रमैनी ६३ पृष्ठ २

चारि फल : अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, अथवा सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य–
निगम रिसाल **चारि फल** लागे, तिन मंह तीन समाई ।
–सब्द २०, पृष्ठ ३६

चारि दिग : नाभि, हृदय, कंठ, त्रिकुटी–
चारि दिग महि मंड रचो है, रूम साम बिच डीली ।
–सब्द ६, पृ० ५६

"पांच"

पाँच ढोटा : पंच विषय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध–
राति दिवस मिलि उठि उठि लागै, **पाँच ढोटा** एक नारी ।
–सब्द ३, पृ० २९

पाँच कुटुम : पंच ज्ञानेन्द्रियाँ–आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा–
पाँच कुटुम मिलि जूझन लागे, बजन बाजु घनेरे ।
–सब्द १९, पृ० ३६

जना पाँच : पाँच तत्व, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश–
पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ–आंख, नाक, कान, रसना, त्वचा ।
जना पाँच मिलि कोखिया रखलों, और दुई औ चारी ।
–सब्द ६२, पृष्ठ ५०

पाँच नारी : पंच प्राण–प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान अथवा पंच ज्ञानेन्द्रियां–
जोगिया फिरि गयो नगर मंझारी, जाय समान **पाँच जहाँ नारी** ।
–सब्द ६५, पृष्ठ ५१

पाँच सखी : पाँच ढोटा–
पाँच पचीसो दसहूं द्वार, **सखी पाँच** तंह, रची धमार ।
–बसंत ३, पृष्ठ ८०

पाँच हाथ : पांच तत्व–पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ।
एक बड़ी जाके **पाँच हाथ**, पांचहु के पचीस साथ ।
–बसंत ७, पृष्ठ ८१

पाँच लदनुवाँ : पांच तत्व–पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश–
पाँच लदनुवाँ लादि चले हो रमैया रमा ।
–बेलि १, पृष्ठ ८७

पंचये सयान : इन्द्रिय वादी–
पंचये सयान न जानै कोई, छठयें मा सम गैल बिगोई ।
–रमैनी ३७, पृष्ठ १३

पाँचहू भुवंगा : काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद—
एकहि दादुल खायो, **पाँचहू भुवंगा** । —सब्द १११, पृष्ठ ६७

पाँच तरुनि : पंच ज्ञानेन्द्रियां, दे० पांच, कुटुम—
एक गांव में **पाँच तरुनि** बसैं, तामह जेठ जेठानी हो ।
—कहरा २, पृष्ठ ७५

पाँचहु : पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—
एक बड़ी जाके पांच हाथ, **पाँचहु** के पचीस साथ ।
—बसंत ७, पृष्ठ ८१

पाँच तत्त : पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ।
पाँच तत्त का पूतरा, जुगुति रची मैं कवि । —साखी २२ पृ० ९४

"छ"

छव दरसन : सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदांत—
तिन्ह पुनि रचल खंड ब्रह्मण्डा, **छव दरसन** छानबे पाखंडा ।
—रमैनी १, पृष्ठ १

षट आश्रम : ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, हंस, परमहंस—
षट आश्रम दरसन कीन्हा, षटरस वस्तु खोट सब चीन्हा ।
—रमैनी २२, पृष्ठ ८

षट रस : मधुर, लवण, तिक्त, अम्ल. कटु, कषाय—
षट आश्रम षट दरसन कीन्हा, **षटरस** वस्तु खोट सब चीन्हा ।
—रमैनी २२, पृ० ८

छौ साख : सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदांत ।
चारि वृक्ष **छौ साख**, बखानै, विद्या अगनित गनै न जानै ।
—रमैनी २२, पृष्ठ ८

षट कर्मा : नित्य के षट कर्म—स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप, होम । योगियों के षट कर्म—धोती, नेती, वस्ती, न्योली, त्राटक, कपाल, भाति । ब्राह्मणों के षट कर्म—यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह । स्मृति के अनुसार छः काम जिनके द्वारा आपत्काल में ब्राह्मण अपनी जीविका प्राप्त कर सकता है । शिलोञ्छवृत्ति (कटे हुए खेत में बालें बीनना) दान लेना, याचना करना, कृषि, वाणिज्य—गोरक्षा ।
संझा तरपन और **षट कर्मा**, ई बहुरूप करहिं अस धर्मा ।
—रमैनी ३५, पृष्ठ १२

छव चकवे : छः चक्रवर्ती राजा—वेनु, बलि, कंस, दुर्योधन, पृथु, विक्रम ।
छव चकवे बित धरनि समाना, एकहु जीव परतीत न माना ।
—रमैनी ४७, पृष्ठ १६

षट चर्क्राहि : मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्र ।
एक सगुन **षट चर्क्राहि** बेधै, बिना ब्रिषभ कोल्हू मांचा ।
—सब्द ८२, पृ० ५७

षट दरसन : (दर्शन)—योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश ब्राह्मण ।
षट आस्रम **षट दरसन** कीन्हा, षटरस बस्तु खोट सब चीन्हा ।
—रमैनी २२, पृष्ठ ८

छव छत्री : छः चक्रवर्ती राजा—वेनु, बलि, कंस, दुर्योधन, पृथु, विक्रम ।
छव छत्री पात जुग चारी, फल दुइ पाप पुन्य अधिकारी ।
—रमैनी ८२, पृष्ठ २६

छौ : सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा वेदांत ।
छौ चारि चौदह सात इकइस तीनि लोक बनाय ।
—हिंडोला, पृष्ठ ९०

"सात"

सात सूत : (सप्त धातु) रस, रक्त, माँस, वसा, मज्जा, अस्थि, शुक्र ।
सात सूत नौ गंड बहत्तर, पाट लागु अधिकाई ।
—सब्द १५, पृष्ठ ३४

सात द्वीप : (द्वीप)—जम्बू, कुश, प्लक्ष, क्रौञ्च, शाक, पुष्कर, शालमल्य ।
ब्रह्मा को दीन्हों ब्रह्मंडा, **सात द्वीप** पुहुमी नव खंडा ।
—रमैनी २७, पृष्ठ १०

सतयें सयान : देहात्मवादी—
सतयें सयान जो जानै भाई, लोक वेद में देहु देखाई ।
—रमैनी ३७, पृष्ठ ३९

सात : सात स्वर्ग—भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक, जनलोक, तपलोक, महर्लोक, सत्यलोक ।
ईसात औरो हैं **सातो**, नौ औ चौदह भाई ।
—रमैनी २८, पृष्ठ ३९

सातो बीज : पञ्च तन्मात्रा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध । बुद्धि और अहंकार
मास असाढ़े सीतल बिरहुली, बोइनि **सातो बीज** बिरहुली ।
—बिरहुली १, पृष्ठ ८९

"आठ"

मिथुन आठ : श्रवण, सुमिरन, कीर्तन, चितवन, एकांत, वार्तालाप, दृढ़ संकल्प, प्राप्ति ।

तबही बिस्नु कहा समझाई, मिथुन आठ तु जीतहु जाई ।

—रमैनी १३, पृष्ठ ५

अष्ट कमल (आठ कमल) द्विदल (आज्ञाचक्र) चार दल (मूलाधार चक्र) षट दल (स्वाधिष्ठान चक्र) दस दल (मणि पूरक-चक्र) द्वादश दल (अनाहत चक्र) षोडस दल (विशुद्ध चक्र) सहस्रदल (सहस्रार चक्र) सुरति कमल अथवा अग्नि, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणि पूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रार ।

मेरु दंड पर डंक दीन्ह, अष्ट कवल परजारि दीन्ह ।

—बसंत २, पृष्ठ ८०

अष्टांग योग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये सब आठो कष्ट प्रद हैं ।

अष्ट कष्ठ : आठ कष्ट—पंच क्लेश- अविद्या, अस्मिता, अभिनिवेश, राग, द्वेष, त्रयताप—दैहिक, दैविक, भौतिक ।

बांधे अष्ट कष्ट नव सूता, जम बांधे अंजनी के पूता ।

—रमैनी ९, पृष्ठ ४

सिद्धि अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व । पुराणों की आठ सिद्धियाँ—अंजन, गुटका, पादुका, धातु-भेद, बेताल, बज्र, रसायन, योगिनी । सांख्य में आठ सिद्धियाँ-तार, सुतार, तारतार, रम्यक, आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक ।

जन के कहे जनै रहि जाई, नवौ निद्धि सिद्धि तिन पाई ।

—रमैनी १४ पृष्ठ २०

"नौ"

नवौ सिद्धि : पद्म—महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील, वर्च ।

जन के कहे जनै रहि जाई, नवौ निद्धि सिद्धि तिन पाई ।

—रमैनी १४, पृष्ठ २०

सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु ।

चौदह मार रोपिया बैठे, जल मंह बिंब प्रगासे ।

—सब्द १, पृष्ठ २८

गज नव : नव द्वार—दो नेत्र, दो कान, दो नासा छिद्र, मुख, गुदा, लिंग।
गज नव गज दस उनइस की, पुरिया एक बनाई।

—सब्द १५, पृष्ठ ३४

नौ गंड : इड़ा (चन्द्र नाड़ी) पिंगला (सूर्य नाड़ी, सुषुम्णा) मध्य नाड़ी गन्धारी (दाहिने नेत्र की नाड़ी) हस्ति जिह्वा (बायें नेत्र की नाड़ी) पूषा (दाहिने कान की नाड़ी) पश्यन्ती (बायें कान की नाड़ी) लकुहा (गुदा नाड़ी) अलम्बुषा (लिंग नाड़ी)।
सात सूत **नौ गंड** बहत्तर, पाट लागु अधिकाई।

—सब्द १५, पृष्ठ ३४

नौ नारी : (नाड़ी) नौ गंड,
नौ नारी को पानी पियतु है, त्रिषा न तैयो बुझाई।

—सब्द २८, पृष्ठ ३९

नौ गुन : शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य।
करि असनान देवन की पूजा, **नौ गुन** कांध बनेऊ।

—सब्द ४६, पृष्ठ ४५

नौधा : नव प्रकार की भक्ति—श्रवण, स्मरण, कीर्तन, पाद-सेवन, अर्चन, बन्दन, सख्य, दास्य, आत्मनिवेदन,
नौधा वेद कितेब है, झूठे का बाना।

—सब्द ११३, पृ० ६७

नौ बहिया : चार अन्तःकरण—(मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार), पंच प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान
नौ बहिया दस गोनि हो रमैया राम।

—बेलि १, पृ० ८७

नौ कोस : (कोश)
अन्नमय, शब्दमय, प्राणमय, आनंदमय, मनोमय, प्रकाशमय, ज्ञान-मय, आकाशमय, विज्ञानमय।
चलते-चलते पगु थका, नगर रहा **नौ कोस**।

—साखी ५०, पृ० ९६

नौ सूता : पंच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) तीन गुण (रज, सत, तम) मन। (दे० नौ निधि)
बांधे अष्ट कष्ट **नौ सूता**, जम बांधे अंजनी के पूता।

—रमैनी ९, पृ० ४

नौ : नौ व्याकरण—इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, शकटायन, पिशालि, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र, सरस्वती ।
ई सात औरो हैं, सातो, नौ औ चौदह भाई ।
—रमैनी २८, पृ० ३९

नौ मन : दे० नौघा—
नौ मन सूत अरुझि नहि सुरझै, जनम-जनम अरु झेरा ।
—सब्द ८५, पृष्ठ ५९

नौ मन दूध : क्षमा, दया, सत्य, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्य, गुरु, भक्ति, सद्-उपदेश ।
नौ मन दूध अटोरि कै, रिपके किया विनास ।
—साखी १९७, पृ० ११०

"दश"

दस औतार : मच्छ, कच्छ, वराह, नृसिंह, बामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कलंकी—
दस औतार ईसरी माया, करता कै जिन पूजा ।
—सब्द ८, पृ० ३१

दस गज : दस इन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा, हाथ, पांव, गुदा, लिंग, मुख, अथवा दश वायु-प्राण, अपान, प्रमान, व्यान, उदान, नाग, कर्म, कृकर, देवदत्त, धनंजय ।
गज नव गज दस गज उनइस को, पुरिया एक तनाई ।
—सब्द १५, पृ० ३४

दसहूं द्वार : दो नेत्र, दो श्रवण (कान) दो नासा छिद्र, मुख, गुदा लिंग, ब्रह्मरंध्र ।
दसहूं द्वार नरक भरि बूड़े, तू गंधी को बेढ़ो ।
—सब्द ७२, पृ० ५३

दसम द्वार : ब्रह्मरंध्र—तनु घर देखि जु कामिनि भूली वसतु अनूप न पाई ।
कहत कबीर नवै घर मूसै दसवें ततु समाई ।
—रा० कु०-संत कबीर, ७६

दस गोनि : (दस गज)—दस इन्द्रियाँ—
नौ बहिया दस गोनि हो रमैया राम ।
—बेलि १, बसंत ८७

दसौं दिसा : पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, वायव्य, ईशान, नैऋत्य, आग्नेय, आकाश, पाताल—
दसौं दिसा वाके फंद है, जीव घेरै आना ।
—सब्द ११३, पृ० ६७

"एकादश"

एकादसी : (एकादश)—दस इंद्रियाँ—आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा, हाथ, पाव, गुदा, लिंग मुख और एक मन ।

हिंदू बरत एकादसी साधैं, दूध सिंघारा सेती ।

—सब्द १०, पृ० ३१

"बारह"

बारह पँखुरी : (१) वर्ष के बारह मास—चैत, वैशाख, ज्येष्ठ आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद (भादों) आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष (अगहन), पौष (पूस), माघ, फाल्गुण (फागुन) ।

(२) अनाहत चक्र के द्वादश दल—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ ।

(३) शरीर के १२ प्रमुख अंग (शिर, नेत्र, कर्ण, प्राण, मुख, हाथ, पैर, नाक, कंठ, त्वचा, गुदा, शिश्न) ।

बारह पँखुरी चौबीस पात, घन अरोह लागे चहुँ पास ।

—बीजक, पृ० ४६

"चौदह"

चौदह भुवन : सात स्वर्ग—(१) भू लोक, (२) भुव: लोक, (३) स्व: लोक, (४) मह: लोक, (५) जन: लोक, (६) तप: लोक, (७) सत्य लोक ।

सात पाताल : अतल, वितल, तल, सुतल, महातल, रसातल, पाताल । (ये सात स्वर्ग और सात पाताल मिलकर चौदह भुवन बनते हैं) ।

राज ठगौरी बिस्नु परी, चौदह भुवन केर चौधरी ।

—रमैनी, ११ पृ० ४

चौदह विद्या : (१) ब्रह्मज्ञान, रसज्ञान, कर्मकाण्ड, संगीत, व्याकरण, ज्योतिष, धनुर्विद्या, जलसंतरण, न्याय, कोक, अश्वारोहण नाट्य, कृषि, वैद्यक ।

(२) षडङ्ग मिश्रता वेदा धर्मशास्त्रं पुराणकम् ।
मीमांसा तर्कमपि च एता विद्या चतुर्दशा ॥

(।) चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद) तथा मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र एवं पुराण ।

(।।) छ: वेदांग शिक्षा, कला, व्याकरण, निरुक्ति, छंद, ज्योतिष ।

चौदह विद्या पढ़ि समुझावै, अपने मरन की खबरि न पावै ।

—बीजक (रमैनी ४३), पृष्ठ १३

चौदह लोक : सप्तलोक—भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, जनलोक, तपलोक, (भूः भुवः, स्वः महः जनः तपः सत्य) ।
सप्तद्वीप—जंबू, शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मल, मेद, पुष्कर ।

"अठारह"

(१) **अठारह पुराण :** विष्णु, वाराह, वामन, पद्म, शिव, अग्नि, ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्मांड, भविष्य, भागवत, मार्कंडेय, मत्स्य, नारद, लिंग, स्कंद, कूर्म तथा गरुण पुराण ।

(२) **अठारह स्मृतियाँ :** मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, वशिष्ठ, हारीत, नारद, अत्रि, आपस्तम्ब, शतातप, शंख, लिखित, व्यास, भारद्वाज, काश्यप, दक्ष, विष्णु, यम, वृहस्पति ।
चार वृक्ष छौ साखा वाके, पत्र अठारह भाई ।

—बीजक (रमैनी २८), पृ० २९

"उन्नीस"

उनइस गज : **दस इन्द्रियाँ**—आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा, हाथ, पांव, गुदा, लिंग मुख ।
पंच प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान ।
चार अन्तःकरण—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ।
गज नव गज दस गज उनइस की, पुरिया एक तनाई ।

—सब्द १५, पृ० ३४

"इक्कीस"

इकइस[1] **:** **चौंदह भुवन**—सात स्वर्ग (भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य)
सात पाताल—(अतल, वितल, तल, सुतल, महातल, रसातल, पाताल) अथवा
सात द्वीप—(जम्बू, कुश, मेद, क्रौञ्च, शाक, पुष्कर, शाल्मल) ।
छौ चारि चौदह सात इकइस, तीनिलोक बनाय ।

—हिंडोला १, पृ० ९०

१. मानव संगठन के निर्माण में शरीर के भीतर की सात धातुयें—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि मज्जा और शुक्र कारण-कार्य-पूर्वक परस्पर सम्बद्ध हैं । सत, रज, तम के भेद से सातों के इक्कीस भेद हो जाते हैं । यही भेद इस ब्रह्मांड रूपी संगठन में है । वैदिक पुरुषसूक्त में इन्हें इक्कीस समिधाएँ कहा गया है ।
—डा० मुंशीराम, भक्ति का विकास, पृ० १

इक्कीस नाड़ियाँ—शरीर की इक्कीस नाड़ियाँ जिनमें दस नाड़ियाँ प्रमुख हैं—इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा, गंधारी, हस्त-जिह्वा, पुष्प, यशोचनी, अलमवुश, कूहू, शंखिनी।
गज नव गज दस, गज इकीस पुरी आ एक तनाई।

"चौबीस"

चौबीस पात : वर्ष के २४ पक्ष।

चौबीस तत्व : **चार प्रकृतियाँ**—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार
पंच विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध।
पंच ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा।
पंच कर्मेन्द्रियाँ—हाथ, पाँव, गुदा, लिंग, मुख।
पंच महाभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और मन।
शरीर के २४ अंग—मेरुदंड की २४ केसरुकायें।
बारह पंखुरी चौबीस पात, धन बरोह लागे चहुं पास।
—बीजक (सब्द ५०), पृष्ठ ४६

एकादसी चौबीसो : वर्ष की चौबीस एकादशी तिथियाँ। प्रत्येक मास में दो एकादशी की तिथियाँ होती हैं। —सब्द ९७, पृष्ठ ६२
हिन्दू एकादसी चौबीसो, रोजा मुसलिम तीस बनाये।

"पच्चीस"

पचीस : (पच्चीस) पच्चीस प्रकृतियाँ
आकाश की पांच प्रकृतियाँ—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय।
वायु की पाँच प्रकृतियाँ—चलन, बलन, धावन, पसारन, संकोचन।
अग्नि की पाँच प्रकृतियाँ—क्षुधा, तृषा, आलस, निद्रा, मैथुन।
जल की पाँच प्रकृतियाँ—लार, रक्त, पसीना, मूत्र, वीर्य।
पृथ्वी की पाँच प्रकृतियाँ—हाड़, मांस, त्वचा, नाड़ी रोम।
पांच पचीसो दसहूं द्वार, सखी पांच तंह रची धमार।
—बीजक (बसंत ३), पृ० ८०

"तैंतीस"

तैंतीसो कोटीदेव : पुराणानुसार तैंतीस कोटि देवता। विशेष—वैदिक काल में ऋग्वेद में मुख्य देवता तैंतीस माने गये हैं जो शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार गिनाए गए हैं—८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति। ऋग्वेद में ही एक स्थान पर देवताओं की संख्या ३,३३९ वर्णन की गई है।
बांधे देव तैंतीसो कोटी, —बीजक (रमैनी ९), पृष्ठ ४

"चौंतीस"

चौंतिस अच्छर : हिन्दी वर्णमाला के सम्पूर्ण अच्छर–(कवर्ग, चवर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग पांचों वर्गों के २५ अक्षर और य से ह् तक के ८ अक्षर तथा ॐ।

चौंतीस अक्षर से निकलै जोई, पाप पुण्य जानैगा सोई।

–बीजक (रमैनी २३) पृ० ९

"छत्तीस"

राग छत्तीसौ : संगीत में छः रागों की छत्तीस रागिनियाँ इस प्रकार हैं।

श्री राग : माल श्री, त्रिवेणी, गौरी, केदारी, मधुमाधवी, पहाड़ी।

बसंत राग : देशी, देवगिरि, वैराटी, टोरिका, ललित, हिंडोल।

पंचम राग : विभास, भूपाली, कर्णाटी, पट हंसिका, मालवी, पट मंजरी।

भैरव राग : भैरवी, बंगाली, सेंधवी, रामकेली, गुर्ज्जरी, गुणकरी।

मेघ राग : मल्लारी, सैरिटी सावेरी, कैशिकी, गान्धारी, हर श्रृंगार।

नट नारायण : कामोदी, कल्याणी, आभीरी, नाटिका, सारंगी, हम्मीरी।

एक सब्द मेंह राग छत्तीसौ, अनहद बानी बोलै।

–बीजक (सब्द ६९), पृ० ५२

"साठ"

साठ : शरीर के भीतर साठ नस जाल।

साठ सूत नव खंड बहु तरि पाटु लगी अधिकाई।

–सब्द १५, पृ० ३४

"बहत्तर"

कोठा बहत्तरि : शरीर के बहत्तर कोठा–

कोठा बहत्तरि औ लौ लाए, बजर केंवार लगाई।

–बीजक (सब्द २८) पृ० ३९

पुरुष बहत्तरि : पुरुष को बहत्तर कलाएं। या बहत्तर कोठा।

अनहद बाजा रहल पूरि, पुरुष बहत्तरि खेलै धूरि।

–बीजक (बसंत २) पृ० ८०

कसनि बहत्तरि : (बंधन) शरीर की बहत्तर ग्रन्थियां, जो इस प्रकार हैं–

१६ कराडरायें, १६ जाल, ४ रज्जु, ७ सेवनी, १४ अस्थि संघात, १४ सीमन्त, १ त्वचा, जिससे सम्पूर्ण शरीर बंधा रहता है।

सर लागे तेहि तीन सै साठि, कसनि बहत्तरि लागु गांठि।

–बीजक (बसंत ३) पृ० ८०

गंड बहत्तर : (दे० कसनि बहत्तरि) ।
सात सूत नौ **गंड बहत्तर**, पाट लागु अधिकाई ।
—बीजक (सब्द १५) पृष्ठ ३४

"चौरासी"

लख चौरासी पुराणों के अनुसार जीव चौरासी लाख प्रकार के माने गये हैं ।
लख चौरासी जिया जंतु महँ, भटकि-भटकि दुख पाव ।
—रमैनी १७, पृ० २१

चौरासी सिद्ध नाथ सम्प्रदाय के सिद्ध जिनके नाम इस प्रकार हैं—
लहिया, लीलापा, विरूपा, डोम्भिपा, शबरीपा, सरहपा, कंका-लीपा, मनिपा, गोरक्षपा, चोरंगिपा, वीणापा, शान्तिपा, तन्तिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कण्हपा, कर्णरिपा, थगनपा, तारोपा, शालिपा, तिलोपा, छत्रपा, भद्रपा, दोखन्धिया, अजोगिपा, कालपा, घोम्भिपा, कङ्कणपा, कमरिपा, डोंगिपा, भदेपा, तन्धेपा, कुकुरिपा, कुसूलिपा, धर्मपा, महीपा, अचिन्तिपा, भलहपा, नलिनपा, भुसु-कुपा, इन्द्रभूति, मेकोपा, कुठालिया, कमरिपा, जालन्धरपा, राहु-लपा, धर्वरिपा, धोकरिपा, मेदनीपा, पंकजपा, घन्टापा, जोगीपा, चेलुकपा, गुण्डरिपा, लुचिकपा, निर्गुणपा, जयानन्तपा, चर्पटिपा, चम्पकपा, भिखनपा, भलिपा, कुमरिपा, जवरिपा, मणिभद्रा, मेखला, कनखला, कलकलपा, कन्तलिपा, धहुलिपा, उधलिपा, कपालपा, किलपा, सागरपा, सर्वभक्षपा, नागबोधिपा, दारिकपा, पुतुलिका, पनहपा, कोकलिपा, अनङ्गपा, लक्ष्मीकरा, समुदपा, भलिपा ।
षट दरसन संसै परी, लख चौरासी सिद्ध ।
—बीजक (साखी २२५), पृ०१५५

"छानबे"

छानबे पाखंडा : **संन्यासी दस**—आश्रम, तीर्थ, अरण्य, वन, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती, पुरी ।
योगी दो—हठयोगी, राजयोगी ।
पैगम्बर चौबीस—आदम, शीश, नह, इब्राहीम, याकूब, इसहाक, यूसुफ, इस्माईल, जकरिया, यहया, यनुस, दाऊद, अयूब, लूत, सुलेमान, स्वालह, शुएब, ईसा, मूसा, इलयास, हार यूसआ, जिल-किफ्त, मुहम्मद ।

जंगम (शैव) अठारह–(शिव जी के नाम) शिव, पशुपति, मृत्युञ्जय, त्रिनेत्र, कृतिवास, पञ्चवदन, सितिकंठ, खण्डपरशु, प्रथमाधिप, गंगाधर, महेश्वर, रुद्र, विष्णु, पितामह, संसार वैद्य, सर्वज्ञ, परमात्मा, कपाली।

ब्राह्मण अठारह : पूज्य, द्विज, श्रोत्रिय, पंक्ति पावन, गुरू, आचार्य, उपाध्याय, ऋत्विक, पंडित, ऋषि, क्षात्र, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण, विड़ाल, या वक विप्र, म्लेक्ष, ब्राह्मण, चंडाल, विप्र, राक्षस विप्र, अधमाधम।

सेवड़ा जैन चौबीस तीर्थंकर : ऋषभदेव, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनंदन, सुमतिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासु-पूज्य, स्वामी, विमलनाथ, अनन्तनाथ, कर्मनाथ, शांतिनाथ, कुंतुनाथ, अमरनाथ, मल्लिनाथ, पद्मनाथ, सुपार्श्वनाथ, चंद्रप्रभ, सुबुधिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नैमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी।

छानबे पाखंड के लिए अन्यत्र बीजक के टीकाकारों ने निम्नांकित इस साखी का उल्लेख किया है–

दस संन्यासी बारह योगी, चौदह शेष बखान।
ब्राह्मण अठारह, अठारह जंगम चौबिस सेवड़ा प्रमाण ।।

महाराज दास जी ने पञ्चग्रन्थी टीका में इसकी संख्या इस प्रकार दी है–

गिरी, पुरी, भारती, बन, पर्वत, आरण्य, सागरादि मिल के दस संन्यासी हैं। नाथ, अवघड़, गोसाई, नागे आदि मिल के बारह योगी हैं। जलाली, मलाली, बानवा, जिन्दाशाह आदि चौदह प्रकार के फकीर हैं। पंचगौड़ादि मिल के अठारह प्रकार के ब्राह्मण हैं। अठारह प्रकार के गले में लिंग धारण करने वाले जंगम हैं और ऋषभदेवादि चौबीस तीर्थंकर जैनियों में हैं। छः दर्शनों में छयानवे पाखंड माने गए।

पं०, प्र० ३५४

तिन्ह पुनि रचल खड ब्रह्मंडा। छव दरसन छानवे पाखडा।

–बीजक (रमैनी १), पृ० १

"तीन सौ साठ

तीन सै साठि : शरीर की ३६० अस्थियाँ। वैदिक मत से शरीर में ३६० अस्थियाँ मानी गई हैं–

सर लागे तेहि तीन सै साठि, कसनि बहत्तरि लागु गांठि ।।

–बसंत ३, पृ० ८०

"सहस्र"

सहसौ नाम : अनेक नाम अथवा विष्णु के सहस्र नाम ।
चौंतिस अच्छर का इहै बिसेखा, **सहसौ नाम** याहि में देखा ।
—बीजक (रमैनी, ७५), पृ० ९

सहस अरजुन : पुराणानुसार सहस्र भुजाओं वाला एक राजा, सहस्र बाहु ।
जरासिंध सिसुपाल संघारा, **सहस अरजुन** छल ते मारा ।
—बीजक (रमैनी ४७), पृ० १६

सहस घड़ा : सहस्र कुम्भक अथवा अनेक उपदेश ।
सहस घड़ा नित उठि जल ढारैं, फिर सूखे का सूखा ।
—बीजक (सब्द ५७), पृ० ४९

सूत हजार : अनेकों प्रकार के कर्म या सहस्र कुम्भक अथवा सहस्र दल कमल ।
कालौं **सूत हजार** चर खुला जनि जरैं ।
—बी० (सब्द ६८), पृ० ५२

"अस्सी हजार"

असी सहस पैंगंबर : मुसलमानी मत में पैगम्बर ८०,००० माने गए हैं—
असी सहस पैंगंबर नाही, सहस अठासी मूनी ।
—बीजक (शब्द २२), पृ० ३७

"अट्ठासी हजार"

सहस अठासी मूनी : हिन्दू धर्मानुसार ऋषियों की संख्या ।
असी सहस पैंगंबर नाही, **सहस अठासी मूनी** ।
—सब्द २२, पृष्ठ ३७

'छप्पन कोटि'

छपन कोटि : यादवों की संख्या । भागवत में यादवों (यदुवंशियों) की संख्या छप्पन कोटि कही गई है—
छपन कोटि जादो जहँ भीजे, मुनि जन सहस अठासी ।
—बीजक (सब्द ४७), पृष्ठ ४५

"छः लाख छानबे"

छः लाख छानबे : छः लाख छानबे रमैनी महात्माओं के अनेक उपदेशप्रद वाक्य ।
छः लाख छानबे रमैनी, एक जीव पर होय ।
—बीजक (साखी २८८), पृ० ११८

५. भाषा वैज्ञानिक विवेचन

विपर्यय

इस अध्याय में संतों द्वारा प्रयुक्त शब्दों का ध्वनि विज्ञान की दृष्टि से विवेचन करेंगे। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि विभिन्न परिवारों की भाषाओं में जो मूल ध्वनियाँ थीं, वे कालान्तर में परिवर्तित होती गईं। इस परिवर्तन का एक प्रमुख रूप विपर्यय है।

कभी-कभी शब्दों में प्रयुक्त होने वाले स्वर, व्यंजन अथवा अक्षर वक्ता अथवा लेखक की असावधानी के कारण एक स्थान से हटकर उसी शब्द में दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। परिवर्तन की इस क्रिया को भाषा-वैज्ञानिकों ने विपर्यय की संज्ञा प्रदान की है। संत-साहित्य में विपर्यय के कतिपय रूप इस प्रकार हैं।

स्वर—विपर्यय

आनन्द—अनन्दा : जहं उड़ै सूर न चन्दा, तहाँ देख्या एक अनन्दा।

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १८

अनुहार—उनहार : त्रैगुन रहित सदा ही चेतन ना काहू उनहारा

—चरनदास २, पृष्ठ १६

टाँटवरी—टंटावरी: सुन्दर गये टंटाबरी बहुरि दिगंबर होइ।

—सुन्दर ग्रं० पृ० ७३५

कुम्हार कुम्हरा : जस कुम्हरा को चाक घुमै वैसे नर घूमैं।

—धर्मदास श०, पृष्ठ ३६

सुहागिन—सोहगणि: नानक राम नाम जपि गुरमुखि धन सोहागणि साचु सही।

—नानक सं० सु०, पृ० ११५

कुछ—कछू : कहै कबीर कछू समझि न परई या कछू बात अलेखैं।

—क० ग्रं०, पृ० १४९

बिन्दु—बूंद : ज्यूं जल बूंद तैस संसारा, उपजत बिनसत लगै न बारा।

—क० ग्रं०, पृ० १२१

व्यञ्जन विपर्यय

हमारा–म्हारो : म्हारो मंदिर सूनो राम बिनु विरहण नींद न आवै रे ।

–रज्जब सं० सु० पृ० ३०१

अहमक–अमहक : सुनि लीजै अमहक पाजी । –दरिया (बिहार वाले), पृ० १

डूबत–बूड़त : भव सागर नवका बिना बूड़त है संसार ।

–सुन्दर ग्रं० पृष्ठ ६७१

डूबा–बूड़ा : बूड़ा बंस बड़ाइ तांयों जिन बूड़े कोय ।

–कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४१

ब्राह्मण–बाह्मन : बाह्मन गुरू है जगत का, भगवन का गुरू नाहिं ।

–क० ग्रं०, पृ० २५६

लपेटी–पलेटी : कहुं धौं किहि विधि रखिय, दई पलेटी अग्नि ।

–कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३५

विकल–बिलक : सुन्दर तलफे बिरहनी, बिलक तुम्हारे नेह ।

–सुन्दर ग्रंथावली, पृष्ठ ६८४

मात्रा भेद

शब्दों में मात्रा भेद के कारण कभी ह्रस्व स्वर दीर्घ बन जाते हैं और दीर्घ स्वर ह्रस्व स्वर का रूप ग्रहण कर लेते हैं । इस प्रकार की प्रक्रिया में स्वराघात का भी प्रभाव पड़ता हुआ पाया जाना है । संत-साहित्य की भाषा में ह्रस्व स्वर से दीर्घ स्वर और दीर्घ स्वर से ह्रस्व स्वर बनने वाले रूपों का अभाव नहीं है । भाषा-रूपों की, यह स्वाभाविक प्रक्रिया यहाँ भी पाई जाती है ।

ह्रस्व से दीर्घ होना

अ–आ

नारद–नारदा : सिव सनकादिक नारदा, ब्रह्म लिया निज वास जी ।

–कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ९८

कंत–कंता, पंथ–पंथा : बस कियो कंता चलै न पंथा ।

–चरनदास की बानी पृष्ठ ३४

चोर–चोरा : राज न हरै जरै न अगिनते कैसेहु पाय न चोरा हो ।

–धरनीदास की [illegible]

अपना–आपना : तन मन धन नहिं आपना नहिं सुत औ नारी ।

–मलूकदास

दया–दाया : धरमदास पर दाया कीन्हा आया सरन तुम्हारे ।

–धरमदास की बानी, पृष्ठ २५

जपै–जापै : बरन सहित जो जापै नामु सो जोगी केवल निहकामु ।

–रैदास संतसुधासार पृष्ठ ८९

इ–ई

बिजली–बीजली : कांसा पर्‍यो बीजली ऊपर कीयो सब कुटुंबु संहार ।

–सुन्दर ग्रंथावली, पृष्ठ ३५१

निवास–नीवास : परम तेज प्रकाश है परम नीर नीवास ।

–दादू बानी पृष्ठ १९३

निकली–नीकली : सती जलन को नीकली, पीव का सुमिरि सनेह ।

–कबीर ग्रंथावली, पृ० ७१

चित्त–चीतु : चंचल चीतु न पावै पारा । आवत, जात न लागै बारा ।

–(क० ग्रं०) नानक सं० १५५

उ–ऊ

पहुंचा–पहूंचा : पखा पखी सं प्रीति करि कौन पहूंचा पार ।

–रज्जब संत सुधासार पृष्ठ ८९

अनुपम–अनूपम : आदि अंत आगे रहे एक अनूपम देव ।

–दादू बानी १, पृ० १९३

सिधु–सिधू : दया स्वरूप बसै सिधू में हीरालाल निकारै ।

–धरमदास की बानी, पृष्ठ २५

अरु–अरू : ए सकल ब्रह्मांड तै पूरिया अरू दूजा महि थान रे ।

–क० ग्रं०, पृष्ठ ८८

नाउं(नांव)नाऊं : हीरालाल पंछी है नाऊं । अस्ट सिला परबत के ठांऊं ।

–दरिया (बिहार वाले)

दीर्घ से ह्रस्व होना

आ–अ

नादान–नदान : कह रविदास नदान दिवाने चेतसि नाहीं दुनियां फन खाने ।

–रैदास सं० सु० ९१

पाटांबर–पटंबर : जो सुख सेज पटंबर अंबर लावत चन्दन तौ अति राजै ।

–सुन्दर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४९२

आकाश–अकास : अरघ उरघ बिचि लाइ ले **अकास** हुवां जोति करै परकास ।

–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९९

ई–इ

पीतांबर–पितंबर :चोलिया पहिरि धनि चली है गवनवां । सेत **पितंबर** लागै हिंडाल ।

–धरमदास, पृष्ठ ७

धरती–धरति : पवणु गुरू पाणी पिता माता **धरति** महतु ।

–नानक संत सु०, पृष्ठ ९१

जीवन–जिवन : एक पलक का देखणा **जिवन** मरण का नाम ।

–दादू बानी १, पृष्ठ २०१

धरणी–धरनि : **धरनि** अकास अधर, जिनि राखी । ताकी मुगधा करै न साखी ।

–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०

ऊ–उ

सूक्ष्म–सुछम : चारिवेद तो पासै तावन लागे । **सुछम** वेद उपर आसन जाकी ।

–कबीर ज्ञा० रे०, पृष्ठ ५

हिंदू–हिंदु : **हिंदु** तुरक दून्यूं जल बूंदा । कांसूं कहू ये बांभप सूदा ।

–रज्जब सं० सु०, पृ० १ १२

शून्य–सुन्न : **सुन्न** मंडल में परघटा प्रेम कथा पर कास ।

–दरिया मारवाड़, पृष्ठ १९

बूंद–बुंद : मोती **बुंद** घट ही में उपजै सुकिरत भरत कोठारा ।

–धरमदास श०, पृ० ७

लोप

प्राय: यह देखा जाता है कि जब हम शीघ्रता से बोलते हैं तब कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है । यह लोप कभी-कभी स्वराघात के कारण भी हो जाता है । भाषा में लोप का कार्य दो रूपों में होता है–एक स्वर लोप तथा दूसरा व्यंजन लोप । प्रत्येक लोप के तीन रूप होते हैं–आदि लोप, मध्य लोप, और अन्त लोप । नीचे हम संत-साहित्य की भाषा में लोप द्वारा होने वाले शब्दों के परिवर्तित रूपों के देखने की चेष्टा करेंगे ।

(१) स्वरलोप

आदि-स्वरलोप

अहंकार–हंकार : मन बुध चित्त **हंकार** की है त्रिकुटी लग दोड़ ।

–दरिया (मारवाड़), पृष्ठ १६

अमावस–मावस : मावस को ससि रैन को सूरज ।

–चरनदास की बानी २, पृष्ठ १६

अभ्यंतर–भीतरि : माला पहरयां कुछ नहीं रुल्य मूवा इहि भारि ।
बाहरि ढोल्या हींगलू, भीतरि भरी भंगारि ।।

–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४५

अव–व : अंकुर बीज द्वै पाप पुन यहि विधि जोग रु भोग ।

–दादू बानी १, पृष्ठ १९९

इलायची-लायची : सखि आंगन बोओ लायची, मोटे फलसी नागर बेल ।

धरमदास की शब्दावली, पृष्ठ ५४

मध्यस्वरलोप

काया–कया : कया कमंडल भरि लिया उज्जल निर्मल नीर ।

कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७

दिशि–दिस : चाहैं पछिम जात पूरब दिस हिरदै नहीं विचार ।

–रज्जब संतसुधासार, पृष्ठ ३०६

निमिष–निमख : निमख-देखो ज्यों जग पर जलै निमख न न्याया होइ ।

–दादू० बानी १, पृष्ठ १२३

मंदिर–मंदर : ऊंचा मंदर धौलहर मांटी चित्री पौलि ।

–क० ग्रं०, पृष्ठ ७४

त्रिभुवननाथ–त्रिभवननाथ :
कहै कबीर संसा करि दूरी, त्रिभवननाथ रहिया भरपूर ।

–क० ग्रं०, पृष्ठ १०५

अंतस्वर लोप

जहां–जहं : वा देसवा को मरम न जानै जहं से चूनर आई ।

–क० श० २, पृष्ठ ५३

आत्मा–आतम : रज्जब रज उतरै इह रूप आतम अंबर होइ अनूप ।

–रज्जब संतसुधासार, पृष्ठ ३११

गुरु–गुर : दादू ऐसा गुर मिल्या सुख में रहे समाइ ।

दादू० बानी १, पृष्ठ २

रिपु–रिप : दादू रिप जीतै नहीं कहैं हम सूर सुजांण ।

–दादू बानी १, पृष्ठ २१३

(२) व्यंजनलोप

आदि व्यंजनलोप

स्कंध–कंधा : कर्म विकर्म करै तिनके हित, भार धरै नित आपुन **कंधा**।

—क० ग्रं०, पृष्ठ २७

स्थिर–थिर : करना कूच रहन **थिर** नाहीं।

—रैदास, संतसुधासार, पृष्ठ ९१

मन निर्मल **थिर** होत है, राम-नाम आनन्द।

—दादू० द० बा० १, पृष्ठ १०५

स्पर्श–परस : जेते **परसे** आइ। —दादू० द० बा० १, पृष्ठ १८

सत तन लोभ **परस** जीतै मन। —रैदास, पृष्ठ ६

मध्य व्यंजन लोप

उच्चार–उचार : मुख के झरोखे मांहि न बचन **उचार** होत।

—क० ग्रं०, पृष्ठ ३५

प्रियतम–प्रीतम : नानक गुरु मुखि छूटिए हरि **प्रीतम** सिउ संगु।

—नानक (संतसुधा), पृष्ठ १५९

अहर्निशि–अहनिसि : **अहनिसि** हरि जू सुमिरिए छांड़ि सकल प्रतिवाद।

—रैदास (संतसुधा), पृष्ठ ९९

अहर्निशि–अहरषि : मन रे **अहरषि** वाद न कीजै। —क० ग्रं०, पृष्ठ १२१

अंतव्यंजन लोप

अन्न–अन : ऊसर में बोये कहा निपजत **अन** है। —सुन्दर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२

असंख्य–असंख : **असंख** मलेछ मलु भरिव खाहिं। **असंख** निंदकु सिर करहि भारु।

—नानक (संतसुधा०), पृ० १३५

पुण्य–पुन्न : जन दरिया सतगुर मिल्या कोई पुरबला **पुन्न**। —दरिया पृ० २

पंच तत्त्व–पंचतत : नहिं ब्रह्माण्ड प्यंड पुनि नाहीं **पंचतत** भी नाहीं।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९८

और–औ : काया में जीव **औ** सीव संग सक्ति है काया में काम **औ** क्रोध धावै।

—दरिया (बिहार वाले), पृ० ७७

बादशाह बादसा : राजा रंक फकीर **बादसा** सब से कहौं पुकारा।

—कबीर सा० शब्दावली १, पृ० ६१

आगम

आगम की प्रक्रिया लोप का प्रतिकूल रूप है। इसमें शब्द के साथ नई ध्वनियों का आगमन होता है। यह आगम स्वर और व्यंजन दोनों ही के आदि मध्य और अंत के रूपों में देखा जाता है। संत-साहित्य की भाषा में इसके प्रचुर उदाहरण विद्यमान हैं।

(१) स्वरागम

आदि स्वरागम

स्थान–अस्थान : चारि जोजन पर सून्य अस्थान है। –चरनदास बानी २, पृ० ४

स्थूल–अस्थूल : ब्रह्मा विष्णु महेस निर्गुन अस्थूल हो। –धरमदास की श०, पृ० ९
ढाहै सब आकार कौं दादू यह अस्थूल। –दादू० बानी, पृ० १२२

स्थल–अस्थल : निर्भै अस्थल देह का तब लगि सब व्यापैं।
–दादू० बानी १, पृ० ६२

स्नान–अस्नान : करि अस्नान हंसा वरत अधर ध्यानी। –गुल्ला० बानी, पृ० २६

सवार–असवार : कबीर घोड़ा प्रेम का चेतनि चढ़ि असवार। –क० ग्रं०, पृ० ७०

स्थिर–इस्थिर : साखी दे इस्थिर करै सोई साधु जान।
–दादू० बानी १, पृष्ठ १०३

प्यारा–पियारा : नबी साथ सब पीर पसारा सेवक सबका सबहिं पियारा।
–रज्जब (संत सुधासार), पृष्ठ ३०८

स्मृति–सिमृति : सुणिए जोग जुगति तनि भेद। सुनिए सासत सिमृति वेद॥
–नानक (संत सुधासार), पृष्ठ १३१

मध्य स्वरागम

पकड़ा–पाकड़ा : पुरुष पुरंजन पाकड़ा गढ़ घेरा जाई।
–गरीबदास की बानी, पृ० ४४

अंतर्ध्यान–अंतरिध्यान : तन मन दुखित जु फेरि संवारे अंतरिध्यान भये गुरु प्यारे।
- रज्जब (सं० सु०), पृ० ३०८

गायत्री–गाइत्री : संध्या गाइत्री अरुखट करमा तिनथैं दूरिबतावा।
–कबीर ग्रंथावली, पृ० १७८

पढ़–पढ़ि : मोही भूले काम अगिनि में क्रोधी भूले पढ़ि हंकार।
–दा० बानी १, पृ० २५

प्रवीण–परबीन : पंडित ज्ञानी बहु मिले बेद ग्यान **परबीन** ।

–दरिया (मारवाड़ वाले), पृ० १०

प्रगट–परगट : ःमि करि पुर्खनाम ते भीन्हा, ज्यों प्रतिबिंबु घट **परगट** दीन्हा ।

–दरिया (बिहार वाले), पृ० परि० १७

पिंगला–प्यंगुला : इला **प्यंगुला** सुषमन नाहीं, ये गुन कहां समाहीं ॥

–कबीर ग्रंथावली, पृ० ९८

मृतक–मिरतक : दादू ऐसा गुर मिल्या **मिरतक** लिए जिलाइ ।

–दादू० बानी १, पृ० २

अंत स्वरागम

अंतर–अंतरा : दादू एता **अंतरा** तापै बिनती नाहिं ।–दादू० बानी १, पृ० १४८

संशय–संसा : माहें **संसा** सूल है दुर्लभ तजना एह ।

–गरीबदास की बानी, पृ० ५४

भ्रमर–भंवरा : तेहि फुल **भंवरा** जुभाइल रे की । –क० शब्दावली ४, पृ० १९

निस्तार–निस्तारा : मैं तैं तोहि मोरि असमझि सों कैसे करि **निस्तारा** ।

–रैदास (संत सुधासार), पृ० ९४

मल–मलु : असंख मलेच्छ **मलु** भखि खाहि । असंख निंदक सिरि करहिं भारु ।

–नानक (संत सुधासार), पृ० १३५

उठत–उठतु : काम क्रोध की लार **उठतु** है केहि बिधि होइ निवारण ।

कारण–कारणे : साहिब अपने **कारणे** भनो निबाह्यो पण ।–दादू० बानी १, पृ० २६२

(२) व्यंजनागम

आदि व्यंजनागम

इसके उदाहरण प्राय: नहीं ही मिलते हैं । भाषा वैज्ञानिक ग्रन्थों में एक ही उदाहरण सर्वत्र पाये जाते हैं ।

मध्य व्यंजनागम

उत्तम–उत्यम : **उत्यम** ते अलगे रहै निकटि रहैं ते नीच ।

–कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४०

सुख–दुख–सुक्ख–दुक्ख : **सुक्ख** करन और **दुक्ख** हरन तुम ऐसे मत के धीर ।

–धरमदास की शब्दावली, पृष्ठ २२

मुख–मुक्ख : पै पिंउ न बिसारी **मुक्ख** । –दादू० बानी १, पृ० १८९

सबन–सबहन : सोइ सबन महं हम **सबहन** महं, बूझत बिरला कोई ।

–गुलाल साहब की बानी, ३३

होनी–होवनी : कीड़ी तुलिन होवनी जे तिसु मनहु न वीसरहि ।
–नानक (संत सुधासार), पृ० १३९

और–अवरा : अवरा देखि न सुनै न माखै । –रैदास (संत सुधासार), पृ० ९०

अंधिरिया–अंधियरिया : खुली किवरिया मिटी अंधियरिया ।
धनसतगुरु जिन दिया है लखाय ।
–धनीधरमदास (संत सुधासार), पृ० १०७

अजब–अज्जब : रज्जब कूं अज्जब मिल्या गुर दादू दातार । –रज्जब बानी, पृ० २

विभ्रम–बिभ्रम्म : कारय देषि भयौ बिचि विभ्रम कारण देषि बिभ्रम्म बिलावै ।
–संत ग्रन्थावली, ६५

अमर–अम्मर : कह यारी सतगुरु मिलें (तो) अचल अरु अम्मर होय ।
–यारी० रत्ना०, पृष्ठ १७

प्रह्लाद–प्रह्ल्लाद : शिव सनकादिक पुनि ब्रह्मादिक प्रहल्लाद अरु ध्रू ही ।
–सुन्दर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४०

अंत व्यंजनागम

आज-कल–आजक काल्हिक : आजक काल्हिक निस हमैं मारगि भाल्हंता ।
–कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७२

सनकादि–सनकादिक : ब्रह्मा बिस्नु महेसर मरि गयो सनकादिक जेहि कहिए ।
–दरिया (बिहार वाले), पृष्ठ ११३

छूटा–छूटेव : थिर भयो मन छूटेव जंजाला ।
–धरनीदास की बानी, पृष्ठ ४२

हारा–हार्या : कहैं कबीर सुनहु रे संतो थकित भया मैं हार्या ।
–क० ग्रं०, पृष्ठ १६१

सुवा–सुवटा : पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भइ बनराइ ।
–क० ग्रं०, पृष्ठ १८३

ठाना–ठान्या : जन रज्जब दुख देहि दृष्टि बिन, बाहरि पाखंड ठान्या ।
–रज्जब (संत सुधासार), पृष्ठ ३०३

खाइ–खाइकु : जे का खाइकु आरबणि पाइ । ओहु जाणै लेती आ मुहि खाइ ।
–नानक (संत सुधासार), पृष्ठ १४१

बेला–बेरिया : जौन कहौं असुरन की बेरिया, मूढ़ दई के मारे ।
–मलूकदास की बानी, २०

मिथ्या–मिथ्यात : दृष्टिगोचर श्रुति पदारथ सकल है मिथ्यात । –सु० ग्रं०, पृष्ठ ८४१

हिंडोला-हिंडोलवा : जो यहि झुलहिं हिंडोलवा हो चरनन चित लाय ।

—गुलाल सा० की बानी, पृष्ठ ७७

क्षुधा-क्षुध्या : क्षुध्या त्रिषा लागै नहीं घटि-घटि आतम राम ।

—दादू० बानी २, पृष्ठ १३५

मनोभावों के आधार से विकृत होने वाले शब्दों के रूप

भाषान्तर्गत शब्द-विकार कभी-कभी भावुकतावश भी हो जाया करते हैं। प्रियत्व की भावना से राम का रमुआ हो जाना स्वाभाविक है। क्रोध अथवा घृणा की व्यंजना के लिए भी इसी प्रकार शब्दों का विकृत रूप देखा जाता है। प्रसंगानुसार हम उसमें प्रियत्व अथवा घृणा की व्यंजना देखते हैं। कभी-कभी वस्तु के प्रति लघुता प्रदर्शित करने के लिए उसके बोधक शब्द को विकृत कर दिया जाता है। यथा मटकी से मटकिया, गागर से गगरिया आदि। नीचे हम संत-साहित्य में प्रयुक्त होने वाले कतिपय उन शब्दों को उद्धृत कर रहे हैं जो ऊपर लिखे कारणों के रूप में विकृत हुए हैं—

आनन्द-अनंदा : जहां उड़ै सूर न चंदा, तहां देखा एक अनंदा ।

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ९८

तारे नहि तहं झिल मिल राका दादू अति अनंदा ।

—दादू १, पृ० ५४

अटारी-अटरिया : चलु चढ़ी अटरिया धाई रे ।

—जगजीवन (भाग १), पृष्ठ १००

अक्षर-अखरा : अखरी लिखणु बोलणु बाणि । अखरा सिरि संजोग बखाणि ।

—नानक, पृष्ठ १३६

कर्म-करमवा, मन-मनुवा : कुटल करमवा मनुवा पागल हो सजनी ।

—गुलाल साहब, पृ० २९

किवार-किवरवा : किवरवा जब चाहो तब खोल किवरवा ।

—क० स० (भाग ३), पृ० ४२

किवाड़-किवरिया : खुली किवरिया मिटी अंधियरिया ।

—धनी धर्म दास (संत बानी, सं २, ३९)

केशव-केसवा : दादू कुल हमारे केसवा सदा त सिर जन हारा

—दादू (भाग १), पृ० ९३

खटोला-खटोलवा : प्रेम खटोलवा कसि बांहया ।

—कबीर ग्रंथावली, पृ० ११३

गागर–गगरिया : गगरिया मोरी चित सो उतरि न जाय ।

–जगजीवन (सं० २), पृ० १३१

चमार–चमइया : चरन सरन रदास चमइया ।

–रैदास, पृ० ४०

चित्रशाला–चितसरिया : चित सरिया में लिहलो निखाई ।

–धरनीदास, पृ० १

जिय–जियरा : जियरा दुखिय राम बिनु ।

–दादू (भाग १), पृष्ठ २५३

सास ननद घर दारून आहै तासो जियरा डेराय ।

–जगजीवन (सं० सं-२, १३२)

जुलाहा–जोलहवा : वुढ़िया ने काना सूत जोलहवा ने बीना हो ।

–धरनीदास, पृ० ३६

जोगी–जोगिया : जोगिया भंगिया खवाइल बौरानी फिरैं ।

–जगजीवन (सं० बानी २) पृष्ठ १२

डगर–डगरिया : सुरति के डगरिया ।

–क० सा० (भाग ३), पृष्ठ ४४

दहेड़ी–दहेड़िया : एक बहेड़िया दही जमायौ दूसरी पी गई साई रे ।

–कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ११२

निरंजन–निरंजना : अंजन किया निरंजना ।

–दादू बानी, पृ० १२९

नैन–नैनवा : नैनवा लै जाइ करि कम बसि करयो है ।

–सुन्दरदास (संत सुधासार), पृ० ३५९

निर्गुण–निरगुनिया : मैं निरगुनिया गुन नहि जाना ।

–धरनीदास, पृ० १९

बेना–बेनिया : सुरति की बेनिया डोलियां, ठाढ़े इक टक लाऊं ध्यान ।

–धरमदास, पृष्ठ २०

भिखारी–भिखरिया : कहत गुलाल भिखरिया हो

–भीखा सा०, पृष्ठ ६५

मन–मनुवां : जनम-जनम का सोया मनुवां सबदन मार जगा दीजो रे ।

–धनी धर्मदास, सं० ग्रं०, पृष्ठ ३९

मुख–मुखड़ा : तेरा अंगना पेखौ रे, तेरा **मुखड़ा** देखौ रे ।

–दादू (संत बानी, सं० पृष्ठ ८८)

रहमान–रहमाना : घड़ी-घड़ी तुझे देखा चाहूं सुन साहिब **रहमाना** ।

–मलूकदास (संत बानी, संग्रह पृष्ठ ९७)

लौंड़ी–लऊंड़िया : ते करि होइबो **लऊंड़िया** जे रहिया बलावे हो ।

–बेनीदास, पृष्ठ २

लाभ–लाहड़ा : मिल सुखड़ा दीजै रे यह **लाहड़ा** लीजै रे ।

–दादू संतबानी, स० २, पृष्ठ ८८

सुख–सुखड़ा साधू–साधवा : कह दरिया वे **साधवा** है मेरे सिर ताज ।

–दरिया (मारवाड़), पृष्ठ ६

कुछ अन्य शब्द— १ अमवा, २ उमरिया, ३ गवनवा, ४ चोलिया, ५ जोगिया, ६ जमुनिया, ७ देसवा, ८ भंवरिया, ९ लहरिया, १० लगनिया, ११ सनेसवा, १२ सुमतिया, १३ सुगना, आदि ।

सादृश्य मूलकता एवं विरोध मूलकता

शब्दों के प्रयोग में सादृश्य मूलकता की प्रक्रिया भाषा-सौष्ठव के संवर्धन में विशेष योग प्रदान करती है । समान ध्वनियां श्रवण-सुखदा होती हैं, उनसे मन पर एक प्रकार का आकर्षक प्रभाव पड़ता है । सादृश्य मूलक शब्दों के अनुरूप ही विरोध मूलक शब्द भी मन पर व्यापक प्रभाव डालते हैं । ऐसे प्रयोगों द्वारा भाषा में एक विशिष्ट गरिमा का निदर्शन होने लगता है । संतों की भाषा में शब्दों के ऐसे कितने ही प्रयोग प्राप्त होते हैं, जिनमें से कतिपय युग्म यहां उदाहरणार्थ प्रस्तुत किए जाते हैं—

(१) सादृश्यमूलक

अजर–अमर : अजर अमर कथै सब कोई, अलख न कथसां जाई ।

–क० ग्रं०, पृष्ठ १४९

तिरण–तारण : करि विचार विकार परिहरि **तिरण तारण** सोइ ।

–क० ग्रं०, पृष्ठ १७०

बेद–कितेब, कुरान–पुरान : बेद कितेब कुरान पुरानन सहज एक नहिं देखा ।

–रैदास, संतसुधासार, पृष्ठ ९०

तीरथ–बरत : तीरथ बरत न करौं अंदेसा, तुम्हरे चरन कमल क भरोसा ।

–वही पृष्ठ ९

मैल–कुचैल : सह जो **मैल कुचैल** जल मिलै सू गंगा होय ।
—सहजो बाई की बानी, पृष्ठ १३

ममेरा–फुफेरा : **ममेरा फुफेरा** खलेरा घनेरा ।
—धरनीदास की बानी, पृष्ठ ८

अरोसी–परोसी : **अरोसी परोसी** चिन्हो चेर चेरा । —वही ।

तन–मन : ज्ञान होय तौ मन के चीन्हे, **तन मन** धन सम वारी ।
—दरिया (बिहार), १०२

ग्वाल–बाल : विंदा बन में रंग मचो है **ग्वाल बाल** संग सोभा ।
—दरिया (बिहार), पृष्ठ १०३

माया–मोह : राव राजा के पर बस डारे, **माया मोह** दल साजी ।
—दरिया (बिहार), पृष्ठ १०७

जोग–जुक्ति : कहैं दरिया एह **जोग जुक्ति** है सतगुर भेद बताया ।
—वही पृष्ठ १११

घाट–बाट : खरचत खात सिरात कबहिं नहिं, **घाट बाट** नहिं छोरा हो ।
—धरनीदास की बानी, पृष्ठ २१

कामिनि–कनक : **कामिनि कनक** कलह का भंडा, इन ढग नित सारा जग डंडा ।
—मलूकदास की बानी, पृष्ठ १७

क्षुधा–तृषा सीत–तपति : षुध्या त्रिया क्यूं भूलिये **सील तपति** क्यूं जाइ । –दादू ।

सुरज–चंद : **सुरज चंद** वा भय तें कांपैं, स्वर्ग मांहि सब देव ।
—सहजोबाई की बानी, पृष्ठ ५

इंगला–पिंगला : सोइ **इंगला पिंगला** कहिये सोई सुख मना जागा ।
—दरिया (बिहार), पृष्ठ १०१

निरगुन-सरगुन : की **निरगुन सरगुन** सर बग मता है की कोई बैरागी ।
—दरिया (बिहार), पृष्ठ १२१

जारा-मरण : कहैं दरिया भौ **जारा मरण** में फिरि पाछे पछितावै ।
—दरिया (बिहार), पृष्ठ १४१

वाद-विवाद : नाम नौका चढ़ौ चित दै, बिना **वाद विवाद** ।
—धरनीदास की बानी, पृष्ठ ३४

जित तित : अरी हेली कुमति बूंद **जित जित** परै जी ।
—चरनदास, पृ० २२

इत–उत : **इत उत** डोलो पथिक बने ही । —चरनदास, पृष्ठ ४७

उरझि पुरझि : उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउ वेदा मांहि ।

—क० ग्रं०, पृ० ३६

रहनि गहनि : रहनि गहनि पुकार करि जानो । —चरनदास, पृ० ४८

जात पांत : जात पात कछु समुझौं नाहीं किसकूं करै परै परेरा ।

—रज्जब (संत सुधासार) पृ० ३०४

(२) विरोधमूलक

आदि अंत—मरना जीना : आदि न अन्त मरै नहिं जीवै, सो किनहूं नहिं बाया ।

—रज्जब, (संत सुधासार), पृ० ३०२

आदि अंत ताके नहीं, मध्य नहिं तेहि माहि ।

—सहजोबाई की बानी, १ पृ० ३९

अमृत विष : जीव जन्म का नास है कहै अमृत विष खाई ।

—दादू बानी १, पृ० ११५

अरध उरध : अरध उरध मध्य सोहंग सुरती दीवि दृष्टि गहि लइये ।

—दरिया (विहार)

आगिलि पाछिलि : कहैं दरिया नहिं इन ते उत हैं, आगिलि पाछिलि नासी ।

—दरिया (विहार), पृ० ११४

कथनी करनी : कथनी कथी त का भया जे करनी ना ठहराय ।

—क० ग्रं०, पृ० ३८

अरस कुरस : अरस कुरस से भिन्न है देखै अकल समान । —गरीब०, पृ० ५१

महाप्राणीकरण

कभी-कभी शब्दों की अल्प प्राण ध्वनियाँ महाप्राण बन जाती हैं । संतों की भाषा में भी महाप्राणीकरण के अनेक उदाहरण पाए जाते हैं ।

आब—आभ : ओसो प्यास न भाजई, जब लग धसैं न आभ । —क० ग्रं०, पृ० ७

केवट—खेवट : तुम बिन खेवट को नहीं अतिर तिरयो नहिं जाय ।

—दादू संत बानी, पृ० ६

तै थै : तब सुख आनन्द तुम थै होई । —दादू बानी, पृ० ८

पत्तल—पत्थल : डाल पत्थल करि हरि आरावहि, बांझ खेलावहि बेटा ।

—भीखा, पृ० ५

बेड़ा—भेरा : पार न पहुंचै राम बिन भेरा भौजल माहि ।

—दादू बानी, पृ० ६

वेश—भेख : जीव जगत से बीछड़ा धर पंच तत्त का भेख । —दारिया पृष्ठ १९

सबन—सभन : पीर सभन की एक सी मूरख जानत नाहि । —म० बानी, पृष्ठ ३७

सब–सबन : निरममता निर बैर सबनते निरसंका निरवाने ।

–घ० सं० बानी २, पृ० ११९

ऊपर के उद्धरणों में व, क, त, ब, व, अल्प्राण ध्वनियों के स्थान पर क्रमश: भ, ख, थ, भ, ब, महाप्राण ध्वनियाँ हो गई हैं ।

अल्प—प्राणीकरण

कभी-कभी प्राण ध्वनियाँ अल्प प्राण बन जाया करती हैं । संतों की भाषा से नीचे कतिपय उदाहरण दिए जाते हैं—

गृहस्थ–गृहस्त : संतों कहा गृहस्त कहा त्यागी ।

–दरिया, मारवाड़ वाले, पृष्ठ ४९

निर्बंध–निर्बंद : लोक लाज कुल कान हूं तोड़ि होत निर्बंद । –दयाबाई, पृ० १७९

प्रभु–प्रब : प्रब मेरे प्रीतम प्रान पियारे । –ना० सं० बानी सं० २, पृ० ४५

सफेद–सपेद : कमरी के रंग न चढ़े, कोइला नहीं सपेद ।

–गरीबदास सं० भाग १, पृ० १

सूखी–सूकी : बूढ़ी मेरू नरी सब सूकी झर लागी निशिदिन इकसार ।

–सु० ग्र०, पृ० ५३१

ऊपर के उद्धरणों में थ, घ, म, फ, महाप्राण ध्वनि के स्थान पर त, द, ब, प, और क, अल्प प्राण ध्वनियां ले गई हैं ।

घोषीकरण

उच्चारण की सुगमता से कभी-कभी अघोष ध्वनियाँ घोष ध्वनियाँ बन जाती हैं । संतों की भाषा में घोषीकरण के रूप भी यत्र-तत्र पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं जिनमें से कतिपय रूप नीचे दिए जाते हैं—

अनाहत–अनहद : तीनों वेद लगाय के अनहद सुन टकोर ।

–सहजोबाई बानी, पृ० १६

आकर–आगर : करुना सिंधु दया के आगर नैनन के उजियारे ।–घ० श०, पृ० २५

इकटक–इकटग : इकटग ध्यान रहै ल्यौ लागे । –दादू सं० संग० २, पृष्ठ ८९

चातक–चातिग : सागर सलिता सब भरे, परि चातिग के नहिं चाव ।

–रज्जब संतसुधासार, पृष्ठ ३०४

प्रकट–प्रगट : ब्रह्म स्वरूप प्रगट घट-घट में अनचिन्हार सब केरा ।

–भीखा, पृष्ठ १८

प्रकटी–परगटी : उर में गंगा परगटी सरवर काहे जाय ।

–कबीर शब्दावली, पृ० २९

प्रकाश–परगास : अद्‌भुत जोति अमर प्रगासा । –धर्मदास शब्दावली, पृष्ठ १९

अघोषीकरण

जहाँ घोष ध्वनियाँ अघोष बन जाती हैं, वहाँ अघोषीकरण माना जाता है। इसके उदाहरण प्रायः कम ही उपलब्ध होते हैं। संत साहित्य की भाषा से कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

अक्षर–अच्छर : एक अच्छर के कहत ही भौसागर तरिये।

—मलूक संग्र० २, पृष्ठ ४५

पैगम्बर–पैकम्बर : इनमें काजी मुला पीर पैकम्बर रोज पछिम निवाजा।

—कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १०६

रक्षपाल–रच्छपाल जनते तेरो जोर न लहिहै, रच्छपाल अविनासी।

—मलूकदास संतबानी सं० २, पृष्ठ ९५

रुद्राक्ष–रुद्राच्छ : काठ की रुद्राच्छ की सूतहू की माला और,
इनके फिराये कछु कारज सरतु है।

—सुन्दर० सं० बानी, सं० २, पृष्ठ १०१

संप्रसारण

किसी अक्षर में सम्मिलित ध्वनि जब अलग होकर अपना रूप ग्रहण कर लेती है तब उसे संप्रसारण कहते हैं। संत-साहित्य की भाषा में इसके कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

आत्म ज्ञान–आतम ज्ञान : द्वन्द बिना विचरै वसुधा पर, जा घट आतम ज्ञान अपारो।

—सुन्दरदास संत बानी २, पृष्ठ १

अर्ज–अरज आर्त–आरत : आरत अरज लेहु सुनि मोरी, चरनन लागि रहै दृण डोरी।

अर्घ–अरघ उर्ध्व–उरघ : हृदद उलाघ अनाहदं निरखो अरघ उरघ भघि ठाँव रे।

—धरनीदास की बानी, पृष्ठ १५

क्रिया–किरिया : रूप राम जहं किरिया छूटी।

—चरनदास की बानी २, पृष्ठ ७

किरिया करम अचार भरम है यही जगत का फंदा।

—मलूक संतबानी संग्रह, पृष्ठ ९८

प्रपंच–रपंच : करि परपंच जगत को उहकै अपनो उदर भरै।

—नानक (संत बानी, संख्या २, पृष्ठ ९)

वर्ण-परिवर्तन

भाषागत वर्णों के परिवर्तन की कहानी बड़ी ही मनोरंजक है। भाषा-विशारदों ने इस परिवर्तन पर विचार करते हुये अनेकानेक नियमों का निर्धारण किया है। शब्दों के रूपों पर आगम, लोप, श्रुति आदि का प्रभाव तो पड़ता ही है, भावुकता, भ्रमपूर्ण उत्पत्ति, मुख-सुख भौगोलिक एवं सामाजिक स्थिति का प्रभाव भी

ध्वनियों के रूपों को परिवर्तित कर दिया करता है। संत-साहित्य की भाषा में इस प्रकार के होने वाले कतिपय परिवर्तनों के रूपों पर पहले विचार किया जा चुका है। साधारणत: कुछ परिवर्तन नियमगत होते हैं और कुछ वैयक्तिक रुचियों के परिणाम को व्यक्त करते हैं। यहाँ पर हम वर्ण-परिवर्तन-सम्बन्धी अन्य कतिपय रूपों को लेकर यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि संत-साहित्य की भाषा पर ये परिवर्तन के स्वरूप किस प्रकार प्रभाव डालते हैं।

स्वर-परिवर्तन

ऋ—अ

गृह–घर : कासी काठे घर करै पीवै निरमल नीर।

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३७

ऋ—इ

हृदय–हिरवा : हिरवा भीतर आरसी मुख देखणां न जाइ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८

ऋ—ई

घृत–घीव : पाणी में घीव नीकसै तौ रुखा खाइ न कोई।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०

मृत्यु मीच : माँगे ते मरु मीच भली अस जीने कौन बड़ाई।

—मलूकदास, पृष्ठ १९

ऋ—उ

मृत–मुव : मेरा बैरी मैं मुवा मुझे न मारे कोय। —दादू बानी १, पृ० २०३
एक कबीरा ना मुवा जिनके राम अधार।

—कबीर ग्रंथावली, पृ० ६४

मात्रा सम्बन्धी स्वर परिवर्तन

आ—अ

आकाश–अकास : टूटी बरत अकास थैं काइ न सकै झड़झेड़।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ७०

आषाढ़–अषाढ़ : पिरथम मास अषाढ़ जो लागे सोचो काया को।

—धरमदास, पृष्ठ ५७

इ—ई

जीवत जिवत : जीवत बूड़र ना तिरे जिवत न लंघे पार।

—दादू बानी, १ पृष्ठ २२७

नहिं आसा यह जिवत केरी पावै नाम तो काटे बेरी ।

—कबीर आवरावती, पृ० ११

गुण सम्बन्धी स्वर परिवर्तन

अ—इ

उपज—उपजि, ग्रास गिरास : उपजि उपजि विनसन कर फिरि फिरि जमे गिरास ।

—धरमदास, पृष्ठ ८४

भीतर—भीतरि : विन ही प्रेम कहा भयो रोये भीतरि मैल बाहरि कहा धोये ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३२

मसीत—मसीति : तुरक मसीति देहु रै हिंदू, दहूठा राम खुदाई ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०६

पुलक—पुलकि : हरदम हाजिर प्रेम पियाला पुलकि पुलकि रस लेई ।

—गुलाल साहब, पृष्ठ ३३

अब—इब

मीरा मुझसूं मिहर करि इब मिलो न काहू साथ ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४

निर्भय पाया आप घर इब उड़ि अनत न जाहिं ।

—दादू बानी १, पृष्ठ १५२

अ—उ

यह—यहु : मैं रनि रांसी जे निधि पाई हमरि कहा यहु तुमहिं बड़ाई ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८७

मन—मनुवां : जनम जनम का सोया मनुवां सब्दन मार जगा दीजो रे ।

—धरमदास, पृष्ठ १९

सतयें सब्द अनाहद बाजा तूर सुनत मनुवां भयो राजा ।

—भीखा साहब, पृ० ७७

तन—तनु : तनु मनु देइ न सुनै अंतर राखै ।—रैदास संतसुधासार १, पृष्ठ ९०

जित—जितु : फेरि कि आग्गे रखीए जितु दिसै दरबारु ।

—नानक संतसुधासार, पृष्ठ १२८

इ—अ

ध्वनि—धुन : दसो दिसा चाचरि धुन होवै तत्त अबीर उड़ाई ।

—गुलाल साहब, पृष्ठ १०१

इ—उ

(निशि निसु) : सेस सहसमुख निसु दिन गावै अस्तुति करत पार नहिं पावै ।

—धरमदास, पृष्ठ १८

इ—ए

किमि—केम : ते केम पाइये रे, दुर्लभ जे आधार । —दादू बानी २, पृष्ठ ११?

बिनती—बेनती कहै रविदास एक बेनती हरि सिउ पैज राखउ राजा मेरी ।

—रैदास सं०, पृष्ठ ९२

उ—इ

पुरुष—पुरिष : आन पुरिष हू परम पुरिष भरतार ।

—दादू बानी १, पृष्ठ ९५

उ—ओ

साधु—साधो : कहत कबीर सुनो भई साधो सत गुरु नाम ठिकाना ।

—क० श० १, पृ० ३९

साधो ममिता मद हैं बावरा । —दरिया (विहार) प०, पृ० १४१

ऊ—ओ

भूमि—भोमि : भोमि बिडाणी मैं कहा राती कहा कियो कहि मोहि ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९३

निर्धूम निर्धोम : सुन्दरदास जराइ के अग्नि होइ निर्धोम ।

—सुन्दर ग्रथावली, पृष्ठ ८१६

ए—इ

मेहर मिहर : मीरा मुझसूं मिहर करि इब मिलौं न काहू साथि ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४

कतिपय अन्य परिवर्तन

ऋ—रफ रूप

मृतक—मिर्तक : जब मन मिर्तक ह्वै रहै, इंद्री बल भागा ।

—दादू बानी १, पृष्ठ ९१

मृग—मिर्ग : यह सब माया मिर्ग जल झूठा झिलमिल होइ ।

—दादू बानी १, पृ० ११६

ऋ—रि

ऋद्धि—रिधि : रिधि सिधि मांगै मुकुति फल चाहै तिनको देइ ।

—दादू बानी १, पृ० ९९

हृदय–रिदा : रिदा कवल में राखि लुकाइ, प्रेम गांठि दे ज्यूं घुटि न जाय ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२७

औ–व

कौन–कवन : पूजा अरचा न जानूं तेरी, कहि रैदास कवन गति मेरी ।
–रैदास सं० पृ० ९५

औ–उ

कौवा–कउवा : का कउवा को कपूर खबाए का बिसहर को दूव पिलाए ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६३

अव–ओ, औ

भवजलि–भौजलि : मैं डोरे डोरे जाऊंगा तो मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९८

भव–भौ : आया कहां फेरि गया कहो एह भरमित भौ में अटका ।
–दरिया (बिहार), पृष्ठ १३४

अवसरपि–औसेरि : बहु तक दिन बिछुरे भये तेरी औसेरि आवै मोहि रे ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८

अवगुण–औगुन : गुन सब तोर मोर सब औगुन कृत उपकार न माना ।
–रैदास सं० सुधासार, पृष्ठ ९४

दंडवत–दंडौत : दरसन देखि किये दंडौत । –रज्जब (संत सुधासार,) पृष्ठ ३०५

क्ष–ख

क्षमा–खिमा : सत जत सांच खिमा दया भाव भगति पछि लेहु ।
–वषना संत सुधासार पृष्ठ ३१६

क्षेत्रपाल–खेतरपाल : पांचौं इन्द्री भूत हैं मनवां खेतरपाल ।
–दादू बानी १, पृष्ठ १०२

प्रेक्षण–पेखिया : मैं सब घट अंतर पेखिया जब देख्या नैन समान जी ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९८

क्षण–खन : खन गरजे खन बिजुली चमकै ऊपर से मोहिं झांकि दिखावै ।
–धरमदास पृष्ठ १५

क्षेम–खेम : तू है तैसी सुरति दे तूं है तैसा खेम । –दादू बानी १, पृष्ठ ३४

क–अ

लोक–लोअ : तिथै लोअ लोअ आकार, जिव जिव हुकम तिवै तिरकार ।
–नानक संत सुधासार १५

घ—ह

मरघट—मड़हट : कबीर मरि मड़हट रह्या तब कोई बूझै सार ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४

जैसे मरहट भूत । —दादू बानी १, पृष्ठ १०९

मेघ—मेह : ऐसी जटना चाहिये ज्यो घनहर जल मेह । —गरीबदास, पृष्ठ ७०

ज—ग

पूजी (पूर्ण हुई) पूगी : तिहिं घेन थे उंछया पूगी पाकड़ि खूंटे बांधी रे ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३७

ण—न

ब्राह्मण ब्राह्मन : इंदुनाम यक ब्राह्मन हुता । —चरनदास २, पृष्ठ ६६

चरण चरन : कहै कबीर भजि चरन मुरारि ।

—कबीर (संत सुधासार,) पृ० ३७

वर्ण—बरन : चारि बरन आसम नाहीं । —कबीर संत सुधासार, पृष्ठ ११

अशरण—शरण, असरन सरन : राम, राम असरन—सरन ।

—मलूकदास संत सुधासार, पृष्ठ ३९४

पाषाण पखान : जैसे कीट पतंग पषान । —धर्मदास (संत सुधासार, पृष्ठ ११२)

चिंतामणि चिंतामनि : काम धेनु चिंता मनी तरू कल्प कहाया ।

—सुन्दरदास (संतसुधासार पृष्ठ ३४७)

थ—ह

अकथ—अकह : अकह कमल में श्रुति उठी अनुभव शब्द प्रकास ।

—धरमदास, पृष्ठ ८४

द—व

अभेद—अभेव : साईं सिरजन हार तू कहिये अलख अभेव ।

—दादू० बानी १, पृष्ठ १४४

भेद—भेव : चरनदास सखि सदा झूलै कोइ न पावै भेव ।

—चरनदास बानी, पृष्ठ १२

स्वाद—साव : कबीर प्रेम न चक्खिया चक्खिन लीया साव ।

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६

ध—झ

मध्य—मंझ, मझार : मंझे चेला मंझि गुरू मंझे ही उपदेश । —दादू बानी १, पृष्ठ ८

द्वादस नगर मझार जो पुरुष विराजहीं ।

—धरमदास शब्दावली, पृष्ठ ४१

न—ण

पानी—पाणी, झीना—झीणा : पाणी ही तैं पातला, धूवां ही तैं झीण ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २९

अपना—अपणा, पहचान-पिछाणि : अपणा पीव पिछाणि करि दादू रहिए लागि ।

—दादू० बानी १, पृ० १९५

अनमोल—अणमोल : आज्ञा में अंणमोल है । —रज्जब, पृ० २४

णत्व विधान के शब्द कबीर-साहित्य में विशेष रूप से पाये जाते हैं । कतिपय अन्य शब्द भी इसी रूप में देखिए—

जाणों, जीवणां, पाहुंणां, लेटणां, वाजणां, सुणों ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०, २१

अणबोल्या, कहणी, कहाणीं कुंभिलाणीं, गांवणहारा, फलूण, रहणीं वाणीं, हीणा । —कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४२

प—फ

पुनि—फुनि : अनेक जतन करि सुरझि हौ फुनि फुनि उरझाई ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४८

प—व

नूपुर—नेवर : चिउंटी के पग नेवर बाजे सोफी साहब सुनता ।

—कबीर शब्दावली १, पृष्ठ ५६

अपर—अवर : आदि नाथु नाथी सभजाकी सिद्ध सिद्ध अवरा साद ।

—नानक (सं० सु०, पृ० १४)

मेरे प्रभु तुमहिं अवर नहिं कोई ।

—धरनीदास, पृ० २०

राति माति रहु राम रसायन अवर सबहिं बिसराउ रे ।

—दूलनदास, पृ० १

भ—ह

लाभ—लाह : राम कहे सब रहत है लाहा मूल समेत ।

—दादू० बानी १, पृ० २१

भवितव्यता—होतवता : जो कछु होय होतवता भोडी जैसी उनजै बुद्धि ।

—चरनदास बानी २, पृष्ठ ४०

म—व

कमलाकांत—कंवलाकान्त : दान एक मांगों कंवलाकंत कबीर के दुख हरन अनंत ।

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२३

महादेव संग कंवला रानी उन्ह के परिगौ फन्दा ।

—दरिया (बिहार), पृ० १३१

आवागमन—आवागवन : आवागमन मनका मिटै तब दादू रहै समाइ ।

—दादू बानी १, पृ० ११५

गुरू प्रताप साधु की संगति आवागमन तें छूटि पड़ो ।

—यारी, पृ० ३

समान—सवांन : सतगुर सवांन को सगा सोंधी सई न दाति ।

—क० ग्रं०, पृ० १

व—इ

गायत्री—गाइत्री : संध्या गाइत्री अरु षट करमा तिनथै दूरि बताता ।

—क० ग्रं०, पृ० १७८

कायर—काइर : काइर हुवां न छूटिये कछु सूरा तन साहि ।

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६८

य—ए

अनभय—अनभै : आपा पर आनंद न बूझै बिन अनभै क्यूं छूटै ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४८

उदय—उदै : उदै अस्त की जहां मति बुधि नाहीं सहज राम ल्यौ लीना ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४८

बयन—बैन : सिमंल बैन आवाज है जहं सुरति समाहीं ।

—गरीबदास की बानी, पृष्ठ १८८

मयन—मैन : मैन मनोरथ सम का दिल में काके कहौं निरंका ।

—दरिया (बिहार), पृष्ठ १३१

नयन—नैन : नैन-दुखित डारैं बहु पानी ।

—रज्जब (संत सुधासार), पृष्ठ ३०८

य—ज

यदि—जदि : जदि का माइ जनमियां कहूं न पाया सुख ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२

वियोग—विजोग : सोगु विजोगु तिसु कदे न बिआपै ।

—नानक (संत सुधासार), पृष्ठ १५५

युक्ति—जुक्ती : जन जुक्ती जिन मांहि । —जगजीवन साहब, पृष्ठ १२७

सायुज्य–साजुज : सारूप सरीखा भया साजुज एकै होइ ।

–दादू बानी १, पृष्ठ ९९

कलयुग–कलजुग : इनको दोष कहा-कहा दीजै यह कलजुग की झरजी ।

–चरनदास १, पृष्ठ ४९

संयोग–संजोग, वियोग–विजोग : संजोग विजोग दुहुकार चलावहि लेखे आवहि भाग ।

–नानक (संत सुधासार), पृ० १४५

य–व

वियोग–विवोग : राम विवोगी ना जिवै, जिवै तो बौरा होइ ।

–कबीर ग्रंथावली, पृ० ९

रज्जब विरह विवोग बिन, कहां मिलै सो पीव ।

–रज्जब (संत सुधासार), पृ० ३१०

य, या–आ

ग्यान–गिआन : गिआन विहूणा गावै गीत मुखे मुला घरे मसीत ।

–नानक (संत सुधासार), १५८

जोक न सुरती गिआन बिचारि ।

–धर्मदास (सं० सु०), पृष्ठ १४०

किया–किआ : होरि केते गावहि से मैं चितिन आवनि नानकु किआ बीचारे ।

–नानक सं०, पृष्ठ १४४

र–रेफ (ं) होना

पुरब–पुर्ब : साधो यह मन रह पुर्ब के पास ।

–दरिया (बिहार), प० पृ० १३५

नरक–नर्क : स्वर्ग नर्क की गमि सब जानहि चढ़े भवन बड़ जाता ।

–दरिया (बिहार), पृ० १३२

भ्रम–भर्म : को तैं अहसि कहां तें आयसि काहे भर्म भुलाना ।

–जगजीवन साहब संत बानी, पृ० १२१

रेफ–(ं)–र

वार्ता–बारता : आदि अंत की बारता सतगुरू से पावो ।

–धरमदास (संत बानी संग्रह २,) पृ० ११७

दर्द–दरद : दोजख दरद मिटाई रे । –धरनीदास संत बानी संग्रह २, पृ० ११७

तीर्थ–तीरथ : तीरथि नावा जो तिसु भावा विणु भाणे कि नाइ करी ।

–नानक सं०, पृ० १२९

र—ल

ऊपरी–ऊपली : दादू यह परख सराफी ऊपली भीतरि को यहु नाहिं ।

—दादू० बानी १, पृष्ठ १५६

दरिद्र–दलिद्र, दालिदी : दुख दलिद्र तब कका गया सुख सम्पति सु अपार ।

—रज्जब, पृष्ठ ३

दादू टोटा दालिदी, लाखों का व्योपार ।

—दादू० बानी १, पृष्ठ १४४

अनियारा–अनियाले : राम बान अनियाले । —कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२५

गहरा–गहिला : गूंगा गहिला बावरा साईं कारण होइ ।

—दादू० बानी १, पृष्ठ २०६

सरिता–सलिता : दसौ दिसि नीर बहै सलिता । —रज्जब, पृष्ठ ११

ल—र

चुहुल–चुहर : सकल संसार में चुहर बाजी । —क० ज्ञा० रे० झू० पृष्ठ ८

अंगुली–अंगुरी : हांथ औ अंगुरी सकल पूरी बनी ।

—क० ग्र० रे० झू० पृष्ठ १२

अंजुलि–अंजुरी : अंजुरी महिं नीर, ज्यो किती बार ठहराइ ।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६९९

व—उ

पांव–पांउ : कबीर ऐसे ह्वै रह्या ज्यो पाऊं तल घास ।

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६५

देव–देउ : है कोई संत सहज सुख उपजै जाको जप तप देउ दलाली ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४८

भावजल–भउजल : भउजल तारण हाइ सबदि पछाणीए ।

—नानक (संत सुधासार), पृष्ठ १५९

श, ष—ह

पुष्प–पुहुप : थन हर दूध जो बछरू जुठारी, पहुप भंवर जल मीन बिगारी ।

—रैदास, पृष्ठ ९५

पुहुप बिना एक तरवर फलिया, बिन कर तूर बजाया ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९०

दश–दह : काहे रे मन दह दिसि धावै ।

—कबीर गन्थावली, पृष्ठ ११५

सानुनासिकता

सुख–दुख, सुखं–दुखं : नहिं हर्ष शोक न सुखं न दुखं नहीं मान अमानियो ।

–सुन्दरदास सं० सु०, पृ० ३४५

मन–मंने : मंने मारगि ठाक न पाइ, मंने पति सिउ परगटु जाइ ।

–नानक संत सुधासार, पृष्ठ १३३

फूलत–फलूंत : सकल बनराइ फूलंत जेती ।

–नानक (संत सुधासार), पृष्ठ १५२

तू–तूं : तूं हरि तारण केसवा, दूजा नाहीं कोइ ।

–दादू बानी सं० ग्रन्थावली, पृष्ठ ८९

मृगतृष्णा–मृगतृष्णां : मृगतृष्णां दिन-दिन ऐसी अब मोहिं कछू न सुहाइ ।

–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३२

लेखा–लेखां : देह पईसा व्याज को लेखां करना जाइ ।

–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३६

अनुस्वार का अनुनासिकीकरण

अनंत–अनँत : सतगुरु की महिमा अनँत अनँत किया उपगार ।

–कबीर ग्रंथावली, पृ० १

आनंद–आनँद : अति आनँद विभि चारिणी जाके खसम अनेक ।

–दादू० बानी १, पृष्ठ ९६

आनँद मगन होइके तैं हरिगुन गावरे ।

–मलूक सं० सु०, पृ० ३९२

अंग–अँग : जोगिन भइउं अंग भस्म चढ़ाय ।

–जगजीवन सं० सु०, पृ० ४०३

कुटुंब–कुटुँब : आप कुटुंब के फंद पड़े नाहीं सुरझावै ।

–चरनदास सं० सुधासार पृष्ठ ४४७

जंजाल–जँजाल . जीव जँजाल न छाड़ई ।

–क० ग्रं०, पृष्ठ ७२

संग–सँग : लंपट चोर धूत मतवारे तिन सँग सदा बसेरो ।

–कबीर ग्रन्थावली, पृ० २७९

द्वित्व

अघट–अघट्ट : दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट । –क० ग्रन्थावली पृ० २

अरब-खरब, अरब्ब-खरब्ब : कोटि अरब्ब खरब्ब असंखि,
पृथ्वी पति होन की चाट जगेगी।

–सुन्दर सु० पृ० ३६१

अडिग-अड्डिग : धीरजवंत अडिग्ग जितेन्द्रिय निर्मल ज्ञान गह्यो दृढ़ आदू ।

–सुन्दर संत सुधासार, पृष्ठ ३५८

रद-रद्द : दरिया गुरू गरूवा मिला किया सब रद्द ।

–दरिया (विहार), पृष्ठ १

दीजिय-दीज्जय, कीजिय-किज्जय : अहंकार नहिं लेश महान सबनि सुख दिज्जय ।
शिष्य परख्य विचारि जगत महिं सो गुरु किज्जय ।

–सुन्दर संत सुधासार, पृष्ठ ३४२

मन-मन्न, रतन-रतन्न : पंच संगी पिव पिव करै, छठा जु सुमिरे मन्न ।
आई सूति कबीर की, पाया राम रतन्न ।

–कबीर ग्रंथावली, पृ० ५

काया अगोचर मन्न अगोचर शब्द अगोचर सोय ।

–दरिया (बिहार), पृ० १७

हद-हद्द : हद्द उलंघि अनाहद निरखौ अरध-उरध मधि ढांवरे ।

–धरनीदास वानी, पृष्ठ १५

हाट-हट्ट : पूरा किया बिसाहुणां बहुरि न आवौं हट्ट ।

–कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २

शून्य-सुन्न, जड़-जड्ड़ : जड्ड पलट चेतन किया आन मिलाया सुन्न ।

–दरिया (विहार) पृ० २,

६. व्याकरणिक विवेचन

कारक

भाषा का मूल रूप संभवत: शब्द प्रधान ही रहा होगा। कुछ समय तक एक शब्द ही सम्पूर्ण एक वाक्य का अर्थ प्रदान करने की योग्यता रखता होगा। काल-क्रमानुसार जैसे-जैसे समाज का विकास हुआ वैसे ही वैसे भाषा भी उत्तरोत्तर विकसित होती गई। विश्व की भाषाओं का विकास कभी भी एक ही पद्धति पर नहीं हुआ है। किसी भाषा में कर्ता की प्रधानता रही है तो किसी भाषा में कर्म की। भारतीय आर्य भाषाओं का जो विकास हुआ उसमें कर्ता प्रधान रहा है। वैयाकरणों ने कर्ता तथा उसके सम्बन्धों की विस्तृत मीमांसा की है।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार क्रिया के साथ संज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषण के अन्वय (सम्बन्ध) को कारक कहते हैं और उनके जिस रूप से यह अन्वय सूचित होता है उसे विभक्ति कहते हैं। अत: संस्कृत में कारक और विभक्ति भाषा के दो पृथक् तत्व हैं। संस्कृत में कारक और विभक्ति के पृथक्त्व का मुख्य कारण एक ही विभक्ति का भिन्न-भिन्न कारकों में प्रयुक्त होना है। विभक्तियों की संस्कृत के समान बहुरूपता हिन्दी में नहीं पाई जाती। अत: यहाँ पर कारक तथा विभक्ति में अधिक अंतर नहीं है तथा जिन वैयाकरणों ने इस भेद को मानने की चेष्टा की है वे सफलता-पूर्वक इनका निर्वाह नहीं कर सके हैं। अतएव हिन्दी के वैयाकरणों ने कारक तथा विभक्ति दोनों की सत्ता मानकर प्रधान रूप से कारकों का ही विश्लेषण किया है। ये कारक आठ होते हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन।

कोई भी भाषा बिना कारकों एवं विभक्तियों के नहीं होती है। संत कवियों की भाषा में इनके रूप यथास्थान प्राप्त होते हैं। इस विषय में यह दृष्टव्य है कि संतों की भाषा में एक रूपता नहीं है। उसमें कहीं ब्रज भाषा के शब्द हैं तो कहीं अवधी के, और कहीं पंजाबी शब्द प्रयुक्त हुए हैं तो कहीं गुजराती के, इसीलिए इनकी विभक्तियों का रूप भी भाषा—प्रयोग की दृष्टि से बदलता हुआ पाया जाता है। भाषागत शब्द-रूपों की भिन्नता जितनी संतों की भाषा में है, उतनी कदाचित् अन्यत्र कहीं नहीं। प्रस्तुत प्रसंग में हम संत-साहित्य की भाषा में विभिन्न कारकगत विभक्तियों के प्रयोगों के देखने का प्रयत्न करेंगे।

कर्ता कारक

क्रिया से जिस वस्तु के विषय में विधान किया जाता है, उसे सूचित करने वाले संज्ञा रूप को कर्ता कारक कहते हैं। इसमें प्राय: 'ने' विभक्ति का प्रयोग होता है, परन्तु अधिकांश शब्दों में कोई विभक्ति नहीं आती। संत-साहित्य में भी विभक्ति-रहित कर्ता कारक का प्रयोग बहुलता से हुआ है—

उन—उनने, उन्होंने : उन काल नहीं पहिचाना। सो मार करै घमसाना।

—चरण० बानी, पृ० २४

किनहूं—किसी ने : जरत फिरे चौरासी लेखा सुख कर मूल किनहूं नहिं देखा।

—क० ग्रं०, पृ० २३७

कैसो—केशव ने : जे कुछ किया सु मन किया, कैसो कीया नाहिं।

—क० ग्रं०, पृ० ४६

गुरां—गुरु ने : जन दरिया हरि भक्त की, गुरां बताई बाट। —दरियासाहब पृ० १

जिनि—जिसने : बलि जाउ ताकी जिनि तुम्हं पठई, एक माइ इक बहना।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८०

तिनहीं—तिसने : सेवग सो जो लागै सेवा, तिनहीं पाया निरंजन देवा।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०५

तैं—तूने, तैंने : तैं निज नाम न जानिया भला कहां ते होय।

—रैदास की बानी, पृष्ठ १

गुरु सेवा करि भगति कमाई, जौ तैं मनिषा देही पाई।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०७

बिरहा—विरह ने : यह बिरहा मेरे साध को, सोता लिया जगाय।

—दरिया साहब, पृष्ठ ९

भेदी—भेदी ने : भेदी होय सो भरि-भरि पीवै अनभेदी भरम फिरी।

—कबीर शब्दावली (भाग ३), पृष्ठ २१

कर्म कारक

जिस वस्तु पर क्रिया के व्यापार का फल पड़ता है उसे सूचित करने वाले संज्ञा-रूप को कर्म कारक कहते हैं। इसकी विभक्ति 'को' है। प्राय: कर्ता कारक की विभक्ति के समान इसका भी लोप हो जाता है। संत-साहित्य में अधिकांशत: ऐसे ही शब्द मिलते हैं, जिनमें इसका लोप पाया जाता है। कहीं-कहीं कूं, कौं, कौं आदि विभक्तियों का प्रयोग भी मिलता है जिन्हें हम 'को' का ही विकृत रूप कह सकते हैं। इनके उदाहरण क्रमश: इस प्रकार हैं—

को : तिनहूं को फल सोऊ सिध्याई बखानिए। —सुन्दर विलास, पृ० २३

कबिरा कब से भये वैरागी, तुम्हरी सुरत कहाँ को लागी ।
—कबीर शब्दावली (भाग २), पृ० ६३

उन्हें—उनको : उन्हैं ततकाल रोइ हाथ में घोरा लयो । —सुन्दर विलास, पृ० ३५

औगुणां—अवगुण को : मेटि हमारे औगुणां तूं गरवा सिरजनहार ।
—दादू दयाल की बानी (भाग २), पृष्ठ ५

काकहु—किसको : आपस कौ मुनिवर करि थापहु काकहु कहो कसाई ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०५

केहु—किसी को : केहु भरमाय देत माया महं, केहु करत हितकारी ।
—जगजीवन दास की बानी (भाग १), पृष्ठ २४

जेहि—जिसको : सतनाम भवतारन ये ही । जेहि जानि जिन निर्भय रहही ।।
—अखरावती, पृष्ठ ९

ताहि—उसको, तिसको : हरि ने मो सूं आप छिपायौ । गुरु दीपक दै ताहि दिखायौ ।।
—सहजोबाई, पृष्ठ ३

तेहिं—तिसको : जो निस्चै करि मानिहै, तेहिं तेवं बचाई ।
—धरमदास की शब्दावली, पृष्ठ १०

तोहि—तुझको : तूं न बिसारी केसवा मैं बन भूला तोहि ।
—दादू की बानी, (भाग २), पृष्ठ ६

मोहिं—मुझको : राम मिलन क्यों पइए मोहिं राखा ठगवन घेरि हो ।
—मलूकदास की बानी, पृष्ठ १२

वाहि—उसको : पारस परसे कंचन होई, लोहा वाहि कहै नहि कोई ।
—कबीर शब्दावली, (भाग ३), पृष्ठ २४

विप्रौं—विप्र को : कोटि अश्व विप्रौं दिए मिटै न खैंचा तान ।—गरीबदास, पृष्ठ २१

कूं—को : आपण अंध और कूं कांनां तिनको देखि कबीर डरांनां ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३४

द्रुम कूं ज्यूं चन्दन, पलटही लगाय वास । —सुन्दर विलास, पृ० ५

रज्जब नीचे कूं ऊँचा करै, भगवंत भांडा फोड़ि ।
—रज्जब बानी, पृष्ठ ६

कौं तथा कौं : दुखिया मूवा दुख कौं सुखिया सुख कौं झूरि ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५४

सतगुरु बिन संदेह कौं रज्जब मानै कौन । —रज्जब बानी, पृष्ठ ४

कां—को : सुमति सती जे छिमा साधु हैं, तिन हार कां पहिचाना ।
—जगजीवन बानी, (भाग १), पृष्ठ २१

करण कारक

करण कारक की विभक्ति 'से' है तथा यही अपादान कारक में भी प्रयुक्त होती है। संत कवियों की भाषा में इस विभक्ति का प्रयोग प्राय: नहीं के बराबर है, परन्तु इसकी समानार्थक विभक्तियाँ--सेती, सन, सूं, सों, सनि, तें, थैं आदि विशेष रूप से प्रयुक्त हुई हैं। जहाँ पर किसी विभक्ति का प्रयोग नहीं हुआ है, वहाँ पर अन्य कारकों की भाँति वह विभक्ति उसी शब्द में लीन रहती है। इसके कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

से : जा से लौंग गाछ फर लागै, चन्दन फूलन फूला।
—कबीर शब्दावली, (भाग २), पृष्ठ २५

आइ मिल्यौ इन से सम्बन्धा। —सुन्दर विलास, पृष्ठ २७

सेती मल सेती जो मल को धोबौ सो मल कैसे छूटै।—दरिया, पृष्ठ ४०

सहजो काया प्रान यूं मुख सेती ज्यों बात। —सहजोबाई, पृष्ठ १८

नारी सेती नेह बुद्धि विवेक सबही हरै।—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३९

सूं : चित तूं सूं बांधूं नहिं भेखूं। —दादू० (भाग २), पृष्ठ ९

पानी की इक बूंद सूं साज बनाया जीव। —गरीबदास, पृष्ठ १

ऐसा तेरा झूठा मीठा लागा, तायैं सांचे सूं मन भागा।
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १७१

उपजी सूं निपजी सही, कृषि करणी दतमाल।
—रज्जब बानी, पृष्ठ ३५५

सों—सौं कासों कहो कहे को मानै, अंग-अंग बकुठाई।—धरनीदास, पृष्ठ ५

साहसी तूं न मन सौं गाढ़ौ। —दादू० (भाग २), पृ० ९

सारंग सेत सुरत सौं राखो- मन पतंग होइ अजर जरो।
—सहजोबाई, पृष्ठ ३

सनि मांसा मांगै रती न देऊं, घटै मेरा प्रेम तो कासनि लेऊं।
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१२

मैं बेदनि कासनि आंखूं। —रैदास०, पृष्ठ २९

ते अथवा तें जाति ते कोई पद नहिं पहुंचा, राम भगति बिसेख रे।
—रैदास०, पृष्ठ २३

जेहि सुमिरे ते अचल अछय पद भक्ति अखंडित पाया।
—कबीर शब्दावली, (भाग ३), पृष्ठ ४१

तातें मन बचन करम, करि कर जोर। —सुन्दर विलास, पृष्ठ ९

कह मलूक गुरु कृपा तें उतरा भवजल पार ।

—मलूकदास की बानी, पृष्ठ ३१

थें : सनमुख सदा परस्पर नाहीं ताथें दुख मोंहि देवा ।

—दादू, (भाग २), पृष्ठ ३३

त्यों निरगुन थें सरगुन रूपा । —रज्जब, ग्रन्थ, पृष्ठ १२

नैं—से : मरनैं कहा डराइये हाथि स्यंधौरा लीन्ह । —क० ग्रं०, पृ० ६९

सम्प्रदान कारक

हिन्दी भाषा में इस कारक की विभक्ति 'को' का ही अधिक प्रयोग होता है, परन्तु संत कवियों की भाषा में कंह, कां, कूं, कौं आदि विभक्तियों का प्रयोग देखा जाता है । इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

कंह : पांव दिए चलने फिरने कंह हाथ दियो हरि कृत्य करायो ।

—सुन्दर विलास, पृष्ठ ४१

कां : सतनाम कां बेड़ा बांधहु, उतरन कां भवसागर पारा ।

—जगजीवन (भाग १), पृष्ठ ७०

कूं : दरसन परसन जुग जुग कीचै, काहे कूं दुख सहिये ।

—दादू (भाग २), पृ० ७८

कौं : दादू तुम्हारा दास है, नैन देखन कौं रोई हो ।

—दादू (भाग २), पृ० ५९

जन रज्जब दृष्टांत कौं कच्छिप अंडहि जोइ ।

—रज्जब बानी, पृ० ९

अपादान

करण कारक की ही भांति अपादान की विभक्ति भी 'से' है । किन्तु इनका अंतर अर्थ से व्यक्त होता है । करणकारक में 'से' का संयोगात्मक अर्थ होता है, जब कि अपादान में वियोगात्मक । संत-कवियों की भाषा में भी अपादान कारक में उन्हीं विभक्तियों का प्रयोग हुआ है जिनका करण कारक में, अर्थात् सूं, सों, तें, थें आदि । कतिपय उदाहरण देखिये—

सूं : जन दरिया मन उलट जगत सूं अपना राम सम्हाल ।

—दरिया, पृ० ४१

सौं : जाके मन कछु बसै बुराई ता सौं भागे रहिए ।

—मलूकदास की बानी, पृष्ठ २०

तें : दया करि दयाला उहां तें निकाला ।

—धरनीदास की बानी, पृष्ठ ८

थं दम छ से सहस इकइस हर दिन खजाने थैं जाहिं बै ।

—रैदास की बानी, पृष्ठ १९

सम्बन्ध कारक

इस कारक की विभक्ति 'क' है जो लिंग तथा वचन-भेद से क्रमशः 'की' तथा 'के' में परिवर्तित हो जाती है । संत कवियों में 'के' के स्थान पर प्रायः 'कै' विभक्ति का प्रयोग हुआ है । इसके अतिरिक्त 'केरी, केरी तथा के' विभक्तियों का भी प्रयोग देखा जाता है । हिन्दी वैयाकरणों के अनुसार 'केर तथा केर' प्राकृत के सम्बन्ध कारक की विभक्ति केर, ओ, केरिआ, केरकं केर, से तथा 'क' संस्कृत की 'क' प्रत्यय से निष्पन्न हुए हैं । कहीं कहीं पर सम्बन्ध कारक में 'को' विभक्ति का प्रयोग भी देखा जाता है । इनके कुछ उदाहरण देखिए ।

का, की, के : घट घट नूर मुहम्मद साहब, जा का सकल पसारा है ।

—यारी० पृष्ठ २

जा का किया सब बना सात दीप नौ खंड ।

—चरनदास की बानी, भाग १, पृ० ३

अति ही अज्ञानी जाकी मति गई खोइ है ।—सुन्दरविलास, पृ० ४८

जाके मिले परम सुख उपजै पावो पद निर्वाना हो ।

—कबीर शब्दावली, (भाग २), पृ० ५

तिन के तौ कहूं लता लागी नहिं देखिए ।—सुन्दरविलास, पृ० ५२

कै : मन कै मते न चालिये, छाड़ि जीव की कांणि ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८

ज्ञान कै दीप बरै बिनु बाती, कह यारी तहं ध्यान धरो ।

—यारी०, पृ० ३

जहं नहिं अवन गवन कै चिंता, अनंद भयो घर आया है ।

—बुल्ला०, पृ० ५

केर, केरा तथा केरी : जाहि केर बनाव है सब बनत नाहिं घरी ।

—जगजीवन, भाग १, पृ० ४३

पाहंण केरा पूतला करि पूजैं करतार ।—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४३

काजल केरी कोठरी, मसि के कर्म कपाट ।

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४३

क : तुम्हरे चरन कमलक भरोसा । —रैदास जी की बानी, पृ० २४

रामक भजन करहु मनमाही । —जगजीवन०, (भाग १), पृष्ठ ४३

को, कौ, कौं : स्वर्ग मृत्यु पताल मैं कालहिं को सोर है । —सुन्दर विलास, पृ० ३०

तन धन जोवन अंजुरी को पानी । —क० ग्रं०, पृ० १९४
जाकों जप तप देहु दलाली । —क० ग्रं०, पृ० १३८

विभक्ति का शब्द में लोप : हिरदा भीतर हरि वसै तूं ताही सों ल्यो लाइ ।
हृदय के भीतरे —कबीर ग्रंथावली, पृ० ४४
स्वादहिं संग विषै नहिं छूटै, मन निहचल नहिं वरते ।
स्वाद के साथ —दादू०, (भाग २), पृ० ८

अधिकरण

अधिकरण कारक का चिह्न या विभक्ति 'में' का ही हिन्दी भाषा में अधिक प्रयोग होता है । इसी के साथ 'पर, ऊपर' विभक्तियां भी आती हैं । संतों की भाषा में 'में' विभक्ति का प्रयोग बहुत कम हुआ है, तथा इसी अर्थ में 'मां, मंह, मांहि, मांहीं, मांहे' आदि विभक्तियों का प्रयोग हुआ है । अधिकांश स्थलों पर संस्कृत, पुलिंग तथा नपुंसकलिंग सप्तमी-विभक्ति का प्रयोग--जैसे वालके, फले, जले, इत्यादि, हिरदे, द्वारे, मने आदि में प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ता है । भाषा की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार विभक्ति का लोप भी देखा जाता है ।

में : जा में प्राण प्रेम रस पीवै । —दादू की बानी, भाग २, पृ० १५
बुरा भल वाचा तनीं ता में सकल समाव । —गरीबदास, पृ० १
कपूर लाइची भेरिया वा में पूजा यही हमार ।
—जगजीवन, प्रथम भाग, पृ० १

मां : अति अहंकार उर मां सत रज तम, ता में रह्यो उरझाई ।
—रैदास, पृ० ४
परपंचहि मां निसुदिन बीतत, नामहिं सुमिरै नाहीं ।
—जग०, (भाग १), पृ० ६३

मंह : पिंड मंह प्रान है प्रान मंह पिंड है ।
—कबीर, (ज्ञानगूदड़ी, रेखते, झूलने), पृ० ९

मांहि : उलटा नाद कंवल के मारग गगना मांहि समाया ।
—दरिया०, (मारवाड़), पृ० ४२
दादू रमता राम सों खेलै अन्तर मांहि ।—दादू०, भाग १, पृ० ७३
भूल्यो कोऊ रहत न जानिए जगत मांहि ।—सुन्दरविलास, पृ० ४७

मांहीं : काम औ क्रोध मद लोभ मांहीं घने ।
—कबीर ज्ञान गूदड़ी०, पृष्ठ १३
करम लिख्या उस मांहीं रे । —दादू० भाग २, पृष्ठ २१

जग मांही ऐसे रहो, ज्यों अम्बुज सर मांहीं ।

—चरनदास०, (भाग १), पृष्ठ २१

मांहै : काया मांहै खेलै रास । काया मांहै बिबिध बिलास ।।

—दादू० (भाग २), पृ० १८४

महियां : सारो दिन डोलत बन महियां अजहुं न पेट अघैहै ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २८५

कर्म अनेक कटै छिन महियां सुफल होइं दृढ़ काम ।

—जगजीवन, (भाग १), पृ० ४६

संस्कृत की भांति सप्तमी विभक्ति के कतिपय ऐसे प्रयोग जिनमें शब्द में ही विभक्ति निहित रहती है, नीचे दिए जाते हैं—

जियरे–जिय में : राम नाम ल्यो लाइस जियरे, जिनि भूलै विस्तार ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२७

मनै–मन में : तीन लोक को राज मनै नहिं आनता । मलूक०, पृष्ठ ५

द्वारे–द्वार पर : अब चाहो सो करो प्रभु तुम्हहीं, द्वारे तुम्हरे सुरति अरी ।

—चरनदास०, (भाग १) पृष्ठ ९३

हिरदे–हृदय में : मेरे हिरदे हरि बसै, दूजा नाहीं और । दादू०, (भाग १), पृष्ठ ९३

सुपने–स्वप्न में : सुपने छिमा सील चित्त नाहीं । —सहजोबाई, पृष्ठ ८

विभक्ति के लुप्त रूप : मन ही सो मन सेविये, ज्यों जल जलहिं समाय ।

—दादू०, (भाग १), पृष्ठ ९१

याके हिय न भेद समाना । —धरनी०, पृष्ठ ४४

संबोधन-कारक

सम्बोधन कारक का प्रयोग किसी व्यक्ति के बुलाने में होता है । इसका चिह्न हे, हो, अरे है । संत-साहित्य की भाषा में संबोधन-कारक में कतिपय प्रयोग इस प्रकार हैं—

परोसनि हे परोसिनी : राखि परोसनि लरिका मेरा, जे कछु पाऊं सो आधा तोरा ।

—कबीर ग्रंथावली, पृ० २१२

बौरे हे बावले : आसण पवन कियें दिढ़ रहु रे, मन का मैल छाड़ि दे बौरे ।

—क० ग्रं०, पृ० २०७

भाई हे भाई : भक्ति जाति कूं क्या करै, सुनियौं रे भाई ।

—रज्जब (संतसुधासार), पृष्ठ ३०६

मनवां हे मन : बीरो मेरे मनवां तोहि धरि टांगौं । —क० ग्रं०, पृ० १६०

मना : हे मन- ऐसा ज्ञान विचार मना हरि किन सिमरहु दुख भंजना ।
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २८७

चल मन हरि-चटसाल पढ़ाऊं । —रैदास, (संतसुधासार), पृ० ९६

रे मन डीगि न डोलिए, सीधे मारगि धाऊ ।
—नानक (संतसुधासार), पृ० १५९

मन मेरे उलटि आपु को जानि । —सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ८३९

साहेब हे साहब : साहेब, मेटो चूक हमारी । —धरमदास की बानी, पृष्ठ २१

अव्यय

अव्यय का शाब्दिक अर्थ है न व्यय (अ + व्यय) होना । तात्पर्य यह कि जिन शब्दों के रूपों में कोई परिवर्तन नहीं होता उन्हें अव्यय कहते हैं । वैय्याकरणों द्वारा 'अव्यय' की व्याख्या इस प्रकार की गई है—[1]

(१) 'स्वरादिनिपातमव्ययम् ।' स्वर आदि गुण में जिनकी गणना की गई हैं और जिनकी निपात संज्ञा है उन्हें अव्यय कहेंगे ।

(२) 'उपसर्गविभक्ति स्वरप्रतिरूपकाश्च ।' जो उपसर्ग विभक्ति और स्वर के तुल्य हों परन्तु उपसर्ग, विभक्ति और स्वर न हों किंतु उनके सा उनका रूप हो तो वे भी अव्यय हैं ।

(३) सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्योतितदव्ययम् ।।

जो तीनों लिंगों, सब विभक्ति और सब वचनों में समान रहे, विकार को प्राप्त न हो, उसे अव्यय कहते हैं । संस्कृत में अव्यय शब्द के पश्चात् विभक्ति का लोप हो जाता है, पर हिन्दी में ऐसा नहीं होता । उसके साथ उसकी विभक्ति बनी रहती है । इसीलिए हिन्दी में विभिन्न शब्दों के सविभक्तिक रूप जो रूढ़ हो गये हैं, अव्यय की संज्ञा प्राप्त करते हैं । अव्यय का प्रयोग किसी न किसी रूप में प्राय: प्रत्येक भाषा में पाया जाता है ।

हिन्दी अव्ययों पर संस्कृत भाषा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । संस्कृत भाषा के कतिपय अव्यय शब्द—ऐ, ओ, हे, रे हिन्दी में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयुक्त होते हैं । पर हिन्दी के कुछ अपने अव्यय भी हैं जिसके स्थान पर संस्कृत के अव्यय शब्द प्रयुक्त नहीं हो सकते हैं । यथा भी, ही, जब, कब, तब, क्या, कुछ, ही आदि । इनके स्थान पर यदि हम अपि, एव, यद, कदा, तदा, किम, किंचित, आम आदि का प्रयोग हिन्दी में नहीं होता । संस्कृत में जिस अर्थ में अपि अथवा 'च' का प्रयोग होता है उसी अर्थ में हिन्दी में 'भी' तथा 'और' का प्रयोग होता है । संस्कृत के कतिपय

१. लघु सिद्धांत कौमुदी—अव्यय प्रकरण ।

शब्द ऐसे भी हैं जिनका मूल रूप तो हिन्दी में नहीं प्रचलित है पर उनके पर्यायवाची शब्द अवश्य प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत में सदा और साम्प्रतम् दोनों शब्द प्रचलित हैं पर हिन्दी में केवल सदा ही चलता है। स्पष्ट है कि हिन्दी और संस्कृत व्याकरण में बहुत कुछ साम्य होते हुए भी उसमें बहुत बड़ा अन्तर है।

साधारणतः अव्यय चार प्रकार के माने गए हैं- (१) क्रिया-विशेषण, (२) सम्बन्ध-सूचक, (३) समुच्चयबोधक और (४) विस्मयादिबोधक।

क्रिया विशेषण अव्यय

जिन अव्यय शब्दों द्वारा क्रिया की किसी प्रकार की कोई विशेषता ज्ञात होती है उन्हें क्रिया विशेषण अव्यय माना जाता है। इस प्रसंग में विशेषता शब्द से तात्पर्य यह है कि क्रिया विशेषण शब्दों को क्रिया के स्थान-काल, रीति अथवा परिमाण का बोध कराना चाहिए। यथा-यहां, वहां, ऊपर, नीचे, धीरे, जल्दी, तुरन्त, अभी, कभी कम, अधिक, बहुत आदि शब्द। कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जो क्रिया-विशेषण शब्दों की भी विशेषता का निर्देश करते हैं। ऐसे शब्दों को क्रिया-विशेषण ही माना जायगा। उदाहरणार्थ-'वह इतना तेज दौड़ा' में 'तेज' शब्द क्रिया-विशेषण अव्यय है पर 'इतना' शब्द तेज की विशेषता व्यक्त करता है। अस्तु यह भी क्रिया-विशेषण अव्यय माना जायगा। ऐसे शब्द प्रायः परिमाण वाचक क्रिया विशेषण होते हैं।

सम्बन्ध सूचक अव्यय

जो अव्यय शब्द किसी वाक्य में संज्ञा शब्द के समान प्रयुक्त होकर संबंध-स्थापन का कार्य करते हैं उन्हें सम्बन्ध सूचक अव्यय कहते हैं। उदाहरणार्थ "विश्वम्भर वाराणसी तक चला गया।" यहाँ पर 'तक' सम्बन्ध सूचक अव्यय है। इस प्रकार के सम्बन्ध सूचक शब्द प्रायः कम ही हैं। इस प्रसंग में यह भी दृष्टव्य है कि कतिपय कालवाचक एवं स्थानवाचक अव्यय जब क्रिया की विशेषता व्यक्त करते है तब वे क्रियाविशेषण अव्यय होते हैं, परन्तु जब उनका प्रयोग संज्ञा के साथ होता है तब वे सम्बन्ध सूचक अव्यय बन जाते हैं। उदाहरणार्थ-

१. रंजना यहाँ पढ़ती है।

२. रंजना अपने भाई शारदरंजन के यहाँ पढ़ती है।

ऊपर के इन दो उदाहरणों में 'यहाँ' शब्द प्रथम वाक्य में क्रियाविशेषण है और दूसरे वाक्य में सम्बन्ध सूचक है। वैयाकरणों ने इसके अनेक भेद किए हैं। यथा-काल वाचक, स्थान वाचक, दिशा वाचक, सादृश्य वाचक, तुलनावाचक आदि।

समुच्चय बोधक

जो अव्यय शब्द एक वाक्य का सम्बन्ध दूसरे वाक्य से व्यक्त करते हैं उन्हें समुच्चय बोधक अव्यय कहा जाता है। यथा-एवं और यदि, तो अथवा, या, किंवा

इसलिए क्योंकि शब्द समुच्चयसूचक हैं।

समुच्चयसूचक शब्दों को कई भागों में बाँट कर उनके भिन्न-भिन्न नाम निर्धारित कर दिए गए हैं। यथा—संयोजक, विरोध सूचक, परिणाम सूचक, संकेत वाचक आदि ये विभाजन उनके प्रयोग को दृष्टि में रखकर किए गए हैं।

विस्मयादि बोधक अव्यय

जो शब्द मानव-हृदय के हर्ष, शोक, विस्मय, घृणा आदि भावों को व्यक्त करते है उन्हें विस्मयादि बोधक अव्यय कहा जाता है। वैयाकरणों ने उसके भी अनेक भेद किए हैं। यथा—हर्ष बोधक, शोक बोधक, आश्चर्य बोधक, तिरस्कार बोधक एवं सम्बोधन बोधक।

प्रस्तुत प्रसंग में हमें अव्यय का इतिहास अथवा उसकी व्याख्या अभीष्ट नहीं है। इसीलिए उसका अत्यन्त संक्षिप्त रूप में परिचयात्मक विवरणमात्र दिया है। अव्यय भाषा का अंग है, अस्तु उनका संत-साहित्य में भी प्रयुक्त होना स्वाभाविक ही है। नीचे हम उन रूपों के देखने का प्रयत्न करेंगे, जो संत-साहित्य में अत्यधिक प्रचलित हैं—

कालवाचक—अव्यय

अबहीं : सब्द सरूप मिल्यो अबहीं।—कबीर सा० (शब्दावली २), पृ० ९०

आदि अंत मध आदि अंत मध मन ना होते पिरथी पवन न पानी।
—कबीर साहित्य (शब्दावली २), पृ० ३

अजहूं : अजहूं न संक मन मांहि अबको है। —सुन्दर विलास, पृ० १६

अब : अब कुछ समझ पड़ी अंतरगत। —क० सा० (श० २), पृ० २१

आज काल्ह परसों तरसों : आज गई अरु काल्ह गई परसों, तरसों कछु और ठई है।
—सुन्दर विलास, पृ० ३७

अंतहु : सुन्दर अंतहु मौन तज्यो। —सुन्दर विलास, पृष्ठ १६

कब : कब लखिहौं वन्दी छोर। —क० सा० (श० ३), पृष्ठ १९

कबे : सुवणहुं सोच कबे नहिं भावै।
—दादू० बानी (भाग २), ६—७

कबहूं : और हू उपाधि जाके कबहूं न देखियत।
—सुन्दर विलास पृष्ठ ४

काल्ह : काल्ह करै सो हालहिं कर ले। —क० सा० (श० २), पृष्ठ १८

छिन छिन, पल-पल : छिन छिन पल-पल सबहिं संवारे।
—क० सा० (शब्दावली २), पृष्ठ २७

जब लग : जब लग खोज चला जावै, तब लग नहिं हाथ मुछा आवै ।

—क० (रेखते), पृष्ठ ४७

जबहीं : जबहीं काल को डण्डा बाजै । —क० सा० (श० २), पृष्ठ १३

जुगन-जुगन : जुगन-जुगन तोहि सोवत बीता ।

—कबीर साहित्य (शब्दावली २), पृष्ठ २९

जल्दी : जल्दी डोलिया फंदाय मांगै अलमू ।

—कबीर साहित्य (शब्दावली २), पृष्ठ ८४

चंचल मन थिह राखु, जबै भल रंग है ।

—कबीर साहित्य (शब्दावली २), पृष्ठ ९७

झट : जा सुमिरे तेरो झट ह्वै काम । —क० सा० (श० २), पृ० २४

तबै : बेद कितेब तबै कछु नाहीं, नहीं पिंड ब्रह्मंडा ।

—कबीर साहित्य (शब्दावली २), पृष्ठ ३

तुरत : पुरवै तुरत विलंब कछु नाहीं । —क० सा० (श० २), पृष्ठ ११६

ततकाल उहै ततकाल रोइ, हाथ सैं घोरा लयो । —सु० वि०, पृष्ठ ३५

ततच्छन : कोउक आप लगावत चन्दन, कोउक डारत धूरि ततच्छन ।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० १३९

तबहीं ते : तबहीं ते सुख होय, जाति वरन जाके नहीं ।

—कबीर (अखरावती), पृष्ठ ९

तबलग : तब लग नेड़े दूरि है, जब लग मिलै न मोहि ।

—दादू० (बानी २), पृ० २

तौ लौं : जब लग श्रवण सुणीजै, तौलौं साध सबद सुण लीजै ।

—दादू० (बानी २), पृ० १२

दिन प्रति : तेरे दिन प्रति चरना दिखावना करि दया अन्तर आवना ।

—दादू० पृ० ९

निरन्तर : वेश न पच्छ निरन्तर लच्छ जु कौं, और नहीं कछु बाद बिवाई ।

—सुन्दर विलास, पृ० २

नित : परमानन्द नित बूझहीं दरबार हमारे ।

—दूलनदास, पृ० ४४

निस बासर : निस बासर रहूं लवलीना बिनु देखे नहिं विस्वासा ।

—घ० स०, पृ० १५५

पुनि : पूरन ब्रह्म प्रकाश कियो पुनि । —सुन्दर विलास, पृष्ठ २

पहिले : सुन्दर क्यों पहिले न संभारत । —सुन्दर विलास, पृष्ठ १६

फिर : फिर न मिलै यह साथा । —क० सा० (शब्दावली), पृष्ठ १८

बहुरि : कहत कबीर सुनो भई साधो, बहुरि न भवजल आवै ।

—कबीर (शब्दावली), पृष्ठ १०

बहुरि ऐसे हीं जाई रे । —धरनीदास० पृ० ४

हाल : काल करै सो हालहि करि लै । —क० (शब्दावली), पृ० १८

कालवाचक अव्यय का ही एक भेद अवधि वाचक अव्यय होता है । ऊपर के उदाहरणों में दिए गये शब्द जब लग, तबलग, तौ लौं, तत्काल, ततच्छन आदि शब्द-अवधि वाचक हैं ।

संयुक्त अव्यय

रैन दिन : नोबत घुरत है रैन दिन सुन्न में । —क०(रेखते), पृ० ४

निसिदिन : निसिदिन सुमिरौं एकै नाम । —क० (रेखते), पृ० २४

राति दिवसु : राति दिवसु जहं अनहद बाजै धुनि सुनि मंगल होइ ।

—क० (शब्दावली), पृ० ५

अहिनिसि : देखण दादू अहि निसि रोइ । —दादू० बानी, (भाग १), पृ० ८

निसि बासर : रसना रटत रहित निसि बासर, नैन लग्यो यहि ठौरी ।

—यारी०, पृष्ठ १

निसिदिन सांझ सकारे : पांच पचीसों के मद माते, निसि दिन सांझ सकारे ।

—दूलन०, पृ० १

निसि जामी : संपत जंपत है निसि जामी ।

—सुन्दर विलास, पृ० १६

दिन-दिन : इन मिलि मेरा मन जो बिगार्यो । दिन-दिन हरि सौं अंतर पार्यो ।

—रैदास (संतसुधासार), पृ० ९७

दिन-रैन : का सोवे दिन-रैन, बिरहिनी जागु रे ।

—धरमदास (संत सुधासार), पृ० १०८

स्थान वाचक अव्यय

अंतै–अन्यत्र : सन्मुख रहियौ मैं ठाढ़ी, अंतै नहिं जइबो हो ।

—धरनीदास०, पृष्ठ १

अनत : इहि औषध तैं साध सब, अनत उबारी देह ।

—वषना (संत सुधासार), पृष्ठ ३१६

आदि अंत परयन्त (पर्यन्त) : कहैं कबीर सुनो भइ साधो आदि अंत परयन्त ।

—कबीर (शब्दावली), पृष्ठ ९

इहां : कहै कबीर पुकारि कै इहां कोउ न अपनोर ।
—कबीर (शब्दावली), पृष्ठ १०

इत उत : इत उत तकना छोड़ि दै बटुवा ।
—कबीर (शब्दावली), पृष्ठ ३९

उहवां : अबकी उहवां जाव । —कबीर (शब्दावली) पृ० ३१

उंहाई : बहुरि उंहाई जाना । —धरनीदास पृ० २४

ऊपर : आसन ऊपर दृढ रहै, इत उत कूं नहिं जाय ।
—चरनदास की बानी, पृष्ठ २३

कहां : राम छांड़ि कहां राता है । —दादू० (भाग २), पृष्ठ १६

कहूं : औरन कूं प्रभु पेट दियो तुम, तेरो तो पेट कहूं नहिं दीसै ।
—सुन्दर वि० पृष्ठ ४५

जहं तहं : है अतीत बंधन ते छूटे, जहं इच्छा तहं जाइ हो ।
—कबीर (शब्दावली), पृष्ठ ९

जित : जित इन्द्रिय मनहू गया, रही कहां सू बुद्धि ।
—चरनदास की बानी, पृष्ठ १६

जहां : सक्स कमर ठाढ़े निवाज के, दरसै जहां खोदाई ।
—मलूकदास की बानी, पृष्ठ ४

जहंवा : जहंवा सुमिरन होय धन्य सो ठाय है ।
—मलूकदास की बानी, पृष्ठ ५

जहं जहं : जहं जहं जावौं तुम्हारी पूजा । तुम सा देव और नहिं दूजा ।
—रैदास (संत सुधासार), पृष्ठ ९

तहां : कबीर तहां बिलंबिया, करे अलख की सेव ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५

तहंवां : जहं देख्यो संतन की महिमा, तहवां खोलि भजैं हौं ।
—कबीर (रेखते) पृष्ठ १९

तिथै : तिथै खंड मंडल वरवंड, जे को कथै त अंत अंत ।
—नानक (संत सुधासार), पृष्ठ १५०

मद्ध : सोरह जोजन के मद्ध में चले छत्र की छाहीं रे ।
—कबीर (शब्दावली), पृष्ठ १०

मंझ : लै डूबै मंझधार । —चरनदास की बानी, पृष्ठ १४

हद बेहद : कहै कबीर सुनो भई साधो, हद तजि बेहद जाय ।
—कबीर (शब्दावली), पृष्ठ २२

ह्वाँ : रही सहित लिये अवतारा, घर ह्वां तक जहं माया ।

—चरनदास की बानी २, पृष्ठ ६

ह्वाँई : ह्वाँई मिलै ह्वाँई बिछुरै ताको झुरै बलाय ।

—चरनदास की बानी, पृ० ५१

दिशा वाची अव्यय

दिशा वाची अव्यय स्थान वाचक क्रिया विशेषण अव्यय का एक भेद होता है । इससे स्थान का बोध होने के साथ ही साथ दिशात्मक भाव की भी अभिव्यंजना होती है ।

इत उत : अरी बौरी इत उत भटकी क्यों फिरै री ।

—चरनदास की बानी, पृष्ठ १९

ओर : हेरो गुरुन की ओर हो । —कबीर (शब्दावली २), पृष्ठ १०२

कितहूँ : सुन्दर सों कितहूँ नहि दीसत ।

—सुन्दर विलास, पृष्ठ १२

कतहूँ : इत उत कतहूँ नाहीं धाव ।

—जगजीवन की बानी (भाग १), पृष्ठ ८९

चहुँदिसि : चहुँदिसि झल झल झलक निहारी ।

—चरनदास की बानी, पृष्ठ १७

जित : वह घर कैसा होय हेली जित के गये न बाहुरे ।

—चरनदास की बानी, पृष्ठ १४

दूरहि : दूरहि करता थापि कै, करी दूरि की मान ।

—कबीर साहित्य शब्दावली ३, पृष्ठ १०५

पार : कस जाइब औ घट के पार ।

—कबीर (शब्दावली २), पृष्ठ ११३

जित ही तित : मो सब भूलि परे जित ही तित ।

—सुन्दर विलास, पृष्ठ ३

स्थिति वाची अव्यय

स्थान वाची क्रिया विशेषण अव्यय का एक दूसरा भेद है स्थिति वाची अव्यय । इसके द्वारा स्थान का बोध होने के साथ ही साथ स्थिति का भी बोध होता है ।

आगे पीछे : आगे अरु पीछे की खबर का बावरे ।

—कबीर, (रेखते), पृष्ठ ११

अर्ध उर्ध : ओ अं सोहं **अर्ध उर्ध** नहिं, स्वासर लेख न कोहै ।
—कबीर शब्दावली ३, पृष्ठ २

अन्दर : मुरसिद मेरा दिल दरियायी दिल गहि **अन्दर** जोजा ।
—मलूकदास, पृष्ठ ४

आगे : झरि-झरि परत अंगार अधरपारी, चढ़ि-चढ़ि अकास **आगे** सरकी ।
—याही साहब, पृ० १

अन्तेर : बंकनाल के **अंतरे** तिरबेनी के तीर ।
—गरीबदास बानी, पृ० १७

ऊंचे : **ऊंचे** बैठि कचहरी न्याव चुकावते ।
—कबीर शब्दावली २, पृ० १०२

कतहूं : **कतहूं** रहे हो विदेस, हरि नहिं आये हो ।
— दादू०, भाग २, पृ० १७७

तर : और रही सुजमी **तर** गाड़ी । —सुन्दर विलास, पृ० ३८

दूरि : **दूरि** गवन सिर ऊपर मरना । —रैदास, संतसुधासार, पृ० ९१

नेरे : कहत मलूक रह्यो मोंहि घेरे अब माया के जाऊं **नेरे** ।
—मलूकदास पृ० १३

नियरे : **नियरे** राम न देखन पावै । — दादू०, भाग २, पृ० ६

नगीच : बहुत खूब ऐसा जो **नगीच** करि पाइये ।
—मलूकदास, बानी, पृ० २८

बीचबिच : चाम **बीच** मांस है मांस बीच हाड़ है ।
—कबीर, रेखते, पृ० १२

भीतर : खेलैं **भीतर** तन में । —कबीर शब्दावली, पृ० १९

मंझि : **मंझि** संमंदा नोवरी रे, बूड़े खेवट बाझ ।
—दादू० भाग २, पृ० ६

मधि : रज्जब आज्ञा अगिनि **मधि** । —रज्जब, पृ० ३४

मंझारा : राह धुनि शब्द **मंझारा** है । —कबीर, शब्दावली, पृ० ३९

सनमुख : सबै दिशा **सनमुख** रहै, सबै दिशा अंग ऐन ।
—दादू०, भाग २, पृष्ठ २४

सन्मुख साहिब**सन्मुख** होइ झकि चित लाइये ।
—कबीर, शब्दावली २, पृष्ठ ९९

रीतिवाचक अव्यय

अचानक : मारिहै काल चपेट **अचानक** । —सुन्दर विलास, पृष्ठ २५

अस : भक्त जनन अस साहिब मिलनो ।

—कबीर, शब्दावली २, पृष्ठ २३

इहिविधि : इहिविधि मुक्त भये सनकादिक ।

—रैदास संत सुधासार, पृष्ठ ९६

ऐसे : कहत कबीर सुनो भइ साधो, नाहक ऐसे जिये ।

—कबीर शब्दावली, पृष्ठ १

ऐसेहि : पुत्र प्रपुत्र बंध्यों परिवार सुं, ऐसेहि भाँति गए पन तीनों ।

—सुन्दर विलास, पृष्ठ १९

कैसे : सो फल कैसे पावै । —कबीर साहित्य, शब्दावली २, पृ० १०

कैसन : कैसन है वह देसवा ।

—कबीर साहित्य, शब्दावली २, पृ० ८८

क्यों करि : खालिक जागे जियरा सौं क्यों करि मेला होवे ।

—दादू० बानी, पृ० १७

जैसे : सुन्दर देह देखि मति भूलो जैसे तृन पर सीत ।

—कबीर साहित्य, शब्दावली २, पृ० ६

जस : तोरि दियो जस धागा ।

—कबीर साहब बानी, पृ० २३

जौनी विधि : जाइ रटहु तुम नाम अच्छर दुई, जौनी विधि रटि जाई ।

—दूलनदास० पृ० २

निहचय : तवहुं राम को नाम निहचै न आई ।

—धरनीदास की बानी, पृ० २३

बहुविधि : बहुविधि भोजन मानि रुचि लीजै, स्वाद सुमिर भ्रम पासि परीजै ।

—दादूदयाल की बानी, पृ० १०

भली विधि : तैं सब लोग भ्रमाय भली विधि ।

—सुन्दर विलास, पृ० १९

येहि विधि : येहि विधि सुन्दर साज कै सजनी, करल्यो सोरहो सिंगार हो ।

—कबीर शब्दावली २, पृ० १०८

यों : चिता बन्यो पूत को मोरे, दादू यों जन तरते ।

—दादू० भाग २, पृ० ८

सहज : सहज सजीवन कर लिया सांचे संगि लाया ।

—रज्जब संत सुधासार, पृ० ३०७

सहज : तेरो जो रिजक है आइहै सहज भति। सुन्दर विलास, पृ ४८

सब विधि : सब बिधि सुखी राम ज्यूँ राखें यहु रस रीति सुहाती।
—रज्जब (संतसुधासार), पृ० ३०७

सादृश्यवाचक

बराबर : जब दासी भइ खाक बराबर। —क० (शब्दावली २), पृ० २३

सम : कहा कि हम सम गुरु भी नहीं। —चरनदास०, पृ० ६०

जथा : जथा तरु पै परसती। —रज्जब, पृ० ७७

तुल्य : कोटि कसाई तुल्य है जो आतम मारै। —मलूकदास०, पृ० ८

जैसे : कुम्भक नीर उलटि भरो जैसे, सागर वुन्द समुद्र समाई।
—बारी०, पृ ३

जस : जस मुआं के बरो हरा जस बालू कै रेत। —धरमदास०, पृ० ८

सरिखा : अजब अनूप हार है, साईं सरिखा सोइ।
—दादू० बानी, (भाग १) पृ० ७७

संबंध वाचक

निज : परदा दूरि करै आंखिन को, निज दरसन दिखलावै।
—क० (शब्दावली २), पृ० १८

मद्धे : तामे अण्ड दियत ऐसे करि ज्यों जल मद्धे तारा।
—चरनदास०, पृ १६

सहित : बरन सहित जो जापै नामु। —रैदास (संत सुधासार), पृ० ८९

निज वाची, आप : आप तरै औरन को तारै। —क० (शब्दावली २), पृ० २३

आपही : परम पुरुष तहं आप ही अगम अगोचर माहि।
—क० (शब्दावली २), पृ० ११८

निज : निर्गुण निज निधि निरंजन जैसा है तैसा।
—दादू० बानी (भाग २), पृ० ४२

समुच्चय बोधक

और : सुक्ख करन और दुक्ख हरन तुम ऐसे मत के थोर।
—धरमदास की० श०, पृ० २२

औ : देव पितर औ राजा रानी, काहू से दीन न भाखो।
—मलूक० बानी, ८

अरु : दादू ये सब किसके पंथ में, धरती अरु असमान।
—दादू बानी० (भाग१), पृ० १४४

परिणाम बोधक

याहिते : याहिते बिचारि देख सुन्दर कहत तोहिं ।–सुन्दर विलास, पृ० १२
याहिंहिते : इंद्रिन के सुख मानत है सठ, याहिंहिते बहुते दुख आवें ।
–सु० वि०, पृ० १७

संकेतवाचक अव्यय

जोकहुं : जो कहुं आवै हाथ छांड़ि नहिं दीजिए ।–क० सा० स०, पृ० ९८
जो : सुन्दर कहत गुरु देव जो कृपालु होई । सु० वि०, पृ० ७
पै–यदि : पै होते इष्ट अलाहि दे । –रज्जब, पृ० ५७

परिमाण वाचक

इतना : इतना सुन काबल भये, जम सीस नवाई । –क० रेखते, पृ० १५
एती : रोम रोम रस पीजिए, एती रसना होय ।
–दादू० बानी (भाग १), पृ० ७१
कुच्छ : कोई कुच्छ कहै कोइ कुच्छ कहै । –क० सा० स०, पृ० २७
केता : केता ताणु सुआलिहु रूपु । केती दति जाणै कौणु कतु ।
–नानक सं० सु०, पृ० १३४
केते : केते राजा राज बईठे केते छत्र धरेंगे ।
–बषना सं० सु०, पृ० ३२०
सब : कर्म और मर्म संसार सब करत है । –कबीर रेखते, पृ० ५
सभ–सब : नानक एवै जाणीए सभु आपे सचिआरु ।
–नानक संतसुधासार, पृ० १२८
सकल : सकल भरपूर है नूर तेरा । –कबीर रेखते, पृ २३
सबहिं : सबहिं कटक सूरा नहीं कटक मांहि कोइ सूर ।
–दरिया मारवाड़, सं० सु० सार, पृ० ४२४

परिमाण वाचक अव्यय के दो भेद किए जा सकते हैं–एक आधिक्य बोधक और दूसरा न्यूनताबोधक । शब्दों के द्वारा ही दोनों के रूप स्पष्ट हैं । नीचे इनके उदाहरण दिए जाते हैं—

आधिक्यबोधक

अति ही : अति ही रूप अनूप । –धरनीदास, पृ० ५५
बहुविध : तन मन धन सब अर्पन करिहौं, बहु विध आरत साज ।
–क० सा० (शब्दावली २), पृ० ९६
बहुत प्रकार : बहुत प्रकार तीनों लोग सब सीधे हम । –सुन्दरविलास, पृ० ९

न्यूनताबोधक

कछु-कछु : कछु-कछु चेति देखि जीव अबहीं । मनिषा जनम न पावै कब हीं ।
—क० ग्रं०, पृ० २३३

कछुहि करत करत बंध कछुहि न जाने अंध । —सुन्दरविलास, पृ० २७

कछु : ताहि मंदिल का अंत नहीं कछु रबी बिहून किरिनि परगासा ।
—जगजीवन० संतसुधासार, पृ० ४०१

नेकु : नेकु नाहि बिलगाए । —धरनीदास, पृ० २५

नेक : अंत: करन तो नेक न पिछाने हैं । —सुन्दर ग्रंथावली, पृ० १४२

निषेधवाची अव्यय

नातर : नातर जाना देख तों जनम अमोलिक आदि ।
—रज्जब बानी, पृ० २

न : बेद न आहि कहूं को मानै जानि बूझि मैं भया अयानैं ।
—क० ग्रं, पृ० २३

नसी : दादू संगी तेरा कोई नसी किस केरा । —दादू की बानी, पृ० १७

बिन : बिन नैनहु देखि तहं जाई । —दादू की बानी, पृ० ३१

मत : निरखि मत भूलो तन गोरा । —क० सा० शब्दा०, पृ० ३१

सहचार वाची

संग : संग न कछु ले जाई । —क० सा० श० पृ० २१
स्वादहि संग विषै नहि छूटै, मन निहचल नहिं धरते ।
—दादू० २, पृ० ८

विस्मयादिबोधक अव्यय

वाह-वाह : वाह वाह ऊस मुरसिद के कदक को । —कबीर (रेखते) पृ० ३०

धिक् : धिक् जीवन दादू ये जिया । —दादू० बानी, (भाग २) पृ० १७

धृक : रज्जब मानुष देह धृक जेहि राम न जानिया । —रज्जब, पृ० ४

रे : एक अचम्भा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ।
—क० ग्रं० पृ० ९१

री : को बीनैं प्रेम लागी री, माई को बीनैं । —क० ग्रं० पृ० ९५

अरे : अरे ह्यां नहिं रहना, करना अन्त पयाना ।
—चरनदास बानी, पृ० ७३

समास

जब दो या दो से अधिक शब्द मिलकर एक पद के रूप में हो जाते हैं तब

उस पद की संज्ञा समास होती है ।[1] सामासिक पद बन जाने पर शब्दों के साथ संलग्न होने वाली विभक्तियाँ आदि हट जाती हैं । यथा–पूजा और अरचा, स्वांति का बूंद में क्रमशः 'और' तथा 'का' के हट जाने से पूजा-अरचा तथा स्वांति-बूंद सामासिक पद बनेंगे।

मुख्यतः समास चार प्रकार के होते हैं–(१) अव्यीभाव, (२) तत्पुरुष, (३) द्वन्द्व और (४) बहुव्रीहि ।

अव्ययीभाव समास में पूर्व पद प्रधान होता है और समस्त पद क्रिया विशेषण अव्यय होता है । तत्पुरुष समास में उत्तरपद प्रधान होता है । इसका प्रथम पद प्रायः संज्ञा अथवा विशेषण होता है । इस समास का विग्रह करने पर शब्दों के साथ कर्त्ता तथा सम्बोधन इन दो कारकों के अतिरिक्त शेष सभी कारकों की विभक्तियों का यथावश्यकता प्रयोग होता है । बहुव्रीहि समास में अन्यपद प्रधान होता है । द्वन्द्व समास में दोनों पद प्रधान होते हैं ।

इन चार समासों के अतिरिक्त दो समास और हैं–(१) कर्मधारय और (२) द्विगु । कर्मधारय समास तत्पुरुष समास का ही एक प्रकार है तथा द्विगु समास कर्मधारय का एक भेद है । इस प्रकार सामान्यतः छः प्रकार के समास प्रचलित हैं। इनमें से अधिकांशतः तत्पुरुष समास का ही प्रचलन है । इसके पश्चात् द्वन्द्व और बहुव्रीहि समास के प्रयोग देखे जाते हैं । कर्मधारय का प्रचलन भी अधिक नहीं है । अव्ययीभाव का प्रयोग प्रायः कम ही है ।

वैयाकरणों ने इन समासों के अनेकानेक भेद किए हैं । प्रस्तुत प्रसंग में हमारा अभिप्राय उन नाना भेदोपभेदों के आधार पर न तो समासों का विश्लेषण अथवा वर्गीकरण करना है और न हिन्दी तथा संस्कृति की समास प्रक्रिया पर विवेचन करते हुए उसके अन्तर को देखना है । विषय की दृष्टि से ऐसा करना उपयुक्त भी न होगा अतः यहाँ हम केवल इतना ही देखना चाहेंगे कि संतों की भाषा में सामासिक पदा-वली का प्रयोग भी यत्रतत्र पाया जाता है । निश्चय ही ये प्रयोग प्रसंगवशात अथवा संतों की स्वाभाविक भाषा-शैली के रूप में हो गये हैं । भाषा को सामासिक पदावली के सांचे में ढालकर लिखने की न तो उनकी प्रवृत्ति ही थी और न उसके लिए उनके पास इतना अवकाश ही था कि वे भाषा को गढ़ें । प्रकृत रूप में जो शब्द निकल सके वही उनकी भाषा का रूप है ।

संतों की भाषा में प्रयुक्त कतिपय सामासिक शब्दों के उदाहरण इस प्रकार हैं–

१. "तत्र समसन समासः स च विशेष संज्ञा विनिर्मुक्तः केवल समासः"–लघु-सिद्धांत कौमुदी, समास प्रकरण बहुत पदों का एक होना समास का अर्थ है । जिसका कोई विशेष नाम नहीं उसे केवल समास कहते हैं ।

अव्ययीभाव समास

जथाजोग : जथाजोग जस चाहिए, सो तैसे फल देइ।–दूल न० बा० पृ० २८

जथाविधि : दादू रे जन राम भणीजै, नहिं तो जथाविधि हार्यो रे।

–दादू० (भाग २), पृ० ११२

तत्काल : सोउ गयो ताजिके ततकाल कहै न बनै जु रही मुख मौना।

'सुन्दर ग्रं०, पृ० ४६१

तत्पुरुष समास

मायाजाल : कितने वैठे सिरदा करते, माया-जाल लपेटा।

–मलूकदास० बानी, पृ० १

गुरु-कृपा : पै गुरु-किरपा-दया बिनु सकल बुद्धि बहि जांहि।

–सहजोबाई०,पृ० ३

गुरुदिच्छा : कान लागि गुरु दिच्छा दीन्ही

जन्म जन्म को मोल लई –धरम० बानी पृ० १

प्रेम-पियाला : प्रेम-पियाला सुनि भरि पीवो, देखो उलटी वाट।

–यारी, (रत्ना) पृ० ५

भक्ति-पटी : सतगुरु साहु साध सौदागर, भक्ति पटी लिखवइये हो।

–धरम० बानी, पृ० ११

भव-जल : भव-जल बहता जात था, संसय मोह की बाढ़।

–दरिया (मारवाड़) बा०पृ०५

मानस-बासी : बगुला होइ न मानसबासी, बसै जे विषै तलाई।

–दूलन० बा० पृ० १४

स्वाति-बूंद : स्वाति बूंद के सनेही प्रगट जगत मांहि। –सुन्दर ग्रं० पृ० ७

द्वन्द्व-समास

दयाधरम : दया धरम ग्यान सेवा ए प्रभु सुपिने नाहीं।

–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५२

आवागमन : तार्थैं आवागमन होय फुनि-फुनि, तापर संग न चूरा।

–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५२

आसा-तृस्ना : आसा तृस्ना करे न थीर। –दूलनदास बानी, पृष्ठ ८

काम-क्रोध : काम-क्रोध जारि मारि तब लौं लगावै।–गुलालदास बानी, पृ० १२

गुरु-गोविन्द : गुरु गोविन्द तो एक है, दूजा यहु आकार।

–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३

निसि-बासर : कोउक कष्ट करैं निसिबासर लोउक बैठि के साधत पौन ।
–सुन्दरदास ग्रन्थावली, पृष्ठ ४१०

पूजा-अरचा : पूजा-अरचा न जानूं तेरी । कहि रैदास कवन गति मेरी ।।
–रैदास, संत सुधासार, पृष्ठ १४

फल-फूल : बिन तरवर फल फूल लगावै, सो तौ वाका चेला ।
–मलूकदास बानी, पृष्ठ २

द्विगु समास

कोटिक-औगुन : कोटिक औगुन जन करैं, प्रभु मनहिं न आनै ।
–मलूकदास बानी, पृष्ठ २

कोटि करम : कोटि करम पिले पलक मैं (जब) आया हरि की ओट ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६

पांच चोर : हरि ने पांच चोर दिए साथा । –सहजोबाई, पृष्ठ ३

पंच पदार्थ: पंच पदार्थ छोड़ि समाना, हीरै मोती जड़िया ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६०

षट-दरसन : षट दरसन से जाय न पारे । सब को काल गरासा ।
–गुलालदास, पृष्ठ २२

षट-रस : षट रस भोजन भगति करि, ज्यूं कदे न छाड़ैं पास ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०

षट-चक्र : षट चक्र कंवल बेधा, जारि उजारा कीन्हां ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५९

त्रिभुवन : त्रिभुवन करता राम जी, दास तुम्हार कहाइ ।
–दूलनदास बानी, पृष्ठ ३४

कर्मधारय-समास

अजपाजाप : ब्रह्म अगनि काया परजारी, अजपाजाप जनबनौं तारी ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५८

परिलोक : देस भला परिलोक बिरांनां, जन दोइ चारि नरे पूछौ साधु सयांनां ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६

भाव भगति : भाव भगति को चौका दीजै, भाव भगति की सेवा कीजै ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४२

मंगलाचार : मंगलाचार मांहि मन राखौं, राम रसांइण रसना चाखौं ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८७

लाल पलंग : लाल पलंग के लाल बिछौना, लालन लागि झलरिया हो ।
–धरनी दास की बानी, पृष्ठ १४२

बहुव्रीहि समास

निराकार-निर्गुन : निराकार आकार सब निर्गुन और गुनवंत ।

—सहजोबाई, पृष्ठ ४०

गुणातीत : गुणातीत जस निरगुण आप, भ्रम जेवड़ी जग कीयौ साप ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९८

निरंजन : राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०१

दिगम्बर : कोउक अंग विभूति लगावत कोउक होत विराट दिगम्बर ।

—सुन्दर०, पृष्ठ ४६०

सारंग पानी : कोटि विस्नु जाके अगवानी संख चक्र सत सारंगपानी ।

—दरिया मारवाड़

निहसंग : तूं तौ निहसंग निराकार अविनाशी अज दह तौ ।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५९२

जगपति : जीव न जाणै जगत कौ, तौ जगपति जाणै कौन ।

—रज्जब बानी, पृष्ठ १३७

अन्तरजामी : रहत निरंतर अंतरजामी सब घट सहज समाया ।

—धरनीदास की बानी, पृष्ठ २९

कृदंत

भाषा में शब्दों के दो रूप पाये जाते हैं–एक यौगिक और दूसरे रूढ़। यौगिक शब्द वे हैं जिनका अर्थ व्युत्पत्ति के द्वारा प्राप्त होता है । रूढ़ शब्द वे प्रचलित शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति का कुछ भी पता नहीं है और जो सदा से किसी विशेष अर्थ में प्रचलित हैं । संस्कृत के कुछ आचार्यों का यह मत है कि भाषा (संस्कृत) के सभी शब्द यौगिक हैं । कालान्तर में जब यौगिक शब्दों का व्युत्पत्तिजनक अर्थ विस्मृत हो गया और वे किसी अर्थ-विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगे, तब ऐसे शब्दों की संज्ञा रूढ़ हो गयी । इससे यह भी निष्कर्ष निकल सकता है कि किसी वैयाकरण द्वारा जब रूढ़ शब्दों की व्युत्पत्ति खोज निकाली जाय तो वे शब्द भी यौगिक रूप में आ सकते हैं ।

व्युत्पत्तिजनक अर्थ देने वाले यौगिक शब्द व्याकरण की दृष्टि से तीन प्रकार के माने गये हैं–(१) कृदंत, (२) तद्धित, (३) समास । प्रस्तुत प्रसंग में हम कृदंत पर विचार करेंगे ।

वैयाकरण पंडित कामता प्रसाद गुरु ने कृदंत की परिभाषा देते हुए लिखा है–"क्रिया के जिन रूपों का उपयोग दूसरे शब्दभेदों के समान होता है उन्हें कृदंत

कहते हैं ।"[1] आचार्य किशोरीदास वाजपेई ने कृदंत की परिभाषा इस प्रकार की है— "जिस संज्ञा या विशेषण आदि में किसी क्रिया (धातु) का अर्थ झलक मारता हो उसे कृदन्त शब्द कहते हैं ।"[2] इन दोनों परिभाषाओं में प्रकारान्तर से एक ही बात कही गई है । सामान्यतः कृदन्त शब्द वे संज्ञा या विशेषण शब्द हैं जो क्रिया में किसी प्रत्यय के लगने से बनते हैं ।

संत-साहित्य में कृदन्त शब्दों के प्रयोग प्राप्त होते हैं पर संतों ने कभी इन व्याकरणिक प्रयोगों को सामने रख कर भाषा का प्रयोग नहीं किया था । उनकी भाषा तो उनके सहज उद्गारों का ही परिणाम है । संत-साहित्य की भाषा में ऐसे कितने ही रूप मिलते हैं जिनकी व्याकरणिक संगति नहीं बैठती । कहीं-कहीं पर तो व्याकरण सम्बन्धी भद्दी अशुद्धियाँ भी पाई जाती हैं, पर वे सब नितान्त उपेक्षणीय इसीलिए हैं कि ये संत व्याकरण के पंडित न थे । ये तो भाव-प्रवण साधक थे । व्याकरण की दृष्टि से इनकी भाषा के सम्बन्ध में विचार करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । यहाँ पर हम केवल उन कृदन्त रूपों को देखने की चेष्टा करेंगे जो सामान्यतः अधिकांश संतों की बानियों में पाये जाते हैं ।

कृदन्त शब्दों के दो प्रमुख भेद हैं—एक विकारी और दूसरा अविकारी । विकारी कृदन्त संज्ञा के अथवा विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं । अविकारी कृदन्तों को अव्यय भी कहा जाता है । इनका प्रयोग प्रायः क्रियाविशेषण के रूप में होता है । इन दोनों कृदन्त रूपों के अवान्तर भेद भी होते हैं जो इस प्रकार हैं—

विकारी कृदन्त
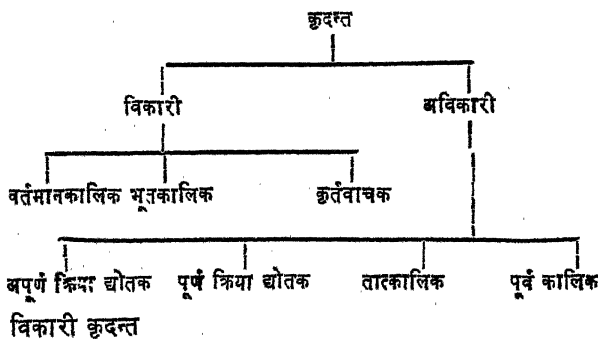
(१) वर्तमानकालिक कृदन्त—धातु के अन्त में 'ता' लगा देने से वर्तमानकालिक कृदन्त का रूप बनता है । यह प्रायः विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है और

१. कामताप्रसाद गुरु—'हिन्दी व्याकरण', पृष्ठ २७० ।
२. किशोरीदास बाजपेई—'हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ २६५ ।

अकारांत विशेषण की भांति इसका रूप परिवर्तित होता रहता है । यथा–

दादू रमता राम सौं, खेलै अंतर माहिं ।

–दादू बानी (भाग १), पृ० ७३

कबीर कहता जात हूं, सुणता है सब कोइ ।

–क० ग्रंथावली, पृ ४

ऊपर के इन उदाहरणों में रमता, कहता, शब्द वर्तमानकालिक कृदन्त है और ये विशेषण के समान प्रयुक्त हुए हैं । कभी-कभी वर्तमानकालिक कृदन्त का प्रयोग संज्ञा के रूप में भी होता है । यथा–

कहता कहि गया, सुनता सुंणि गया, करणीं कठिन अपारा ।

–क० ग्रं०, पृ १५६

ऊपर के उदाहरण में कहता, सुणता शब्द संज्ञा के रूप में हैं ।

(२) भूतकालिक कृदन्त–भूतकालिक कृदन्त दो प्रकार के होते हैं–कर्तृवाचक और कर्मवाचक । अकर्मक क्रिया से बनने वाला कृदन्त कर्तृवाचक होता है और सकर्मक क्रिया से बना हुआ कृदन्त कर्मवाचक होता है । इन दोनों प्रकार के कृदन्तों का प्रयोग विशेषण के रूप में होता है । इनमें प्राय: 'ओ', 'ई', अथवा 'हुआ', हुई', लगता है । यथा–

"मूवा मन हम जीवत देख्या जैसे मरहट भूत ।

—दादू० (भाग १), पृ० १११

दो की दाधी लकड़ी, ठाढ़ी करै पुकार । –क० ग्रं० पृ० ७३

कहै कबीर सुनो भाइ साधो, गया साध नहिं बहुरा ।

क० (शब्दावली ३) पृ० ३४

ऊपर के उद्धरणों में मुवा, दाधी, गया में 'आ' और 'ई' का प्रयोग है । इनका अर्थ होगा मरा हुआ, जला हुआ तथा गया हुआ ।

(३) कर्तृवाचक कृदन्त–जब क्रियार्थक संज्ञा के विकृत रूप के पश्चात् 'वाला', 'हारा' लग जाता है तब कर्तृवाचक संज्ञा का रूप बनता है । यथा 'रखवाला' सिरजनहार आदि । इस कृदन्त का प्रयोग प्राय: संज्ञा के समान ही होता है । कभी-कभी विशेषण रूप में भी इसका प्रयोग होता है । यथा—

रोवणहारे भी मुए, मुए जलावंणहार । –क० ग्रं० पृ० ७१

बिन रखवाले बाहिरा, चिड़ियें खाया खेत । क० ग्रं० पृ० २२

मन का मारग माहि घर, संगी सिरजनहार ।

–दादू (भाग १) पृ० ८९

ऊपर के इन उद्धरणों में हारे, हार, वाले का प्रयोग हुआ है । अतः ये कर्तृ-वाचक कृदन्तरूप हैं । 'इ' 'या' और 'इ' के प्रयोग द्वारा भी वाला या हारा का अर्थ लेते हैं । यथा–

नैनूं रमइया रमि रहा । –क० ग्रं० पृ० १९

मन अविनासी ह्वै रह्या साहिब सौं ल्यौ लाइ ।

–दादू० (भाग१) पृष्ठ ११४

रमइया–रमने वाला । अविनाशी–न नाश होने वाला ।

अविकारी (अव्यय) कृदन्त

(१)अपूर्ण क्रियाद्योतक–इस कृदन्त का प्रयोग क्रियाविशेषण के रूप में होता है, और शब्दांत में प्राय: 'ए' का रूप रहता है । जैसे बड़बड़ाते हुए ।

आजहि काल्हि करतड़ां, ओसर जासी चाल ।

–क० ग्रं०, पृ० ७२

(करतड़ां–करते या करते हुए । जपतड़ां–जपते या जपते हुए ।)

अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्तों के सम्बन्ध में यह भी देखा जाता है कि उनकी प्राय: द्विरुक्ति भी होती है । ऐसे प्रयोगों द्वारा नित्यता का बोध होता है । यथा–

(दादू) कहतां कहतां दिन गए, सुणतां सुणतां जाइ ।

–दादू० (भाग१) पृ० १११

हेरत-हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराय । क० ग्रं० पृ० १७

खोजत खोजत सतगुरु पाए । –बुल्ला साहब० पृ० ११

साधत साधत साध गए हैं, अमली होय सो खाई ।

–धरम० शब्दावली पृ० ५

कहतां-कहतां (कहते-कहते), हेरत-हेरत (हेरते-हेरते)

खोजत-खोजत (खोजते-खोजते) साधत-साधत (साधते-साधते) में द्विरुक्ति हुई है ।

विरोध व्यक्त करने के लिए अपूर्ण-क्रियाद्योतक कृदन्त के साथ 'भी' अव्यय का प्रयोग होता है । यथा–

साखी सब्दै गावत भूले, आतम खबर न जाना ।

–क० (शब्दावली) पृ० ४५

(गावत–गाते हुए भी)

(२) पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त–भूतकालिक कृदन्त विशेषण के अंत में प्रयुक्त होने वाले 'आ' को 'ए' में परिवर्तित कर देने से पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त का रूप

निष्पन्न होता है। यथा:—गया—गये, चला—चले, ढला—ढले आदि। इस कृदन्त के द्वारा प्रमुख क्रिया के साथ सम्पन्न होने वाले किसी कार्य की पूर्णता का परिज्ञान होता है। ये कृदन्त विकार-रहित रूप में रहते हैं और इनका प्रयोग क्रिया की विशेषता बताने के लिए होता है। यथा—

कबीर तृष्णा टोकणीं लीए फिरै सुभाइ। —क० ग्रं० पृ० ३५

ऊपर के इस उद्धरण में 'लिए' शब्द पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त का उदाहरण है। इससे मुख्य क्रिया व्यापार की पूर्णता का बोध होता है।

(३) **तात्कालिक कृदन्त**—तात्कालिक कृदन्त से किसी मुख्य क्रिया के साथ ही साथ होने वाली किसी घटना विशेष का ज्ञान होता है। अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त के अन्त में 'ही' को संलग्न कर देने से इस कृदन्त के रूप का निर्माण होता है। यथा—

सतगुरु सांच सूरिवां, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भ्वैं मिलि गया, पड्या कलेजे छेक।।

—क० ग्रं०, पृ० १

मंगल एक अनूप, संत जन गाइए।
उपजत (ही) आतम ज्ञान, प्रेम पद पाइये।

—धरमदास (शब्दावली), पृ० ४०

राम नाम जाण्यां नहीं, बात बिनंठी मूल।
हरत इहां ही हारिया, परति पड़ी मुख धूल।।

—क० ग्रं० पृ० २४

ऊपर के इन उद्धरणों में लागत ही, उपजत (ही), हरत (ही), परति (ही) शब्दों से मुख्य क्रिया की घटना के साथ ही दूसरी क्रिया के रूप-व्यापार का बोध होता है। अस्तु ये तात्कालिक कृदन्त माने जायेंगे।

(४) **पूर्वकालिक कृदन्त** : इस कृदन्त द्वारा मुख्य क्रिया से पहले घटित होने वाले व्यापार का बोध होता है। इसका प्रयोग प्रायः चार प्रकार से होता है—

(१) कार्य-कारण भावना, (२) रीति का बोध,
(३) द्वारा (४) विरोध की सूचना।

कार्य-कारण : कोटिन ब्रह्मा वेद पढ़ि-पढ़ि जनम गंवाई।—धरम० शब्द०, पृ० १०
अठसठ तीरथ भरमना, भटक मुआं संसार।

—गरीबदास० बानी, पृ० ३५

ऊपर के इन दोनों उद्धरणों में क्रमशः जन्म गंवाने का कारण केवल वेद का पढ़ना और संसार के मरने का कारण भटकना बताया है। अस्तु इन कृदन्तों में कार्य

करण-भावना पाई जाती है ।

रीति : गुरु के चरन प्रछालि तहाँ बठाइये । –कबीर शब्दावली, पृ० ३

काल कुल्हाड़ा हाथि लै, काटन लागा ढाइ ।

–दादू० बानी, (भाग १), पृ० २४

प्रछालि (प्रछालि करि), हाथि लै (हाथि में लेकर) इन दोनों शब्दों द्वारा रीति का बोध होता है ।

द्वारा : साचा साहिब सोधि कर, दादू भगति अगोध ।

–दादू० (भाग १), पृ० २४६

दरिया कांचे दूध का, बानो सो बन जाय ।

दूध फाटि कांजी भई, तहं गुन कहाँ समाय ।।

–दरिया० (मारवाड़), पृ० २७

'सोधने' क्रिया द्वारा भगति का अगोधन तथा 'फाटने' क्रिया द्वारा कांजी का होना व्यक्त हुआ है ।

विरोध : अमृत छाँड़ि हलाहल खाया । लाभ लाभ करि मूल गंवाया ।।

–कबीर ग्रंथावली, पृ० १८७

ऊपर के उद्धरण में अमृत और हलाहल ये दोनों विरोधी वस्तुएँ हैं ।

हिन्दी में जितने रूप कृदन्त शब्दों के मिलते हैं उनमें से अधिकांश वे हैं जो भाववाचक संज्ञा के अन्तर्गत आते हैं । शुद्ध धात्वर्थ ही भाव कहलाता है । इस भाव का न तो कोई काल होता है और न कोई पुरुष । विशुद्ध रूप से धात्वर्थ को प्रदान करने के कारण उसे भाववाचक संज्ञा के अन्तर्गत ग्रहण करते हैं । संत-साहित्य में ऐसे कृदन्त शब्दों का बहुलता से प्रयोग प्राप्त होता है जो भाववाचक संज्ञा के अन्त-र्गत आते हैं । यथा–

संगति : = (सम्+गम्+क्तिन) ।

साधु संगति मिलि राम न गायो । –रैदास०, पृ० २८

निरवाना : (निर्वाण) =निः+वन्+घञ् ।

कह कबीर धर्मदास से पावै पद निरबाना । –धरम० पृ० ६

पढ़िबा : कबीर पढ़िबा दूरि कर, पुस्तक देइ बहाइ ।

बावन आखर सोधि करि, ररै मर्मै चित लाइ ।।

–कबीर ग्रंथावली, पृ० ३८

कथणीं–करणीं : कथणीं कथी तौ क्या भया, जे करणीं नां ठहराइ ।

कालबूत के कोट ज्यूं, देषत ही ढहि जाइ ।।

–कबीर ग्रंथावली, पृ० १८

मरना-जीवन : निस्च मरना सहजिया, जीवन की नहिं आस ।

—सहजोबाई०, पृ० १९

तद्धित

सुबन्त (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, अव्यय) शब्दों से तद्धित प्रत्यय के योग द्वारा तद्धित शब्द बनते हैं। ये शब्द कभी एक रूप में नहीं रहते हैं। इनका रूपान्तर भी होता है और नये-नये प्रत्यय भी बनते रहते हैं। पुराने प्रत्ययों का प्रायः लोप भी हो जाता है।

तद्धित शब्द संज्ञा से विशेषण अथवा भाववाचक संज्ञा बनते हैं। कृदन्त में भी विशेषण और भाववाचक संज्ञा बनाने की प्रक्रिया पाई जाती है पर दोनों में अन्तर यह है कि क्रियापद में प्रत्यय जोड़ने से कृदन्त बनता है, किन्तु तद्धित बनाने में केवल सुबन्त में ही प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

सन्त-साहित्य में हिन्दी प्रत्ययों के योग से बनने वाले तद्धित शब्दों की एक बहुत बड़ी संख्या हो सकती है। पर यहाँ पर हम केवल कुछ ही तद्धित रूपों के उदाहरणों को देकर प्रबन्ध के विस्तार को बचाने का प्रयत्न करेंगे—

नैना रूप सरूप सनेही, नाद स्रवन लुबधाई ।[1]
भेदी होय सो भरि भरि पीवै ।[2]
ताहि चीन्ह हम भए बैरागी ।[3]
भगत न होय यह दगाबाजी ।[4]
तिरकुटी मध्य मन भंवर आवै ।[5]
विरह वियोगी मन कला ।[6]
बैरी घर मांहि तेरे जानत सनेही मेरे ।[7]
इक अभिमानी चातगा विचरत जगमाहीं ।[8]

१. धरनीदास जी की शब्दावली, पृ० ५
२. कबीर साहब की शब्दावली, भाग १, पृ० २१
३. वही भाग २, पृ० २१
४. कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी, रेखते, और झूलने, पृ० ८
५. वही, पृ० १७
६. दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० ३९
७. सुन्दरविलास, पृ० १३
८. रैदास जी की बानी, पृ० ५

आपैजोगी आपै भोगी आपै सर्व समान ।[1]
जन बुल्ला जेहि सहजहिं लागी, सो गुरु सब्द अनुरागी ।[2]
संत जन करत साहिबी तन में ।[3]
कामिनि सचि मान हीं ।[4]
उठिके चलो सुहागिनि ।[5]
रमैया की दुलहिन लूटल बजार ।[6]
बैरागिन ह्वावै ।[7]
आपन रूप जब चीन्हा बिरहिन तब पिय के मन मानी ।[8]
इस ठगनी से रहो हुसियार ।[9]
देखि जवानी फूला ।[10]
दरसन कारन बिरहिनी ।[11]
जौं दारा बिभिचारिनी मुख पतिबरत जिय आन ।[12]
तजो मद लोभ चतुराई ।[13]
सुन्न सहज में दोऊ त्यागे, राम न कहुं दुखदाई ।[14]
जौं पंडित तै करु पंडिताई ।[15]
भये थानेश्वरी दंभकारी ।[16]
आज्ञाकारी पीव की रहै पिया के संग ।[17]

१. बुल्ला साहब का शब्दसार, पृ० ३–१०
२. वही, पृ० ९
३. कबीर साहब की शब्दावली, भाग २ पृ० १९
४. वही, भाग २, पृ० ७
५. वही, पृ० ११
६. कबीर साहब की शब्दावली, पृ० २२
७. दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० ३१
८. धरमदास जी की शब्दावली, पृ० ३
९. कबीरदास जी की शब्दावली भाग ४, पृ० २२
१०. वही
११. दादूदयाल की बानी, भाग १ पृ० ३१
१२. रैदास जी की बानी, पृ० ३४
१३. कबीर साहब की शब्दावली, भाग २, पृ० ३१
१४. रैदास जी की बानी, पृ० ३
१५. बुल्ला साहब का शब्दसार, पृ० १४
१६. कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी, रेखता और झूलने, पृ० १०
१७. चरनदास की बानी, पृ० ३३

अग्र वस्तु इक मूल है सौंदागर ।[1]

काम बलवान तंह नाम कहं पाइए ।[2]

रतिवंती आरतिकरै ।[3]

संत कवियों की भाषा में अपनत्व अथवा लघुता सूचक शब्दों में उसके विकृत स्वरूप के दर्शन भी होते हैं, यथा--

समुझ मन मानि ले, जोगिया कहत संदेश ।[4]

काच माटी कै घइलिया मारि लै पनिहार घट ।[5]

कहत मलूका निर्गुन के गुन कोइ बड़भागी गावै ।[6]

मनूआ मारि करै नौ खंड ।[7]

कलुआ, कबरा, मोतिया, झबरा, बुचवा योंहि डिरवावै ।[8]

मैं निरगुनियां गुन नहिं जाना । एक धनी के हाथ विकाना ।।[9]

गोरिया गरब करहु जनि, अपने गोरे गात ।[10]

सासु ननद मिलि अचल चलाई, मंदरिया के गृह बैठा जाई ।[11]

कहहिं कबीर सुनो नर लोई । भुतवा के पूजले भुतवा होई ।[12]

जान पुरुषवा मोर अहार । अनजाने का करौ सिंगार ।[13]

ऊपर के उद्धरणों में रेखांकित शब्द प्रियत्व अथवा लघुता का वोध कराते हैं और संज्ञा शब्दों से इनके रूप निष्पन्न होने के कारण ये शब्द तद्धित माने जायेंगे ।

---

१. कबीर साहब की शब्दावली, भाग ३, पृ० ९
२. कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी, रेखते और झूलने' २३
३. दादूदयाल की बानी,भाग १, पृ० ३०
४. बुल्ला साहब का शब्दसार, पृ० ३
५. धरमदास की बानी, पृ०८
६. मलूकदास की बानी, पृ० १७
७. वही, पृ० १८
८. मलूकदास०, पृ० २५
९. धरनीदास जी की बानी, पृ० १९
१०. धरनीदास जी की बानी, पृ० ५४
११. कबीर बीजक, पृ० २२१
१२. वही, पृ० २३१
१३. वही, पृ० ३४२

७. संत-साहित्य में विभिन्न भाषाओं के शब्द एवं पद

संत-साहित्य में ब्रज-भाषा के शब्द

ब्रज-प्रदेश की भाषा का नाम ब्रज-भाषा है। सामान्यतः ब्रजप्रदेश को मथुरा जिला ही मानते हैं। इसी जिले में गोकुल और वृन्दावन नामक स्थान जो कृष्ण की पवित्र लीला-भूमि रहे हैं, आ जाते हैं। पर ब्रज-भाषा का प्रदेश इस जिले तक ही सीमित नहीं है। मथुरा के आस-पास भी इस बोली का प्रचलन है। वस्तुतः ब्रज-भाषा का क्षेत्र मथुरा, अलीगढ़, आगरा, भरतपुर, और धौलपुर नामक स्थान है। इन जिलों के पास-पड़ोस में भी ब्रज-भाषा के रूप पाये जाते हैं। बुन्देलखंड की भाषा पर भी ब्रजभाषा की छाप है। ब्रजभाषा का दूर-दूर के स्थानों तक प्रसरित होने का सबसे प्रमुख कारण धार्मिक है। कृष्ण-भक्ति से ओतप्रोत समुदाय के समुदाय उनकी लीला-भूमि 'ब्रज' में आकर पर्यटन करते थे, बसते थे। यही सम्पर्क ब्रजभाषा के विकास का कारण बना। वल्लभ सम्प्रदाय के स्थापित होते ही साहित्य में भी ब्रज-भाषा का प्रयोग होने लगा। डा० धीरेन्द्र वर्मा का कथन है कि "संवत् १५५६ बैशाख सुदी ३ आदित्यवार को गोबर्द्धन में श्रीनाथ जी के विशाल मन्दिर की नींव रक्खी गई थी। यही तिथि साहित्यिक ब्रजभाषा के शिलान्यास की भी तिथि मानी जा सकती है।"[1] किन्तु आधुनिक शोध-सामग्री के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि इसके पूर्व भी ब्रजभाषा का पुष्ट साहित्य विद्यमान था।[2]

इसके पूर्व कि संत-साहित्य में पाये जाने वाले ब्रजभाषा के शब्दों पर विवेचन किया जाय, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इसकी सामान्य विशेषताओं पर विचार कर लिया जाय। ब्रजभाषा में 'ओ' अथवा 'औ' संज्ञा तथा विशेषण शब्दों में संयुक्त होते हैं, यथा—'बिरानो'[3]। एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए 'न' का प्रयोग करते हैं। कर्ता कारक में 'मैं' और साथ ही 'हौं' का प्रयोग होता है। कर्म और सम्प्रदान कारक में 'को', 'कों', 'कौ', 'कौं', 'कू', 'कुं', पर सर्गों का प्रयोग

---

१. धीरेन्द्र वर्मा : ब्रजभाषा व्याकरण, पृ० ११

२. इस संबंध में 'सूर पूर्व ब्रजभाषा काव्य' नामक ग्रंथ दृष्टव्य है।

३. खेत बिरानो देख मृगा एक बन को रीझे।—धरमदास, संत सुधासार, पृ० १५१

होता है, सम्बन्ध के लिए 'को', 'कों', 'कोउ', 'के', 'कें', 'कई', 'कई'', 'हूं', 'की', कि, का प्रयोग होता है। इसी प्रकार करण और अपादान के लिए 'सों', 'सोउ', 'तें', 'ते', 'पै', 'पर' तथा अधिकरण के लिए 'में', 'मैं', 'मय', 'पर', 'पै', का प्रयोग किया जाता है।

सर्वनाम के लिए उत्तम पुरुष में 'हौं' का प्रयोग विशेष रूप से प्रचलित है। 'हो', 'हूं' भी प्रयुक्त हो जाते हैं। कर्म और सम्प्रदान में एक वचन में 'मोहिं', 'मोहि', तथा बहुवचन में 'हमहिं' और 'हमें' रूप चलते हैं। उत्तम पुरुष सम्बन्ध एक वचन में 'मेरो', 'मेरो', 'मेरी', 'मो' तथा बहुवचन में 'हमारो', 'हमारौ', शब्द अधिक प्रचलित हैं। इसी प्रकार मध्यम पुरुष एक वचन में 'तू', 'तै', 'तैं', 'तोहिं', 'तेहिं', 'तेरो', 'तेरौं', 'तव', 'तू', तथा बहुवचन में 'तुम', 'तुमहिं', 'तुम्हारो', 'तिहारो', 'तिहारे', 'तिहारी' रूप पाये जाते हैं। अन्यपुरुष सर्वनाम एक वचन में 'या', 'वा', के साथ ही 'वा—याही', 'वा, वाही', तथा बहुवचन में 'वे', 'वै', 'उन', 'विन्ने', 'इन्ने', 'इन्हैं' शब्द प्रयुक्त होते हैं।

संस्कृत 'अस्' धातु से बने हुए ब्रजभाषा में—वर्तमानकालिक क्रिया के रूप में 'हौं', 'होउ', 'होहुं', 'होय', 'होई', 'होइ'; भूतकाल पुल्लिग में 'हो', 'हौ', 'हुतो', 'हतो' (एक वचन) तथा 'हों', 'हुतीं' (बहु वचन) रूप पाये जाते हैं।

'भू' धातु से संबंधित रूप भूतकाल पुल्लिग में 'भयो', 'भयौं', 'भो', 'भव' [एक वचन] 'भये' [बहुवचन] स्त्रीलिंग 'भई' [एक वचन] तथा 'भई' [बहुवचन] रूप बनते हैं। भविष्यकाल के लिए एकवचन में है, हौं, 'होयगी', [उत्तम पुरुष] ह्वै है [मध्यम पुरुष] ह्वै हैं, होई हैं, 'होइ' हैं, 'होयगो', 'होयगी' [प्रथम पुरुष] तथा बहुवचन में ह्वै हैं, (उत्तमपुरुष), ह्वै हौ (मध्यम पुरुष) ह्वै हैं, होहुगे, होउगे', होंयगे प्रयोग होते हैं। सामान्यतः भविष्यतकाल बनाने के लिए वर्तमानकाल के रूप में 'गो' शब्द लगा देते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में हम आगे संत-साहित्य में पाये जाने वाले ब्रजभाषा के कतिपय शब्द देखने की चेष्टा करेंगे। ये शब्द सामान्यत: ऊपर वर्णित ब्रजभाषा की विशेषताओं के आधार पर होंगे। यहाँ पर हमारा उद्देश्य संत-साहित्य की भाषा के आधार पर न तो ब्रजभाषा का व्याकरणिक अध्ययन करना ही है और न संत-साहित्य में पाये जाने वाले समस्त ब्रजभाषा के रूपों को उपस्थित करना है। हमारा उद्देश्य केवल संत-साहित्य में पाये जाने वाले ब्रजभाषा के रूपों का संकेतात्मक परिचय पाना है जिससे हम यह जान सकें कि इस पर ब्रजभाषा का कहाँ तक प्रभाव पड़ा है।

सर्वनाम

उत्तमपुरुष

हौं : हौं रंग न राता रे रस प्रेम न माता रे, नहिं गल्लित गाता रे।

—दादू० संतसुधासार, पृ० २६६

हूं : तेरा पंथ निहारूं स्वामी। —क० ग्रं०, पृ० १६४

मोहिं : मोहिं राखा ठगवन घेरि हो। —मलूकदास की बानी, पृ० १२

मो : मो मन फटक हरी जस हीरा सनमुख सोई रंगा।

—रज्जब बानी, पृ० ३७९

मोर : मोर-तोर महं जर जग मारा।

—कबीर (रमैनी ८४,)

मेरौ : अरै माई मेरी राम बैरागी, तजि जनि जाई।

—दादूदयाल की बानी, भाग २, पृ० ९३

मेरी : मेरी मेटी दुनियाँ करते मोह मछर तन धरते।

—कबीर ग्रंथावली, पृ० १२०

हम : जब हम बनजी परमल कस्तूरी तब तुम काहे बनजी खारी।

—कबीर ग्रंथावली, पृ० १८७

मध्यम पुरुष

तोहि[1] : सभ मैं तैं तोहि मैं सूझै, जानु मरम कोइ संत।

—दरिया (बिहार), पृ० ३४

लाई कारनि मूल गमानै समझावत हौं तोहि।—क० ग्रं०, पृ० १९४

तूं[2] : तूं मेरो पुरिषा हौं तेरी नारी। —क० ग्रं०, पृ० १२९

तू साहब समरथ्य हम मल मुत्र कै कोरी। —मलूकदास, पृ० १

तेरो[3] : तेरो कपरा नहीं अनाज। —दरिया (बिहार) पृ० १४७

तोर : मोर-तोर मैं सबै बिगूता, जननी उदर गर्भ महँ सूता।

—कबीर (रमैनी ८४)

तैं : तिनकायरे यह ओजूद है सो तैं महल बनाया।

—सुन्दर ग्रन्थावली—२, पृ० ९२९

१. क० ग्रन्थावली, पृ० १०५

२. दादू (संतसुधासार), पृ० ३६८, क० ग्रं० १८६

३. दूलनदास की बानी, पृ० १५

अन्यपुरुष

यह : सुन्दर कहत यह सगरै प्रसिद्ध बात । —सुन्दर ग्रं० पृ० ३८८

वह : वह न मूवा जो बोलणहार । —क० ग्रं०, १०२

वा[1] : वा घर सब से न्यारा ।

या[2] : कहै कबीर या में झूठ नाहीं । छाड़ि जिय की बानी ।

—क० ग्रं०, पृ० ११४

इन[3] : इन द्रन्यूं फल पाइये रांमनांम सिद्धि जोग रे ।

—क० ग्रं०, पृ० ८९

वं : वं हैं मेरे प्रिय मैं हौं उनकी आधीन सदा ।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४१७

सम्बन्ध वाचक

ब्रजभाषा में सम्बन्ध वाचक सर्वनाम के रूप सामान्यत: एक वचन में 'जो', 'जा', 'जाहि', 'जिहि', 'जिहिं, 'जेहि', 'जासु' तथा बहु वचन में 'जे', 'जिन', 'जिन्हैं', 'जिन्हें', 'जिनहिं', होते हैं । संत साहित्य में प्रयुक्त इस प्रकार के कतिपय रूप नीचे दिए जाते हैं—

जिन[4] : जिन यह सुपिना फुर करि जाना और सबै दुखयादि न आंनां ।

—क० ग्रं०, २३१

जाहि : जाहि लगी सो जानही हो । —क० सा० ज्ञा० रे०, पृ० १४

जा : जा देखे घिन ऊपजै, नरक कुंड में बास ।

—रैदास (संत सुधासार), पृ० ९९

जे[5] : जे करनी का करैं भरोसा ते जम के घर जाहीं ।

—मलूकदास०, पृ० १६

जो : जो मांगे सो कछू न पावै बिन मांगे ही देता ।

—मलूकदास, पृ० १९

१. धनीदास की बानी, पृ० १४
२. मलूकदास की बानी, पृ० १३
३. मलूकदास की बानी, ३८
४. मलूकदास, पृ० ३४ रज्जब (संत सुधासार) पृ० ३०२
५. दादू (संत सुधासार), पृ० २७६

जिहि : दादू जिहि घटि दीपक राम का तिहिं घटि तिमिर न होई ।

—दादू (संत सुधासार), पृ० १८१

नित्य सम्बन्धी

इस सर्वनाम के व्रजभाषा में एक वचन में 'स', 'ता', 'ताहि', तथा बहु वचन में 'ते', 'से', 'तिन', 'तिन्है', रूप होते हैं। संत-साहित्य की भाषा में प्रयुक्त इस प्रकार के कतिपय रूप ये हैं—

सो[1] : चोवा चंदन अचरत अंगा । सो तन जरत काठ के संगा ।

—क० ग्रं०, पृ० १८८

सो दरु केहा, सो घरु केहा । जितु बहि सरब सभाले ।

—नानक (संत सुधासार), पृ० ५१

ता : ता सुख कौं वै का कीजै । —दरिया (मारवाड़), पृ० १२

ताहि : सुन्दर कहत ताहि काटिये जु कौन भांति,

जुतौ रूख आपनेई हाथ सौं लगाइये ।

—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ४७६

प्रश्नवाचक सर्वनाम

इस सर्वनाम के रूप व्रजभाषा में सामान्यतः 'कौन', 'को', 'का', 'काहिं', 'कौने', 'कहा', तथा 'काहे' होते हैं। संतो की भाषा में इनका यथास्थान प्रयोग पाया जाता है। उदाहरणार्थ—

कौन : कौन न मुक्तामनी हो, कौन नाम वे हंस ।

कौन नाम वे पुरुष हैं हो, कौन नाभ के अंस ।।

—धरमदास की शब्दावली, पृ० ३५

रागरू दोष करैं अब कौन सों जोइ है मूल सोई सब डारै ।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ३८६

कहा : पंच भतारी पुत्रि का कहा सुदामा दीन । —रज्जब बानी, पृ० २०७

को : को जीवत ही मरि जानै तौ पंच सयल सुख मानै ।

—क० ग्रं०, पृ० १८४

काहे : काहे न अपनी बाट सँवारै, संजमि रहना सुमिरण करना ।।

—दादू० (भाग २), पृ० ११८

आयहु कौल की भूलेहु सुख मां, काहे भयहु हैवान ।

—जगजीवन साहेब की बानी, पृ० ३६

1. मलूकदास०, पृ० ३४, धरमदास पृ०, १०३

काहि : काहि प्रेम प्रीति बेधी अंतर गति कहूं काहि को मानै ।

—क० ग्रं०, पृ० १९५

का : का तकसीर भई धौं मोहि तें, डारे मोर पिय सुधि बिसराई ।

—जगजीवन साहेब की बानी, पृ० ७

का लै पान खियाऊँ, तो तिनका तोरही ।

धरमदास की शब्दावली, पृष्ठ ३९

अनिश्चयवाचक सर्वनाम

व्रजभाषा में अनिश्चयवाचक सर्वनाम के चिह्न प्राय: 'कोउ', 'काहू', 'कोई', 'कछु', 'कछुक', 'एक', 'एकनि', 'और', आदि होते हैं । संत-साहित्य में प्रयुक्त इस प्रकार के कतिपय शब्द ये हैं—

कोई : कोई न पावै पार । —गरीबदास पृ० ९०

कछु : कछु न कहावै आपको, काहू संगि न जाइ ।

—दादू० (संत सुधासार), पृ० २९२

कोउ : कोउ अन्न पात पुनि आमिष भेषत कोउ ।

कोउ घास चरत चरत कोउ दार कौं ।

—सुन्दर ग्रंथावली, पृ० ४२९

और—औरन : औगुण ढांकै और कै, अपणे औगुण नाहि ।

—रज्जब बानी, पृ० २००

आप तरैं औरन कों तारैं । —रैदास (संत सुधासार), पृ० २

आदरवाचक सर्वनाम

व्रजभाषा में आदरात्मक भाव को व्यक्त करने के लिए 'आप', 'आपु,' 'आपुन' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं । संत-साहित्य में भी इनका यथास्थान प्रयोग हुआ है । यथा—

आपु : आपु में आपु मकान अपाना । —दरिया (बिहार), पृ० ३२

आप : आप तरैं औरन को तारे । —रैदास (सं० सु०), पृ० ९७

आपन : दरसन देहु पर खोलि कै आपन करि लीजै हो ।

धरमदास (सं० सु०), पृ० १०५

प्रकारवाचक सर्वनाम

प्रकारवाचक सर्वनाम के चिह्न व्रजभाषा में 'ऐसो', 'ऐसे,' 'ऐसी', 'तैसो', 'कैसे,' 'कैसो,' पाये जाते हैं । संत-साहित्य की भाषा में भी इनका प्रयोग हुआ है । उदाहरणार्थ—

ऐसो : ऐसो अलख अनंत अपापा, तीन लोक जाकौ बिस्तारा ।

—दादूदयाल की बानी (भाग २) पृ० १६७

एसे : तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा ।
—क० ग्रं० पृ० २२१

ऐसी : एसी तो कठोरता नहिं देखी जाय जग। —सुन्दर विलास, पृ० ८३

तैसो : जाघट की उनहार है जैसिहि, ताघट चेतन तैसो हि दीसै ।
—सुन्दर विलास, पृ० ९३

कैसे : बिन ही पढ़े तें कैसे आवत है फारसी ।
—सुन्दर ग्रन्थावली (भाग २), पृ० ३८९

भर थर भरम्या दूब भखि कहु सुन्नति कैसे चली ।
—रज्जब बानी, पृ० ५०६

परिमाणवाचक सर्वनाम

परिमाण को व्यक्त करने वाले शब्द ब्रजभाषा में 'इती', 'केतो', 'केती', आदि प्रयुक्त हुए हैं। संत-साहित्य में प्रयुक्त कुछ रूप देखिये ।

केते : केते पारिख जौहरी पंडित ग्याता ध्यान ।
—दादू० (सं० सु०), पृ० २८२

केती : केती बार धुलाइये, देदे करड़ा धोय ।
—धरमदास० (सं० सु०), पृ० २८१

संख्यावाचक सर्वनाम

ब्रजभाषा के कतिपय संख्यावाचक शब्द जो संत-साहित्य में भी प्रयुक्त हुए हैं इस प्रकार हैं :—

एती : रोम-रोम रस पीजिए एती रसना होइ ।

ऐते, कीते : ऐते कीते होरि करेहि ता आखि न सकहि कोई केइ ।
—नानक (सं० सु०), पृ० १४१

निजवाचक सर्वनाम

ब्रजभाषा में निजवाचक सर्वनाम के लिए आप, आपु, आपन, आपनो, आपने, आपत्ति, अपनो, अपने, आपनि, अपनी, अपनौं आदि शब्द आते हैं। संत-साहित्य में इनमें से निम्नांकित शब्द अधिकांश रूप में प्रयुक्त हुए हैं—

आपुने : आप आपुने अहंकार मैं पातिसाह कहा पाजी ।
—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० १९१

आपने : कहैं मलूक जन आपने कौन निवाजा ।
—मलूक (सं० सु०) पृ० ८

आप सुवारथ मेदनी, भगत सुवारथ दास ।
—कबीर, (सूरातन कौ अंग ४१)

आप : आप तरैं औरन कों तारैं । —रैदास (सं० सु० सा०), पृ० ९७

आपन : फिरि चलु आपन देम यही भल रंग रे ।
—धरमदास (सं० सु०) पृ० १०९

आपु : आपु में आपु देखि मिलि रहहू । —दरिया (विहार), पृ० २४

आपनो : जाहि परो दुख आपनो सो जानै पर पीर । —धरनीदास पृ० १७

अपनि : छाया नाहीं अपनि देखो अवर के कहु मीर । -धरनीदास, पृ० २९

विभक्तियाँ

कर्ता : कर्ता कारक की विभक्ति 'ने' है । कर्तृवाचक वाक्यों में यह विभक्ति नहीं लगती है । यथा राम आयो, वह गयो । परन्तु कर्मणि प्रयोग में 'ने' विभक्ति पाई जाती है । यथा 'उन्ने मारौ', 'वाने कही' ,'इन्ने करो' आदि । संत-साहित्य में यह 'ने' चिह्न प्रायः नहीं मिलता है ।

कर्म-(कूं) उलटि स्यल सिंघ कूं खाय तब यहु फूलै सब बनराइ ।
—क० ग्रं०

कौं : ताहि पुरिष कौं लख्यो न कोई । --दादू० बानी०, पृ० १७२

को : रिदै रामु को न जपसि अभागा ।—रैदास, संत० सुधासार, पृ० ८

करण-सूं : माया मोह ममता सूं बाँध्यो बूड़ि मर्यो बिन पानी ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ० १९३

सौं : होरी खुलि खेलो प्रभु सौं प्रीति लगाई । —गुलाल०, पृ० १११
जब मन मिल्यो राम सागर सौं, तब यह मिटी पुकारा ।
—रैदास, पृष्ठ ९३

तै : यहु संसार सकल है मैला, राम कहैं ते सूचा । —क० ग्रं०

तें : पोषि प्रेम प्रतीत तें कहि राम नाम पढ़ाउ । —दूलनदास०, पृ० ३

सम्प्रदान-कूं इहिकलि हम मरणै कूं आए । —दादू० बानी २, पृ० ९६

कौं : दोइ कहै तिनहू कौं दो जग जिन नाहिन पहिचाना ।
—क० ग्रं०, पृ० ३४

को : एक जगदीस को सीस अरपै नहीं ।
पाँच पच्चीस बहु बात ठानो ।। —धरमदासजी की बानी पृ० ३१

अपादान-तें : उत तें कोउ न आवई, कासूं पूंछूं धाई ।
इय तें सब ही जात हैं, भार लदाइ लदाई ।। —क० ग्रं०, पृ०

ते : राम हृदै ते गये जन सुन्दर एक रती बिन एक रती को ।
—सुन्दर ग्रन्थावली, (भाग २), पृ० ४७५

सम्बन्ध-के-कं जो पै पिय के मनि नहिं भाये, तौ का परोसिन कैं हुलराये ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३२

की : अह निसि मन लैं उनमन रहै, गम की छांड़ि अग की कहै ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६

पूरे की पूरी दृष्टि पूरा करि देखे ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४९

कौं : राव रक सब राजा रावां सबहिन कौं बौरावै ।
—दादू०, पृ० ९५

के : मनु माया के हाथि बिकानउं । —रैदास, पृ० ९२

हम सब मुत्र के कीरी । —मलूकदास, पृष्ठ १

अधिकरण-मैं जल मैं रहौं जलहि बिन मीना । —सं० सु०, पृष्ठ ३६

में : लोक वेद कुल की मरजादा, इहै गले में पासी ।
—संत सुधासार, पृ० ३७

जा देखे घिन ऊपजै, नरक कुण्ड मैं बास ।
—धनी धरमदास, पृ० ९९

पर : इतनी दया हम पर करौ, निज छवि दरसावौ ।
—वही, पृ० १०६

क्रिया

भूतकाल

हुतो : बोतल हुतो सो यह छिन में कहां गयो । —सु० विलास, पृष्ठ ३५

हुती : मछरी अग्नि मांहि सुख पायी जल में हुती बहुत बेहाल ।

हते : लच्छन सभी हते वा माहीं । —चरनदास की बानी २, पृष्ठ ६०

हुता : इन्दु नाम इष्ट ब्राह्मन हुता । —चरनदास की बानी, पृ० ६६

होतो : होतो कहां औ कहा कहि आयो । —धरनीदास, पृष्ठ ३३

हुते : सम्वत सत्रह साठ हुते तब शुभ समयो सब पाये ।
—सहजोबाई, पृष्ठ ५०

हुतौ : जा दिन गर्भ हुतौ अंधे मुख, रक्त पीत लपटायो रे ।
—सुन्दर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९०९

होते : पहिली हम होते छोकरा । —सुन्दर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९१४

भयो : उपज्यो सुख सनमुख तिपित भयो । —गुलाल की बानी, पृष्ठ ३२

वर्तमान काल

झलकैं : झलकैं निज नूर जहूर सद, निभै निरधार अपार कला ।
—गरीबदास, पृ० १०४

लाइ : हिरदा भीतर हरि बसै तं ताही सौं ल्यौ लाइ ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४४

हूजिये : इक ने कही हूजिये भूपा । —चरनदास की बानी, भाग २, पृ० ३६

हौं : हौं बंदा तिहारो । —धरनीदास, पृ० ७
हौं खेलत फाग सुहावन । —बुल्ला० पृष्ठ १९

होइ : सो क्यों ज्ञानी होइ । —दादू०, भाग १, पृष्ठ ६१

उरझानो : जानत हौं अजहूं नहिं आये काहू सों उरझानो री ।
—सुन्दर ग्रन्थावली, २, पृष्ठ १०८

होई : वाकी गती कहा कोइ जानै जो जिय सांचा होई ।
—गुलाल सा० बानी०, ३३

गावहिं : सुरति निरति लै सखि सब गावहिं ।
—गुलाल बानी, पृष्ठ ३४

भविष्यत काल

बिहायंगे : जानत हमारे दिन ऐसहिं बिहायंगे । —मलूकदास, पृष्ठ ११

पइहौं : जो पइहौं मुलुकाई । —धरनीदास०, पृष्ठ ४

खेलोंगी : मैं तो खेलोंगी प्रभु जी से होरी ।
—गुलाल० बानी, पृ० १०५

कातौंगी : कातौंगी हजरी का सूत नणद के भइया की सौं ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९२

लेहुगे : जियरा यौंही लेहुगे विरह तपाइ तपाई ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८

मिलावहिंगे : पृथी का गुण पांणी सोष्या, पानी तेज मिलावहिंगे ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३६

लागैगी : या बनास्पती मैं लागैगी आगि, तब तुम जैहौ कहां भागि ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ २१७

पछिताहुगे : नर पछिताहुगे अंधा । —कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२१

जोड़ोंगी : जोड़ोंगी रे जोड़ोगी हरि से प्रीति न तोड़ोंगी ।
—बखना, (संत सुधासार), पृ० ३२०

संत-साहित्य में पाये जाने वाले ब्रजभाषा के पूर्वकालिक कृदंतों के कतिपय रूप इस प्रकार हैं :—

के : स्याही रंग छुड़ाइ के रे दियो मंजीठा रंग ।

—सं० बा०, सं०, पृ० २

लखाय : सतगुरु सत्य स लखाय । —गुलाल बानी, पृ० ३६

संत-साहित्य में अवधी भाषा के शब्द

अवध प्रदेश की भाषा का नाम अवधी है । अवध शब्द का सम्बन्ध ऐतिहासिक नगरी अयोध्या से है । अयोध्या भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के अति प्राचीन काल से ही हिन्दू जाति का धार्मिक क्षेत्र रहा है । मुसलमानों के शासन काल में भी इस नगर का विशेष महत्व था । महात्मा तुलसीदास ने अपने ग्रन्थ रामचरित मानस में अनेक स्थानों में अयोध्या के लिए 'अवध' शब्द का प्रयोग किया है ।[1] इस भाषा का क्षेत्र केवल अवध प्रदेश तक ही सीमित नहीं है, अपितु फतेहपुर, इलाहाबाद, जौनपुर, मिर्जापुर तथा आगरा के समीपस्थ स्थानों में भी इसका प्रयोग पाया जाता है, पर अवध प्रदेश इसका गढ़ है । अवधी को बैसवाड़ी भाषा नाम से भी जाना जाता है । बैसवाड़ी का क्षेत्र उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली, फतेहपुर तथा इसके आस-पास के स्थान हैं । ऐसी भी धारणा है कि अवधी का ठेठ रूप बैसवाड़ी में ही उपलब्ध होता है ।

अवधी प्रदेश के उत्तर में नैपाली भाषा का क्षेत्र है । दक्षिण में छत्तीसगढ़ी, पश्चिम में कन्नौजी तथा बुन्देली और पूर्व में बिहारी की बोली भोजपुरी का क्षेत्र है । उत्तर दिशा को छोड़कर शेष अन्य तीनों दिशाओं में अवधी दूर-दूर तक अपना प्रभाव रखती हैं और तत्-तत् स्थानों की प्रादेशिक बोलियों को प्रभावित करती है । अवधी भाषा के लिए पूर्वी शब्द का प्रयोग उसे पश्चिमी हिन्दी से पृथक करने के लिए किया जाता है । इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि सामान्यत: पूर्वी हिन्दी से तात्पर्य भोजपुरी भाषा से होता है । वस्तुत: अवधी पश्चिमी हिन्दी और बिहारी की मध्य की भाषा है ।

संत-साहित्य में अवधी भाषा का प्रयोग अपेक्षाकृत विशेष रूप से पाया जाता है । संतजन इस प्रदेश में इधर-उधर रमण करते हुए फिरते रहे । निरन्तर सम्पर्क के कारण इस प्रदेश की भाषा से उनका सम्बन्ध स्थापित हुआ । वैसे भी इस प्रदेश की भाषा अवधी का प्रसार एवं प्रचार अपने क्षेत्र से हट कर भी इधर-उधर दूर-दूर तक था । अस्तु लोक-जीवन में रमण करने के कारण संत-जनों की वाणी में अवधी शब्द आ बिराजते रहे हों, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

---

१. अवधपुरी रघुकुल मनि राऊ । बेदबिदित तेहि दसरथ नाऊ ।। —बालकाण्ड
रिधि सिधि संपति नदी सुहाई । उमगि अवध अंबुधि कहँ आई ।। —अयोध्या०

इसके पूर्व कि हम संत-साहित्य में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को देखें, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि अवधी भाषा की कतिपय समान्य विशेषताओं की विवेचना कर लें।

अवधी भाषा के व्यंजनान्त शब्दों में प्राय: 'उ' संयुक्त करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यथा–

फलु लागा तौ फूल बिल्हाइ। –रैदास, (संत सुधासार), पृष्ठ ८९
तनु मनु देह न सुनै अन्तर राखैं। –रैदास " पृष्ठ ९०
असंख मलेछ मलु भखि खाहि। –नानक सं० सु० पृष्ठ १३५
तारे के तेज तें तारेहु दीसत, बीजुल तेज तें बीजु प्रकासें।
–सुन्दर विलास, पृष्ठ १५९
निसिबासुरि मोहि चितवत जाई। –क० ग्रं०, पृष्ठ १८५
जन रज्जब जगदीस भजि, यहु औसर भी नाहि।
–रज्जब बानी, पृष्ठ १७०
सेवा बंदन आरती, यहु लाहा लीजै।
–दादू० बानी, भाग २, पृष्ठ ८५
कहत कबीर यहु दुख कासन कहिए।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८५

कर्ता कारक का चिह्न यद्यपि 'ने' है पर अवधी भाषा में 'ने' के स्थान पर 'हि' शब्द सर्वत्र विद्यमान रहता है। कर्म तथा सम्प्रदान कारकों में 'को' अथवा 'कौ' आता है और बिहारी में 'के' का प्रयोग होता है, पर अवधी में 'क' अथवा 'के' का ही प्रयोग होता है। अधिकरण कारक में अवधी भाषा में 'महँ' प्रयुक्त होता है, पर पश्चिमी हिन्दी तथा बिहारी में 'में' का प्रयोग होता है।

सामान्यत: समस्त संज्ञाओं के साथ विभक्तियों का निम्नलिखित स्वरूप देखने को मिलता है–

(आकारांत शब्दों में)

कर्ता—ने।
कर्म—के, कौं, कहँ।
करण—से, सन, सौं।
सम्प्रदान—के, कौं, कहँ।
अपादान—से तें, सेंती, हुँत।
सम्बन्ध—कर (क), केर, के (स्त्री)।
अधिकरण—में, मां, मंह, पर।

पुरुष वाचक सर्वनाम के सम्बन्ध कारक में 'तोर', 'मोर' का प्रयोग होता है। पश्चिमी हिन्दी में 'तेरा', 'मेरा' प्रयोग करते हैं। सामान्यत: सम्बन्ध के लिए 'क', 'केर' तथा 'कर' शब्दों का प्रयोग करते हैं। 'हमार' के लिए अवधी में 'हमरे' प्रयोग करेंगे।

बिहारी में जिस अर्थ में 'जे' और 'के' का प्रयोग होता है उसी अर्थ में अवधी में 'जो' और 'को' का प्रयोग होता है। प्रश्नवाचक शब्द 'कौन' के लिए पुल्लिग में 'कवन' तथा स्त्रीलिंग में 'कवनि' एवं 'कवनिउ' प्रयुक्त होता है।

पश्चिमी हिन्दी में सहायक क्रिया 'है' प्रयुक्त होती है, पर अवधी में 'अहै' रूप चलता है।

युगपदीय शब्दों में 'जो' के साथ 'सो' और 'जेहि' के साथ 'तेहि' प्रयुक्त होता है। अवधी भाषा में शब्दों के सम्प्रसारित रूप प्राय: पाये जाते हैं। जैसे :— 'द्वार' के स्थान पर 'दुआर'।

अवधी भाषा में 'इ' अथवा 'ए' (य) का 'उ' कर दिया जाता है। यथा:— खाइ—'खाउ', जाय—'जाउ'।

सर्वनाम 'तुम' (मध्यम पुरुष) का 'तुम्ह सो' (अन्य पुरुष) का बहुबचन रूप 'ते' हो जाता है।

सामान्यत: 'जो' का बहुवचनान्त रूप 'जे' होता है। पर इसमें 'हि' संयुक्त होकर 'जेहि' (एकवचन) रूप बनता है।

खड़ी बोली का 'भला', 'बुरा' शब्द ब्रजभाषा में 'भलो बुरो' बनता है। पर अवधी में 'भला' के लिए 'भल' और 'बुरा' के लिए 'पोच' शब्द बनाता है। खड़ी बोली का सार्वनामिक विशेषण शब्द 'ऐसा' अवधी में 'अस' बन जाता है। अवधी भाषा के विशेषण शब्दों का लिंग विशेष्य के अनुसार बदलता रहता है। यथा :— आपन—आपनि।

'है' क्रिया के लिए अवधी में 'आहि', 'अहहिं', 'अहै' रूप प्रयुक्त होते हैं। भूतकाल में एकवचन में 'अहा' अथवा 'हता' तथा बहुवचन में 'हुते' प्रयोग करते हैं। किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के अर्थ के लिए 'आव' का प्रयोग होता है। यही 'आव' भूतकाल में 'आवा' अथवा 'आयउ' बनता है। भविष्यकाल के लिए 'आवहि' तथा 'आवै' प्रयुक्त होते हैं।

'कर', 'दे' तथा 'ले' आदि क्रिया रूप भूतकाल में 'कीन्ह', 'दीन्ह' तथा 'लीन्ह', कीन्हेनि', 'लीन्हेनि' तथा 'दीन्हेंनि', और 'किहिसि', 'दिहिसि', 'लिहिसि' रूप बनेंगे। वर्तमानकाल में 'करहि', 'देहि' तथा 'लेहि' शब्द प्रयुक्त होंगे। भविष्य-काल में 'करब', 'देब', 'लेब' रूप बनेंगे। यही धातु शब्द रूप आज्ञार्थ प्रयोग में 'करहु', 'देहु', 'लेहु' शब्दों में परिवर्तित होते हैं।

पूर्वकालिक क्रिया में अवधी भाषा के अन्तर्गत 'इ' का प्रयोग चलता है। जैसे–'पढ़ि'-पढ़कर, 'रखि'-रखकर, 'चलि'-चलकर।

पूर्वी अवधी और पश्चिमी अवधी के क्रिया पदों में थोड़ा-सा अन्तर है। पश्चिमी अवधी व्रजभाषा के अधिक समीप है इसीलिए उसमें व्रजभाषा के समान क्रिया का नांतरूप पाया जाता है। पूर्वी अवधी में क्रिया के अन्त में 'ब' प्रत्यय लगाया जाता है। जैसे :–

पश्चिमी अवधी : आवन, जान, करन।

पूर्वी अवधी : आउब, जाब, करब।

सर्वनाम

पुरुष वाचक

अन्य पुरुष (एकवचन)–यहु : जनरज्जब यहु देखि करि, कुसंग करै मति कोइ।

–रज्जब बानी, पृ० २७९

वहू : घर वहू कौन जहां रह बासा।

–जगजीवन, साहब बानी, पृ० ४६

सो : अवधू सो जोगी गुर मेरा। –कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४३

अमली होय सो खाई। –धरमदास की बानी, पृ० ५

सो नाहीं दुख पावै। –दूलनदास की बानी, पृ० २१

वोहि : वोहि बन बोलत मोर। –कबीर शब्दा०, भाग ३, पृ० ६

वोहि में आप बिराजे हो। –धरमदास की बानी, पृष्ठ ३४

ओहु : न ओहु मरै न होवे सोगू। –नानक संत सुधासार, पृष्ठ १५३

ओहि-वोहि बूंद के मोती निपजै। –रैदास बानी, पृष्ठ ९९

अन्य पुरुष बहुवचन–तू : तू मोहि हों तोहि देखूं। –रैदास की बानी, पृष्ठ ९४

तिन्ह : तिन्ह को संका है नहीं। –कबीरदास०, पृ० ६३

तेह : तेह तेह नगर उजाड़ हैं। –मलूक०, पृ० ८

ते : बूड़ि मरै ते भौजल माहीं। –कबीर अखरावती, पृ० २

दादुर मोर पपीहा बोलैं, ते मारत तन तीर –रज्जब, पृ० ३०६

ते नर जमपुर जाहिंगे। –रैदास, पृ० ९९

उन : उन के चित तलिया बसै। –कबीर शब्दा० भाग ३, पृ० ४

वै : जा सूं वै सब पायो। –चरनदास० भाग १, पृ० ३८

मध्यम पुरुष, एकवचन–तुम : प्रभुजी तुम दीपक हम बाती। –रैदास०, पृष्ठ ९८

तैं : तैं वाकूं जाना नहीं। –चरनदास० भाग १, पृ० ३२

तैं पिय भूलो चौरासी डोली। –वही, भाग २, पृष्ठ १४

जो तैं राम न रमसि अघाई । —दादू० भाग २, पृ० १३

मध्यम पुरुष बहुवचन में भी 'तुम' ही प्रयुक्त होता है ।

उत्तम पुरुष, एकवचन—मैं : बैठि गुफा मैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४२

हौं : कब की हौं दुखिन राम बीती निसि चार जाम ।

—रज्जब बानी, पृ० ४२२

हम : हम सरणाई राम की । —दादू० भाग १, पृ० २३२

जुग अनंत हम आन पुकारा । —कबीर अखरावती, पृ० १

हमरी : बैठि रहौं चौगान चौक में भीजै हमरी देहिया ।

—धर्मदास०, पृष्ठ ३५

संकेत वाचक, (एकवचन)—यह : यह हीना बड़ दोख, —गरीबदास०, पृ० २२

यहु : यहु व्यापै पीरा, —दादू० भाग २, पृ० ५

राम राय महा कठिन यहु माया,

—रज्जब (संत सुधासार), पृष्ठ ३०२

कबीर यहु तो एक है । —कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६

इहि : आगे इहि नहिं लागे । —दादू० (भाग २), पृष्ठ ३५

संकेत वाचक, (बहुवचन)—ई : ई करता बसिया घट भीतर ।

—कबीर शब्दावली भाग ३, पृष्ठ २२

ई पद है निर्वानी, —वही, भाग २, पृष्ठ ६४

ई हिरवा अनमोल रतन है, —वही, पृष्ठ ३२

ये : ये है सब मतलब के साथी, —वही, पृष्ठ ३५

इन : इन दुनहुन सिर नाई, —कबीर शब्दावली भाग ३, पृष्ठ ११

इनहिं : इनहिं भरोसे मत कोइ रहियो, —वही, भाग २, पृ० १७

संबंध वाचक, (एकवचन)—जा : जा घर मे तुम या घर आये ।

—कबीर शब्दावली भाग ३, पृ० ३०

जा में प्राण प्रेम रस पीवे । —दादू० भाग २, पृ० १५

जा में फौज लड़ै । —धरमदास, पृ० ३३

जाहि : जाहि लागी सो जानहिं हो । —कबीर शब्दा० भाग ३, पृ० १४

जेहि : चारहु मुख जेहि रटत विधाता । —दूलनदास० पृ० २०

जो : बरन सहित जो जापे नाम । —रैदास०, पृष्ठ ८९

जौन : जौन इच्छा धरहु । —जगजीवन०, पृ० ३७

संबंध वाचक, (बहुवचन)—जिन : जिन यह जुक्ति बनाई ।

—कबीर शब्दावली भाग ३, पृ० १

जिन सतगुरु बेद न खोजा । —वही, भाग २, पृष्ठ २२
यह रस मीठा जिन पिया —दादू० (भाग २), पृष्ठ २६
जिन यासूं मन लाया । —रज्जब, पृष्ठ १०२

जे : जे जे या सूं भये सिरोमन । —चरनदास० भाग १, पृष्ठ २६
जे साधू मिरतग भये, तिनहिं काल भय नाहिं ।
—रज्जब०, पृष्ठ २४९

जिन्ह : जिन्ह मिलते सुख ऊपजै । —गरीबदास० बानी०, पृष्ठ २६

प्रश्न वाचक—का : का जोगी मुद्रा करै । —कबीर शब्दावली, भाग २, पृष्ठ ११
जो कोउ रामक भजन करत है तेहि का कहि भरमावै ।
—जगजीवन साहब (संत सुधासार), पृष्ठ ४०२

केहि : कहु ज्ञान केहि काम का । —कबीर (ज्ञान गुदड़ी०), पृ० १४

कस : कस पापी कहं दरसन होय ।
—जगजीवन साहब, (संत सुधासार), पृष्ठ ४०३

प्रकार वाचक : जस, तस, जस मोहिं समुझ परतु है तस गोहरावो रे ।
—जगजीवन साहब, (संतसुधासार), पृष्ठ ४०८

परिमाण वाचक : कहि रैदास कहां लगि कहिए ।
बिन रघुनाथ बहुत दुख सहिये । —रैदास, (संतसुधासार)

अव्यय

कालवाचक

अब : अब काकी सरन जाइये । —मलूकदास० बानी, पृष्ठ २६
बिन देखे अब जीव जातु है । —रज्जब(संतसुधासार), पृ० ३००

कबहुं : कबहुं राम न चीन्हा । —मलूक० बानी, पृष्ठ १३

काल्हि : काल्हि परयुं म्वैं लेटणां । —कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१
आज कि काल्हि चलै उठि मूरष, —सुन्दर ग्रं०, पृष्ठ ४१०

जब : जब सुधि आवै लाल की चुभत कलेजे भाल ।
—चरनदास(भाग १), पृ० ७
जब भान भया मंह आनि रते ।
—संत कवि दरिया, पृष्ठ ६२

तब : चयंतामणि जब करथैं छूटै, तब दुखपावैं देही ।
—दादू० की बानी, (भाग २), पृष्ठ ६१
तब माया छल हित किया । —मलूकदास, पृष्ठ ३२

तबहीं : ब्रह्म अगिनि तबहीं उपजाई । –यारी साहब, पृष्ठ ७
जब ते जनम लेत तबहीं ते आयु घटै । –सुन्दर विलास, २९

नित : ये मेरि कामिनि केलि करैं नित । –सु० ग्रन्थावली, पृष्ठ ४०९
नत नित प्रीती करहिं प्रसंगा ।
–संत कवि दरिया, पंचक खंड, पृष्ठ ३
पहिले हमकूं भेंट ही सीस आपनो देह ।
–चरनदास (भाग १), पृष्ठ ७
पहिले आरति अलखि बिराजै । –धरमदास, पृष्ठ २८

पुनि : हाथ जोरि पुनि विनती ठान । –धरमदास, पृष्ठ १३
साई माइ सास पुनि साई, साई याकी नारी ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३७

फिरि : फिरि चलु आपन देश । –धरमदास, पृष्ठ ३८
पग थाके जब फिरि पछिताहीं । –जगजीवन०, पृष्ठ ५८

स्थानवाचक

अंतहि : सजन सलोना राम है अब मत अंतहि जाए ।
–गरीबदास, पृष्ठ २८

आगे : आगे की थिरता नहीं पिछल गई सब खोय । –यारी, पृष्ठ १३
आगे चलूं पंथ नहिं सूझै । –धरमदास, पृष्ठ १५

इत : इत घर चोर न मूसै कोई । –दादू० भाग २, पृष्ठ १९

इहां : इहां मोर गांव, उहां मोर पाही । –धरमदास, पृष्ठ १६

उहां : उहां न दोजख भिस्त मुकामा । –कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०७
उहां नाव नहिं बेरा हो । –धरमदास, पृष्ठ ८

जहां : ब्रह्महि सूक्षम घूल जहां लग । –सुन्दर ग्रन्थावली २, पृष्ठ ६५१
जहां कबीर कमाल फरीदा । गरीबदास, पृष्ठ ७९
जहां न हरि का नाम । –मलूकदास, पृष्ठ ३३

जहवां : जहवां सुमिरन होय धन्य सो ठांव है –मलूकदास, पृष्ठ ५
तुरत गए मोहिनि रहे जहवां । –दरिया०, पृष्ठ ३
जहवाँ हंस उतारा । –धरमदास, पृष्ठ २७

तहां : न तहां सरवर न तहां पाणी । –कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०९
इन्द्र लोक तहां काल समाई । –संत कवि दरिया, पृ० ५७

तहवां : चांद न सुरज दिवस नहिं तहवां ।
–दरिया विहार वाले (संत सुधासार), पृ० ४१३

बोलत विकल वचन अब तहवां । —दरिया०, पृ० ३

दूरि ते : दूरि ते अन्तर गवन कियो । —यारी०, पृष्ठ १३

बाहर भीतर : बाहर भीतर खलिक दरिया । —यारी०, पृष्ठ ६

बाहर भीतर एक है सब घट रहा समाय । —गरीबदास, पृष्ठ २८

प्रकारवाचक

अस : कहै कबीर सुनो भाइ साधों फिरि न लगे अस दांव ।
—कबीर शब्दावली २, पृष्ठ १९

कस : कस भव पार भयो री । —धरमदास की बानी, पृष्ठ ६१

होइहैं कस नाम बिना निस्तारा ।
—कबीर शब्दावली (भाग २), पृष्ठ २५

जस : जस चिन चकोर चंदाई । —यारी साहब०, पृष्ठ ३

लोक लाज कुल की मर्यादा तोरि दियो जस धागा ।
—कबीर शब्दावली (भाग २), पृष्ठ २३

प्रश्नवाचक

काहे : यह मंदिर यह नारि है, यह धन यह संतान ।
तेरी न सहजो कहै, काहे करत गुमान ।।
—सहजोबाई की बानी पृष्ठ ९१

बिना दया अज्ञान काया काहे नहिं साची ।
—कबीर शब्दावली (भाग २), पृ० ३९

निषेधवाचक

न : पीव न मिलै तो बिलखि करि रोऊँ ।—कबीर ग्रन्थावली, पृ०२१२

बिनु : कहे सुने बिनु कोई न पावै । —यारी० बा०, पृष्ठ ११

बिन : "तिहि पूत बाप इक जाया, बिन ठाहर नगर बसाया ।"
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८४

सहजो गुरु षग ध्यान करि गुरु बिन और न भाख ।
—सहजोबाई, पृष्ठ ६

बिना: छप्पन भोग न संपजै, बिना छत्रपति थाल ।
—रज्जब बानी, पृष्ठ १४९

बिना नेंव के मंदिल, बहुकल लागल हो ।
—धरमदास की शब्दावली, पृ० ४५

नाहिं : कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६९

लेइ स्याही द्वात मांहि, तोलै तो अच्छर नांहि ।

—यारी की बानी, पृ० ११

जन रज्जब श्रीपति सहित, बाहर दीसै मांहि ।

—रज्जब बानी, पृ० ११४

नाहीं : हरि किरपा जो होय तो नाहीं होय तो नांहि ।

—सहजो० बानी, पृ० ३

श्रवण छै पणि सुरति नाहीं, नैंण छै पणि अंधरे ।

—कबीर ग्रं०, पृ० २१७

पिय करक कलेजे मांहीं, सो क्यों ही निकसै नाहीं ।

—दादू० बानी, पृ० ४३

क्रिया

वर्तमान काल

पावै : ज्यूं रज्जब मुख मुकर मैं, पाणी पावै नांहि ।

—रज्जब बानी, पृ० १३५

भावै, बतावै, जावै, आवै : तो भक्त न भावै, पूरि बतावै, तीरथ जावै फिरि आवै ।

—सुन्दरदास (संत सुधासार), पृ० ३४८

बंधै : करणी करै विचार बिन, तबै बंधै ता मांहि ।

—रज्जब बानी, पृ० ३५३

ऊगै : झूठि भोमि है षारछा, सत्य कण ऊगै नांहिं ।

—रज्जब बानी, पृ० ३५१

जानै-मानै : राम सुख सेवग जानै रे, दूजा दुख करि मानै रे ।

—दादू बानी, (भाग २), पृ० ७३

कहै : पंषी को षोज मीन का मारग कहै कबीर बिचारी ।

—कबीर ग्रंथावली, पृ० १४३

खेलै : जहँ बिरहिन गुण बीनवै, खेलै फाग बसंत ।

—दादू बानी (भाग २), पृ० ७०

करै : नाति सरूप न छाया जाकै बिरष करै बिन पांणीं ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४२

सुनै : तनु मनु देइ न सुनै अंतर राखे ।

—रैदास (संत सुधासार), पृ० ९०

देखै-डोलै : अंतरि गति नहिं देखै नैड़ा ढूंढ़त बन-बन डोलै ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५४

विखावैं : जब सतगुरु किरपा करै खोलि विखावैं नैन ।
—चरनदास०, पृ० ४

उपजै-वीनसै : नहिं उपजै नहिं बीनसै, सदा फूल के फूल ।
—यारी० रत्नावली, पृ० १७

होत : जानि परत पहिचान होत जब ।
सुन्दर० (संत सुधासार), पृ० ३९८

होत है : सब घट हरि हरि होत है । —दादू०, (भाग १), पृ० ६४

सुहात है : ताको कछु न सुहात है ।—सुन्दरदास, (संत सुधासार), पृ० ३४२

बिसरावत : तेहि ते नहिं बिसरावत ।
—जगजीवन० (संत सुधासार), पृ० ३९९

भूतकाल

भे : सुफल भे जन काज । —दूलनदास, पृ० ३

कटे : राम कलेस कटे अपराध । —रज्जब, (संत सुधासार), पृ० ३०५

मिले : गुरु मिले अगम के बासी । —धरमदास, पृ० १

चढ़ाये : बहुतक पापी जीव चढ़ाये । —सहजोबाई बानी, पृ० २

जलिगये : बिरह अगिनि में जलि गये । —दादू० (भाग १), पृ० ४३

जाना : मैं तो प्रीति करत नहिं जाना ।
—सुन्दर० (संत सुधासार), पृ० ३५६

लीन्ह : तन मन भीतरि मदन चोर जिनि ग्यान रतन हरि लीन्ह मोर ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१५

दीन्हा : सतगुरु संत भेद मोहिं दीन्हा । —दूलनदास, पृ० ५

दीन्ह : गुरु सेवा तजि दीन्ह । —चरनदास० (भाग १), पृ० १९

आइसि : को तैं आसि कहाँ ते आइसि ।
—सुन्दरदास, (संत सुधासार), पृ० ४००

बनाइन : माटी कै, चौतरा बनाइन । —धरमदास०, पृ० ३२

भयऊ : पहले जतम पुत्र का भयऊ । —क० बीजक, पृ० ७८

पुरई : पुरई मेरी आस । —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ७८

मांग्यो : सतगुरु मांग्यो आइ । —दरिया, पृ० १

भविष्य काल

मिलिहैं : सांसै सांस सम्हालतां इकदिन मिलिहैं आइ ।
—दादू०, (संत सुधासार), पृ० २७६

आवौ : कोई आवौ कहीं दिसि आगे अस्थल एक ।
—रज्जब (संत सुधासार), पृ० ३१

लगावै : जो अन्तर ध्यान लगावै । —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४०७

नाचब : हम तो देह धरे जा नाचब । —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३९९

अज्ञार्थ

करउ (करो) । करउ विनउ गुर अपने प्रीतम हरि बस आधी मिलावै ।
—नानक (सन सुधासार), पृ० १५४

चलु : फिरि चलु आपन देश । —धरमदास०, पृ० १८

प्रकटहु : प्रकटहु दीनदयाल विलम न कीजिये हो ।
—दादू० (संत सुधासार), पृ० २७२

बरसु : बरसु घना मेरा मनु भीना । —नानक (संत सुधासार), पृ० १५५

बूझहु : साकत सिउ ऐसी प्रीति है बूझहु गिष्ठानी रंजि ।
—नानक (संत सुधासार), पृ० १५९

रहु-देखहु : रहु चरण सरण सुख पावै देखहु नैन अघाइ ।
—दादू० बानी (भाग २), पृ० ६७

सुनहु : रज्जब अज्जब ये कही, सुनहु सनेही दास ।
—रज्जब बानी, पृ० २१४

हरहु-करहु : हरहु बिपति जन करहु सुभाई ।—रैदास (संत सुधासार), पृ० ९३

करौ : करौ नर हरि भक्तन को संग । —चरनदास की बानी, पृ० १०

बिचारौ : विरद बिचारौ बाप जी जा रज्जब की वार ।
—रज्जब (संत सुधासार), पृ० ३११

पूर्वकालिक

पैसि-हुरि : ज्यूं जल पैसि न निकसै, यूं हुरि मिल्या जुलाहा ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२१

निकसि : विषय वासिना सूं निकसि आवै । —चरनदास०, पृ० १७

लगाय : प्रभु सो प्रीति लगाय सुरति चरनन धरो । —चरन० १, पृ० २५

छाइ : तहां रहे घर छाइ । —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३१

लाइ : तन मन लाइ भजै करतार । —दादू० बानी (भाग २), पृ० २७

पाय : पाय उत्तम जनम लाय ले चपल मन । —सुन्दर विलास, पृ० ११

करं : मन बंच काया समेट कर, सुमिरै आतम राम ।
—दरिया० (मारवाड़) बानी, पृ० ७

करि : तेल सुं भिजोइ करि चीथरा लपेटि राखै ।

—सुन्दर विलास, पृ० १३

मुड़ाइ : सिर मुड़ाइ साधू भये, माला मेलर संत ।

—रज्जब बानी, पृ० २९५

संत-साहित्य में खड़ी बोली के शब्द

आज जो राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन है तथा जिसने नवीन जागृति तथा स्वतन्त्र चेतना के प्रकाश में अमर साहित्य-सृजन द्वारा विश्व की प्रमुख भाषाओं की समकक्षता प्राप्त की है, वह हिन्दी भाषा खड़ी बोली का ही विकसित रूप है। खड़ी बोली का अस्तित्व कोई दो-तीन सो वर्ष की सीमा में निबद्ध नहीं है, अपितु भाषा के स्वतंत्र विकास के अनुसार यह शनैः शनैः विकसित हुई है। इसके विकास पर संत-कवियों ने जहाँ राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, भोजपुरी आदि भाषाओं का प्रयोग किया है, वहीं उनके साहित्य में खड़ी बोली के प्रयोगों को भी सरलता से खोजा जा सकता है।

खड़ी बोली की उत्पत्ति कुरु जनपद में हुई थी, जिसे वर्तमान समय में मेरठ डिवीजन कहते हैं। इस क्षेत्र में रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अम्बाला, कलसिया तथा पटियाला रियासत के पूर्वी भागों का समावेश होता है। इसी प्रदेश के निवासियों की बोली खड़ी बोली नाम से प्रसिद्ध हुई। दिल्ली के समीप होने के कारण इसका ग्रहण राज्य-कार्य में भी हुआ तथा हिन्दू और मुसलमान दोनों के द्वारा यह समान रूप से प्रयोग में आने लगी। धीरे-धीरे यह शिष्ट लोगों की भाषा कहलाई तथा हिन्दुस्तानी नाम से प्रसिद्ध हुई। आगे चलकर इसी में से संस्कृत शब्दों की प्रधानता होने से उच्च हिन्दी तथा अरबी फारसी के शब्दों का आधिक्य होने से उर्दू, इन दो पृथक भाषाओं का विकास हुआ।

हिन्दी की प्रायः सभी उप भाषाएँ अपभ्रंश से विकसित हुई हैं। अतः खड़ी बोली की उत्पत्ति भी शौरसेनी अपभ्रंश से मानी जाती है। इसके साथ ही खड़ी बोली अपने आसपास की भाषाओं से प्रभावित हुई है। पंजाबी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, कन्नौजी तथा बुंदेलखण्डी का प्रभाव भी खड़ी बोली पर यत्किंचित पाया जाता है।

खड़ी बोली का यह नाम क्यों पड़ा, यह भी विचारणीय है। प्रारम्भिक खड़ी बोली के कवियों के अनुसार इसमें सरसता का अभाव था। अतः यह खड़ी बोली कहलाई। कुछ लोगों के अनुसार 'खरी बोली' का ही रूपान्तर 'खड़ी बोली'

है। श्री किशोरीदास वाजपेई ने इसके लिये एक सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है। उनके मत से इस भाषा में खड़ी पाई का बाहुल्य होने के कारण इसका नाम खड़ी बोली पड़ा। मीठा, जाता, खाता आदि में खड़ी पाई का समावेश हुआ है, यही इसकी विशेषता है। ब्रज में 'मीठो' तथा अवधी में 'मीठ' शब्द बनता है। परन्तु खड़ी बोली में मीठा, पंजाबी में भी मिट्ठा रूप में गृहीत हुआ।[1]

प्रस्तुत प्रसंग में हमें खड़ी बोली के सम्बन्ध में विशेष विवेचन न करके केवल इतना ही कहना है कि भारतवर्ष में हिन्दी खड़ी बोली का विकास-सूत्र अत्यन्त प्राचीन है। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के मध्य में अमीर खुसरो द्वारा लिखी गई रचनाओं में खड़ी बोली का रूप पाया जाता है :[2]

> एक थाल मोती से भरा। सब के सिर पर औंधा धरा।।
> चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे।।
> एक नार ने अचरज किया। सांप मारि पिंजड़े में दिया।।
> जों जों सांप ताल को खाए। सूखे ताल सांप मर जाये।।

खुसरो के इस उद्धरण द्वारा खड़ी बोली की प्राचीनतम स्थिति का आभास प्राप्त होता है। खड़ी बोली के विकास के सम्बन्ध में श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के इस मत को मान्यता प्राप्त है कि खड़ी बोली ने मुसलमानी राजाश्रय पाकर उन्नति की और उसका प्रचार चारों ओर हुआ।[3]

खड़ी बोली का समृद्ध साहित्य आधुनिक युग की देन है अवश्य, पर इसका पूर्वाभास बहुत पहले से प्राप्त हो चुका है। कोई भी भाषा रूप दस-बीस वर्ष में नहीं बन पाता है। उसका क्रमिक विकास होता है। संत-साहित्य की भाषा में पाए जाने वाले खड़ी बोली के कतिपय रूप इसके वर्तमान रूप की सूचना देने वाले सिद्ध हुए हैं। प्रस्तुत प्रसंग में हम उन्हीं रूपों को देखने का प्रयास करेंगे। यहाँ यह स्मरणीय है कि संतों की एक विशेष प्रकार की भाषा थी जिसमें अनेक भाषाओं का सम्मिश्रण पाया जाता है। खड़ी बोली भी उन्हीं में से एक है। उस समय तक यह भाषा पूर्ण विकसित नहीं हुई थी। अतः उसके रूप किन्हीं-किन्हीं संत-कवियों में यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

सर्वनाम

पुरुषवाचक—अन्य पुरुष

वह : न वह सोवै, न वह जागै, ना वह मरै, न जीवै।—मलूक०, पृ० १

---

१. किशोरीदास वाजपेयी, हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ १५
२. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५५
३. श्यामसुन्दरदास, हिन्दी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ९०

वे : गोव्यंद के गुण बहुत हैं, लिखे जो हिरदै मांहि।
उतरता पाणीं नां पिऊं, मति वे धोये जांहि॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ७९

मध्यम पुरुष

तुम : विषम भयानक भौजला तुम बिन भारी होइ।
—दादू० (भाग २), पृ० ५
मन तुम काहे न हरि गुन गावो। —गुलाल०, पृ० १६

तू : राजा राम तू ऐसा निर्भव तरन तारन राम राया।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११९

उत्तम पुरुष

मैं : कहै कबीर मैं हरि गुन गाऊँ। —कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७५
जन रज्जब ता संत की मैं बलिहारी जाऊँ।
—रज्जब बानी, पृ० १८९

हम : जब हम होते तब तुम नाहीं, अब तुम हहु हम नाहीं।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३१९

संकेतवाचक सर्वनाम

यह : कहैं कबीर कठिन यहु करणीं जैसी षंडे धारा।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४५

वह : तब लग वहु रस नाहिं। —जपना, (संत सुधासार), पृ० ३१२

प्रश्नवाचक सर्वनाम

कौन : कौन कुमति लागी मन मेरे।—रज्जब (संत सुधासार), पृ० ३०५
स्वारथ कौन परी जिहिं गोलै।
—सुन्दर (संत सुधासार), पृ० ३६१

क्या : क्या जल देह न्हवाये। कबीर, (संत सुधासार), पृ० ४०

सम्बन्ध वाचक

जो : जो किछु होआ सो तेरा भारंगा, जो इन बूझै सु सहजि समाणा।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३७६
निर्मल ते जो रामहिं जान। कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३१७

अनिश्चय वाचक

कोई : निकरि जब प्रान जावेगा, कोई नहीं काम आवेगा।
—धरमदास, (शब्दावली), पृ० ८

कछू (कुछ) : सूर समांणां चंद में, दहूँ किया घर एक ।
मनका च्यंता तब भया, कछू पुरबला लेख ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३

निश्चय वाचक

यही : यही तमासा देखि के मनुवां भयो उदास ।
—धरमदास, (संत सुधाकर), पृ० ११५

कारक विभक्ति

कर्म : मुझको भी लगा था । —मलूकदास, पृ० ३०
पियाको खोजती । —पलटू, (संत सुधासार), पृ० ४९३

करण : मुझसे कछु न होय । —दरिया०, (मारवाड़), पृ० ३
ज्ञान से लरै राजपूत सोई । —पलटू, (संत सुधासार), पृ० ५८२

सम्प्रदान : इसके रूप प्रायः नहीं प्राप्त होते हैं ।

अपादान : घर-घर से चुटकी माँगि कै ।—पलटू, (संत सुधासार), पृ० ४९५

सम्बन्ध : विष की क्यारी बोई करि । —कबीर, (संत सुधासार), पृ० ६७
हरि की भगति साध की संगति ।
—धरम०, (संत सुधासार), पृ० ११०
दिन का दोष भगति न लाओ ।
—मलूक, (संत सुधासार), पृ० ३९१

अधिकरण : माया में है लीन । —पलटू, (संत सुधासार), पृ० ४९७
मुख में जिह्वा एक है । —सुन्दर, (सत सुधासार), पृ० ३४७
इनमें कोई ना भला । मलूक, (संत सुधासार), पृ० ३९०

अव्यय

बहुत : बहुत पचि हारे बिकार न जाही । दादू०, (भाग २), पृ० ११

सदा : सुन्दर तोहि सदा समुझावत । सुन्दरदास पृ० १६

जहाँ : दरसे जहाँ खोदाई । —मलूक, बानी, पृ० ४

कहाँ : कहाँ तुम जाहुगे । —कबीर शब्दावली, पृ० ३५

कब : साधु संगत कब करोगे । —मलूक, बानी, पृ० ११

कैसे : सो फल कैसे पावै । —कबीर शब्दावली, पृ० ५

निज : निज दरसान दिखलावै । —कबीर (शब्दावली, १), पृ० १८

निरंतर : बाब निरंतर सो समझाइ । —दादू० भाग २, पृ० ३१

क्रिया

वर्तमान काल

कहता है : कहता दास कबीर है। गरीबदास, पृ० ३३

रहता (है) : ज्यों पुरइन रहता जल माहीं। मलूक, पृ० ९

देखे : बिना देखे दुख पइये। –दादू बानी, (भाग २), पृ० २

करते हैं : कितने बैठे सिरदा करते। –मलूक, पृ० १

आये : दुलहिन दुलहा ब्याहन आये।–धरमदास, (शब्दावली), पृ० ४८

किये : किये उपाय मुक्ति के कारण।–नानक,(संत बानी संग्रह), पृ० ४७

करता हूं : बार-बार करता हूं नसीहत मैं तेरी तईं। –मलूक०, पृ० २९

मरना है : दूरि गवनु सिर ऊपर मरना।

–रैदास, (संत सुधासार), पृ० ९१

भये हैं : भये हैं गुड़ की माखी। –धर्मदास, (संत सुधासार), पृ० ११५

भूतकाल

दिया : जन कबीर मस्तक दिया। –कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५

देखा : अजब तमाशा देखा तेरा। –मलूक०, पृ० १२

मिटाया : आवागमन मिटाया सतगुर। –मलूक०, पृ० १

पाया : जिनि पाया तिनि रोइ। –कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९

सोता था : सोता था बहु जन्म का। –दरिया (मारवाड़), पृ० २

पड़ा था : बीज पड़ा था भूमि में। –दरिया (मारवाड़), पृ० ३

भविष्य काल

आवेगा, दिखावेगा, भावेगा : कब आवेगा, कब आवेगा।

पिव परगट आप दिखावेगा, मिठड़ा मुझको भावेगा।

–दादू बानी, (भाग २), पृ० ७१

करोगे : साध संगत कब करोगे। –मलूक पृ० ११

जायंगे : अंत ही कठिन बाकी बेर उठि जायंगे।

–सुन्दर विलास, पृ० १३

आज्ञार्थ

मरने दे, भुंकने दे, पुजने दे :

अरुझि अरुझि के मरने दे। कुतियां भुंके तो भुंकने दे।।

डूबि मरै तेहि मरने दे। पथर पुजै तो पुजने दे।।

–धरमदास, (संत सुधासार), पृ० १३

पीजिए : सुमिरि सुमिरि रस पीजिए । –दादू, (संत सुधासार), पृ० २७६

दीजिए : भगति दान गुरु दीजिए ।–धरमदास,(संत सुधासार), पृ० १०५

कीजिए : नारी नेह न कीजिए । –दादू० बानी, भाग २, पृ० १३९

लीजिए : सन्मुख सिरजन हार सदा सुख लीजिए ।

–दादू०, (भाग २), पृ० ७०

संत-साहित्य में राजस्थानी भाषा के शब्द

सामान्यत: राजपूताना प्रदेश में बोली जाने वाली समस्त भाषायें राजस्थानी नाम से प्रसिद्ध हैं । इसके अतिरिक्त राजपूतानी, डिंगल, मारवाड़ी आदि नामों से भी ये विख्यात हैं । राजस्थानी भाषा का जन्म विक्रम के दशम शतक के आस-पास हुआ है तथा यह नागर एवं अवन्ती अपभ्रंशों से विकसित हुई है । आगे चलकर राजस्थानी भाषा डिंगल नाम से प्रसिद्ध हुई, परन्तु डिंगल शुद्ध साहित्यिक भाषा हो जाने से लोकप्रचलित भाषा राजस्थानी कहलाई ।

राजस्थानी भाषा का विवेचनात्मक अध्ययन योरोपीय तथा भारतीय विद्वानों के सम्मिलित प्रयत्नों द्वारा प्रकाश में आया । सर्वप्रथम श्री के० ऑग ने अपने हिन्दी व्याकरण में राजस्थानी बोलियों में से मारवाड़ी और मेवाड़ी तथा कहीं-कहीं जैपुरी पर भी कुछ विचार किया है । सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपने लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, के दो खंडों में राजस्थानी बोलियों का पर्याप्त विवेचन किया है । इसके उपरान्त इटली के भाषाविद् एल० पी० तेस्सितोरी ने इण्डियन एन्टीक्वेरी में पुरानी तथा पश्चिमी राजस्थानी (गुजराती तथा मारवाड़ी के पूर्व रूप) पर प्रकाश डालते हुए राजस्थानी के उद्भव और विकास-क्रम का निर्देशन किया । डिंगल, प्राचीन गुजराती, मारवाड़ी तथा अपभ्रंश, इन मध्यकालीन साहित्य से भी राजस्थानी के इतिहास-निर्णय पर प्रकाश पड़ता है ।

डा० ग्रियर्सन ने राजस्थानी बोलियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है–

(१) पश्चिमी राजस्थानी–इसमें निम्नांकित बोलियाँ आती हैं–जोधपुर की परिनिष्ठित (Standard) या खड़ी राजस्थानी अर्थात् शुद्ध पश्चिमी मारवाड़ी ढटकी, थली, बीकानेरी, बागड़ी शेखावटी, मेवाड़ी, खैराड़ी, सिरोही की बोलियाँ (आबू लोक की बोली, या राठी, तथा साण्ठ की बोली इनमें है) गोड़वाड़ी और देवड़ावाटी ।

(२) उत्तर-पूर्वी राजस्थानी–अहीरवाटी और मेवाती ।

(३) मध्य-पूर्व राजस्थानी–(ढूंढाड़ी)–तोरावाटी, खड़ी जैपुरी, काठेड़ा,

राजावाटी, अजमेरी, किशनगढ़ी, चौरासी (शाहपुरा) नागर चाल, हाड़ौती, (रिवाड़ी के साथ)।

(४) दक्षिण-पूर्वी राजस्थानी–इसके कई रूप भेद हैं जिनमें रांगड़ी और सोंड़वाड़ी है।

(५) दक्षिण राजस्थानी–इसमें निमाड़ी आती है।

राजस्थानी भाषा की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं:—

उच्चारण सम्बन्धी

(१) आकार का 'इ' उच्चारण–जिण (जन), चिमकणा (चमकना), सिरदार (सरदार), पिशमीणा (पशमीना), किसवण (कसबन), मिनख (मनुष्य), केहरि (केसरी), पिंडत (पंडित), हिरण (हरिण), किस्तूरी (कस्तूरी), महिल (महल)।

(२) इसके विपरीत, इकार तथा उकार के स्थान पर अ का उच्चारण–मनख (मनुष्य), दन (दिन), लख (लिख), सुगड़ी (सुगुणी), मांणस (मनुष्य), हाजर (हाजिर), मालम (मालूम, मालुम), मालक (मालिक), मलाप (मिलाप), मल (मिल), नकल्यो (निकल्यो), बचारी (बिचारी) इत्यादि।

(३) मूर्धन्य ण और ल राजस्थानी की दो विशिष्ट ध्वनियाँ हैं। ये नवीन भारतीय आर्य भाषाओं पंजाबी, लहंदी, सिंधी, मराठी, गुजराती और ओड़िया में मिलती है। पछांही हिन्दी से इस विषय में राजस्थानी का एक लक्षणीय पार्थक्य है। साधारणतया मूर्धन्य 'ड, ड़' ध्वनियों का राजस्थानी में अधिक प्रयोग होता है।

(४) राजस्थानी की कुछ बोलियों में च, छ, ज, झ इन तालव्य ध्वनियों का दन्त्य उच्चारण सुनाई देता है। 'च' वर्गीय वर्णों का दन्त्य उच्चारण तथा स का 'ह' में परिवर्तन राजस्थानी भाषा का सहज गुण है। स का ह उच्चारण, मराठी, बंगला तथा पछांही हिन्दी में भी पाया जाता है।

राजस्थानी भाषा की कतिपय सामान्य व्याकरणिक विशेषतायें इस प्रकार हैं।

कारक–विभक्ति

राजस्थानी में कतिपय विभक्तियाँ ऐसी हैं जो दो-तीन कारकों में और कुछ एक ही कारक में प्रयुक्त होती हैं। यथा–

कारक	विभक्ति
कर्ता–	इ, उ
कर्म–	उ, ए, ने

कारक विभक्ति

करण : इ, ए, सूं, करि, आं

सम्प्रदान : ए, नूं, आं, इ, नै

अपादान : हूं, हूंत, हुंतौ, हुंतीं, हूंता, हूंतीं, हूंनों, हुवा

सम्बन्ध : हा, हीं, रो, को, चो, तण, तणो, तनि, बां, कां

अधिकरण : इ, ए, मैं, महि, परि, लगि, लगी, लगै, इ, ए

सर्वनाम

राजस्थानी में सर्वनाम शब्दों के रूप बहुत कुछ अपभ्रंश के सर्वनाम शब्दों के रूप से मिलते जुलते हैं। कतिपय सर्वनाम इस प्रकार हैं:—

अपत्यवाचक सर्वनाम

(हूं–मैं)

कर्ता : हूं, मइ, म्हे

कर्म : हूं, मूं, मुझ, अम्ह

सम्बन्ध : मूझ, माहसे, मो, मू, अम्हीणो, म्हारउ, मो, मूं।

अधिकरण : अम्हां, अहयां

(तं–तू)

कर्ता : तुम्ह, तुम्हां, तू

कर्म : तुम्ह, तुम्हां

करण : तुम्हां, सूं

सम्बन्ध : तूझ, ताहरो, तुम्हीणो, थूं, तणो

अधिकरण : तूझ, ताहरो, तुम्हींणों

निश्चयवाचक सर्वनाम

(यह)

कर्ता : एह, ए, आ

कर्म : एह, ए, आ

करण : एणइ, इणइ, इणि, एणि

सम्प्रदान : एहं, इहें, अहां

अपादान : एह, ए,

सम्बन्ध : एह, ए

अधिकरण : एहि, एणइ, इणइ, इणि, एणि

सम्बन्धवाचक सर्वनाम

(जो)

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता :	जो, जु, जा, जोइ, जेहि, जिणि, जेणि	जे, जेअ
कर्म :	जो, जु, जा, जेहि, जेहु	जेहु
करण :	जो, जेणि, जेणइ, जिणइ, जेणिइ	जेहि
सम्प्रदान :	जा, जिहि, जउ, जू	जेणि, जिणि, जे, जिअं, जियं
अपादान :	जास, जस, जेह, जिह, जे	
सम्बन्ध :	जसु, जासु	
अधिकरण :	जहिं, जिंहि, जेणइ, जिणइ, जेणि, जिणि	

(सो)

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता :	सोइ, सोय, सु, सा	ते, ताइ, तिणि
कर्म :	सोय	तेह, ताइ, तिहि
करण :	तिणि, तिणइ	तेहि, तेइ
सम्प्रदान :	ता, तह, तउ, तू	तेह, तिइ, तेहं, ते, तिअं, तियं
अपादान :	तास, तस, तसु, तह, तेह, ते	तेहं
सम्बन्ध :	तसु, तासु	ताइ, तिणि, तणी
अधिकरण :	तहि, ताहिं, तेणइ, तिणइ, तेणि, तिणि	

(कुण-कौन, कोइ)

कारक	एक वचन	बहु वचन
कर्ता :	कावण, कउंण, कुंण, कुण	केइ, केवि, किणि, किण
कर्म :	को, कोइ, कोई, कवि, कोय, कौंइ	केह
करण :	कउणइँ, कुणइँ, किणंइँ, कणि	कुणि
सम्प्रदान :	क, किंह	केहि, केइ
अपादान :	कहु, किण, केह, कहि	केहं, केह, कियं
सम्बन्ध :	कुणह	केहँ, केह, कियं
अधिकरण :	कुणइं, कहिं, काहइं, किण	

सार्वनामिक विशेषण

एतउ, एतलउ (इतना)। जेतउ, जेतलउ (जितना)। तेतउ, तेतलउ

(तितना) । केतउ, केतलउ (कितना) । एवड़उ, इसउ, अइसउ, एहड़उ (ऐसा) । जेवड़उ, जिसड़, जेहड़उ (जैसा) । तेवड़उ, तिसउ, तेहड़उ (तैसा) । केवड़उ, किसउ, केहड़उ (कैसा) । अपणउ (अपना । सो (समान) । सगलउ (सब) । किउं (कुछ) । के (कई) । काइ (क्या, कुछ) ।

अव्यय

जई–यदि, जब । तई–तब । पुणि–फिर । वळे, वली–फिर । पुनह-पुनह–फिर फिर । किरि–मानों । परि–ज्यों, समान । इहां–यहां । जाणे, जाणि–मानों । अने, ने–और । किम, केम–कैसे । काज–लिए । किसूं–कैसे । तिणि–इसलिए । नेड़ो–पास । साम्हा–सामने । तिम–तैसे, त्यों । नहु–नाहीं । म–मत । लगि, लगी, लगै–तक, में । तदि–तब । इ–ही । केड़इ–पीछे । वांसे–पीछे । कारणि–लिये । केथि–कहाँ । एथि–यहाँ । पिण–भी । ताइ–तो भी ।

क्रिया

राजस्थानी क्रियाओं में अपभ्रंश पश्चिमी हिन्दी, गुजराती तथा बोलचाल की राजस्थानी क्रियाओं का समावेश हुआ है । हिन्दी में वर्तमान काल में क्रिया के साथ जिस अर्थ में 'है' का व्यवहार होता है, उसी अर्थ में राजस्थानी में 'छइ' का प्रयोग होता है । इसके रूप इस प्रकार चलते हैं ।

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष :	अछइ, छइ	अछइ, छइ
मध्यम पुरुष :	अछइ, छइ	छइ
उत्तम पुरुष :	छूं	छां

भूतकाल में मूलक्रिया के पीछे इउ, यउ, इउ लगाकर शब्द बनता है । यथा–कहिउ, अड़िउ आदि । भविष्यकाल में क्रियारूप प्रायः दो प्रकार से बनता है—(१) मूलक्रिया के अन्त में 'सी', 'स्यूं' तथा 'स्यां' लगाकर, (२) ला, ली, तथा लो लगाकर, जैसे–रहसी रहस्यूं, बूड़ली आदि । पूर्वकालिक क्रिया शब्दों का निर्माण–एवि, एविय, इ, ई, अ, य, नइ, करि आदि प्रत्ययों से होता है जैसे–मेविय, करीनइ, दौड़िकरि आदि । यहां पर कतिपय क्रियारूप नीचे दिये जाते हैं—

१–अकर्मक क्रिया–वाधणो–बढ़ना ।

वर्तमानकाल

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष–	बाधै, बाधइ, बाधति बांधति, बांधत, बाधि	बाधै, बांधति, बाधंत

मध्यम पुरुष—	बाधसि	बाधो
उत्तम पुरुष—	बाधूं	(बाधां)

भूतकाल

एकवचन	बहुवचन	स्त्रीलिंग
बाधियो	बाधिया	बाधी
बाधो	बाधा	बाधई
बाध्यो	बाध्या	
बाधि	बाधिअें	

भविष्य काल

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष—	बाधिसी, बाधिइ बाधिसैं, बाधिस्यैं	बाधिसी
मध्यम पुरुष—	बाधिसी, बाधिह, बाधिसै, बाधिस्यैं	बाधिहो
उत्तम पुरुष—	बाधिसौ बाधिस्यौं बाधिहौं, बाधिसि	बाधिसैं

आज्ञार्थ

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष—	बाधैं, बाधो	बाधैं, बाधो
मध्यम पुरुष—	बाध, बाधि	बाधौ
उत्तम पुरुष—	(बाधूं)	

सुदूर विधि

मध्यम पुरुष—	बाधिजै

कर्मवाच्य—वर्तमान

प्रथम पुरुष—	मण्डिजै
मध्यम पुरुष—	मण्डिआसि

सकर्मक क्रिया—'मूकणो'-छोड़ना

वर्तमान

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष—	मूकै, मूकइ, मूकति, मूकत्ति, मूकंत,	मकैं

मध्यम पुरुष—	मूक, मूकइ, मूक	मूको
उत्तम पुरुष—	मूकूं	(मूकां)

भूतकाल

एकवचन	बहुवचन	स्त्रीलिंग
मूक्यो, मूकियो	मूकिया, मूक्या	मूकी
	मूकिए, मूके	मूकवी
	मुकए, मूकव्या	मूकई

भविष्यकाल

	एकवचन	द्विवचन
प्रथम पुरुष—	मूकिस्यैं	
मध्यम पुरुष—	मूकिसी,	मूकिस्यो
उत्तम पुरुष—	मूकिस, मूकिस्यौं	मूकिस्यां, मूकेस्यां, मूकस्यो

आज्ञार्थ

मध्यम पुरुष—मूक, मूकि, मूकहि मूको

विधि

प्रथम पुरुष–मूकै मूको
मध्यम पुरुष–मूकै मूको

सुदूर विधि

मूकियै, मूकिजै मूकियो, मूकिजो

कर्मवाच्य

मूकिजै
मूकीजै

होना क्रिया के विशिष्ट रूप

वर्तमान–मध्यम पुरुष–हुइ–तू होता है ।
भूतकाल–प्रथम पुरुष–हुओ, हुवो–, ओ, थ्यो, थियो, थई (स्त्रीलिंग)
हूंतो (था

आज्ञा–प्रथम पुरुष –हुइ–हों

विधि–प्रथम पुरुष –हुवै–हो

संत साहित्य में पाए जाने वाले राजस्थानी भाषा के कतिपय रूप इस प्रकार हैं-

सर्वनाम

पुरुष वाचक–प्रथम पुरुष

थे (ते) : थे वषना अब दीन है । –वषना (संत सुधासार) पृ० ३१८

तिहि : सदा सुखी तिहि गाँव । –दादू० (संत सुधासार) पृ० २८०

तिहिं : निहि लून सहि तूट से । –वषना, (संत सुधासार) पृ० ३२३

ताही : तू ताही सों त्यो लाइ । –कबीर ग्रंथावली, पृ० ४४

तास : तास पटंतर नां तुलै । –कबीर ग्रंथावली, पृ० ५३

मध्यम पुरुष

तूं : तूं म्हारो औगुत छावणों । –वषना, (संत सुधासार), पृ० ३२२

तूनैं : वषना तूनै राम दुहाई । –दादू, (संत सुधासार), पृ० ३२५

थारा (तुम्हारा) : सौ गुण थारा राम जी । –वषना, (संत सुधासार), पृ० ३१८

उत्तम पुरुष

मैं : मैं जान्यूं बढ़िबौ भलौ । –कबीर ग्रंथावली, पृ० ३८

म्हारौ : म्हारौ जीवन प्राण अधार –वषना, (संत सुधासार), पृ० ३१९

संकेत वाचक

सो : सो प्राणी काहे चलै । –कबीर ग्रंथावली, पृ० ४३

सोई : साधू निन्द्या सोइ । –कबीर ग्रंथावली, पृ० ४८

जे : दादू जे जन बीधै प्रीति सौं । दादू, (संत सुधासार), पृ० २८९

जिहिं : जिहिं सगेरा सहि सगा । –वषना, (संत सुधासार), पृ० ३८३

जास्यूं : कब धारि जास्यूं राम । –वषना, (संत सुधासार), पृ० ३१७

ए : ए बांता की बात । –कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४७

प्रश्नवाचक

को : को जाणै कद भाजिसी –वषना, (संत सुधासार), पृ० २३

कौण : तिन के कौण हवाल । –कबीर ग्रंथावली, पृ० ७

कांइ (क्यों) : सो नर कलपै कांइ । –कबीर ग्रंथावली, पृ० ५९

निजवाचक

अपणें : कारणि अपणें राम । –कबीर ग्रन्थावली पृ० ५०

कारक—विभक्ति

कर्म : बषना तूनै राम दुहाई । —बषना, (संत सुधासार), पृ० ३२५

पाहन कूं क्या पूजिये । —कबीर ग्रंथावली, पृ० ४४

करण : सुन्दरि थै सूली भया । --कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४०

तुं ताही सो ल्यो लाय । --कबीर ग्रंथावली, पृ० ४४

सम्प्रदान : यूं हूं तेरे ताई । --बषना, (संत सुधासार), पृ० ३२१

सम्बन्ध : पाहृण केरा पूतला, काजल केरी कोठरी । --क० ग्रं०, पृ० ४३

विशेषण

घणेरी : थी तो रैणि घणेरी । --बषना, (संत सुधासार), पृ० ३२१

मुसकल : मुसकल पडी पिछांणि । --कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४७

पहली : पहली थाह दिखाइ करि । --कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४९

सूही, सोहणीं इक सूही दूजी सोहणीं तीजी सोभावंती नारि ।

—नानक, (संत बानी संग्रह), पृ० ६८

सूड़ी : देखि सूड़ी झोपड़ी । —नानक, (संत बानी संग्रह), पृ० ७०

अव्यय

जे (यदि) : दादू जे तूं प्यासा प्रेम का । -दादू, (संत बानी संग्रह) पृ० २९५

जे रंचक आवे नाउं । --कबीर ग्रन्थावली, पृ० १

कद : जो जाणै कद भाजिसी । --बषना, (संत सुधासार), पृ० ३२१

कदे : कामी कदे न हरि भजै । --कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४११

जदि, तदि : एक राम के नांव बिन, जदि, तदि प्रलै जाइ ।

--कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४

ज्यू -त्यू : ज्यूं आया त्यूं जाव । --कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६

नां : नां कुछ किया न कर सका । --कबीर ग्रंथावली, पृ० ६१

क्रिया

वर्तमानकाल

रोवणां : राति दिवस का रोवणां । --दादू, (संत सुधासार), पृ० २७९

जूझणां : नित उठि मन सो जूझणां । --कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४१

ऊमड्यो : बिरह महाघन ऊमड्यो । --बषना, (संत सुधासार), पृ० ३३४

मिल्या : जब सांई मिल्या हजूरि । --क० ग्रं०, पृ० १४

जाणिए : हरि रस पीया जाणिए । -- क० ग्रं०, पृ० १६

माड़े :	माड़े बहुत मंडाण ।	– क० ग्रं०, पृ० २१
हूं :	यूं हूं तेरे ताईं।	—बषना, (संत सुधासार), पृ० ३२५

भूतकाल

बीछड़या :	बीछड़या राम सनेही रे	–बषना, (संत सुधासार), पृ० ३२६
थई :	लीर लोई थई।	—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४८
थाइ :	अब सो पछे न थाइ।	—बषना संत सुधासार, पृ० ३१७

भविष्यकाल

आइसी :	तब रोम-रोम सुख आइसी।	–दादू० (संत सुधासार), पृ० २७८
आवसी :	कहि गोविन्द कद आवसी।	–बषना (संत सुधासार), पृ० ३१९
भाजसी :	को जाणै कद भाजसी।	–बषना (संत सुधासार), पृ० ३२३
मारिसी :	का जाणौं कहां मारिसी।	–कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१
लेस्यूं (लूंगी) :	लेस्यूं लावै आंचलि वापनणां।	–बषना (संत सुधासार), पृ० ३१९
राखिस्यूं :	अंचल गहि राखिस्यूं रे।	–बषना (संत सुधासार), पृ० ३२१

संत–साहित्य में पंजाबी भाषा के शब्द

पंजाबी शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ है पांच नदियों से घिरा हुआ प्रदेश। यह अर्थ फारसी शब्द पंज+आब से निष्पन्न हुआ है। इन पांच नदियों से घिरा होने के कारण ही यह प्रदेश पंजाब कहा जाता है। प्राचीन काल में भी पंचनद (पंचनद) नगर का नाम इन्हीं नदियों की ओर संकेत करता है। अत: इस प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा को पंजाबी भाषा कहते हैं। यह पंजाबी भाषा आदि प्राकृतों से मिश्रित जन समुदाय के प्रयोग द्वारा पद, रूप और व्याकरण-विषयक विशेष प्रवृत्तियों के अनुसार विकसित हुई है वस्तुत: यह प्रदेश भर में बोली जाने वाली देश-भाषा है तथा पंजाब प्रान्त के संतों ने इसे देशभाषा का नाम प्रदान किया है।

पंजाबी भाषा संस्कृत भाषा का ही रूपान्तर है। इसमें ध्वनि-परिवर्तन जिन सामान्य नियमों के आधार पर हुआ है, वे इस प्रकार हैं—

१. स–ह। ह–स। व–ब। ब–व। क–घ। घ–क। उ–व। व–उ। न–ण। ण–न। द–त। त–द। य–ज। ज–य। ल–र। र–ल। ट–ड। ड–त। त–ढ। ध–द। ड–ढ। ड–द। द–ड। स–श। स–ष। अ–ह। स्त–थ। क्ष–ख। ज्ञ–ग, ज। छ–श।

२. व्यंजनों को द्वित्व करना। यथा, सुख, चुम्पणा, उच्छछलणा आदि।

३. संयुक्त ध्वनियों को पृथक करना अथवा तीन संयुक्त ध्वनियों में से एक

को छोड़ देना तथा गृहीत ध्वनि का द्वित्व करना, जैसे, हत्थ, पिट्ठ आदि ।

४. कठोर ध्वनियों का मंद उच्चारण ।

५. महाप्राणीकरण ।

६. दो ध्वनियों के बीच में द्वितीय का तिरस्कार ।

हिन्दी तथा पंजाबी भाषा में भी प्रायः साम्य पाया जाता है, परन्तु कहीं-कहीं वैषम्य भी है । आगे हम इसी साम्य एवं वैषम्य के कतिपय रूपों पर विचार करेंगे ।

सर्वनाम

	हिन्दी रूप	पंजाबी रूप
पुरुषवाचक	अन्य पुरुष —वह, वे	ओ
	मध्य पुरुष —तू, तुम	तूं, तुसी (तुस्सी)
	उत्तम पुरुष—मैं, हम	में, असी (अस्सी)
निजवाचक :	अपना	आपणां
निश्चयवाचक :	यह, वह, सो	ए, ओ, औ
अनिश्चयवाचक :	कोई. कुछ	कोई, कुज
सम्बन्धवाचक :	जो	जेड़ीं, जेड़ां
प्रश्नवाचक :	कौन, क्या	कौण, की

अव्यय

	हिन्दी रूप	पंजाबी रूप
स्थानवाचक	यहाँ, वहाँ, कहाँ	एत्थे (इत्थे) ओत्थे (उत्थे) कित्थे
	ऊपर, नीचे, मध्य	उत्ते, थले (हेठाँ), बिच
	आगे, पीछे, इधर, उधर	अग्गे, पिच्छे, एत्थे, उत्थे
समयवाचक	अब, जब, तब, कब	हुंग (हुंड) जद, तद, कद
	फिर, आज, कल, शीघ्र	फेर, अज्ज, कल, छेत्ती
	पहिले, पीछे	पैले, पिच्छे (फेर)
सख्यावाचक :	एक, दूसरा	इक, दूजा
परिमाणवाचक	थोड़ा, बहुत, सब, कुछ	थोड़ा, बौत, सब, कुज
प्रकारवाचक :	ऐसे, कैसे	एसतरां (एवें) किसतरा
	वैसे, जैसे, यों	उसतराँ, जिसतरां, एसतरां (एवों)
निषेधवाचक :	मत, नहीं	ना

क्रिया

	हिन्दी रूप	पंजाबी रूप
वर्तमानकाल	वह जाता है ।	ओ जांदा है ।
	वे जाते हैं ।	ओ जांदे ने
	मैं जाता हूँ ।	अस्सी जाने आं
	तुम जाते हो ।	तुस्सी जांदे ओ ।
	हम सब जाते हैं	अस्सी सबरे जाने आं ।

	हिन्दी रूप	पंजाबी रूप
भूतकाल :	वह गया	ओ गया
	वे गये	ओ गये
	वह जाता था ।	ओ जांदा सी ।
	वे जाते थे ।	ओ जांदे सन् (सनूअ)
भविष्यकाल :	वह जायेगा	ओ जयगा
	वे जावेंगे	ओ जांणगे
	मैं जाऊँगा	मैं जावांगा
	हम जायेंगे	अस्सी जवांगे
आज्ञार्थ :	जाओ	जाओ
पूर्वकालिक :	जाकर, कर	जाके, के

विभक्तियाँ

	हिंन्दी रूप	पंजाबी रूप
कर्ता :	ने	ने
कर्म :	को	नूं
करण :	से	तों, नाल
सम्प्रदान :	को, के लिए	वासते, देवासते
अपादान :	से	थों
सम्बन्ध :	का, की, के	दा, दी, दे
अधिकरण	में, पै, पर	विच उतेल (ऊपर)

हिन्दी संत–कवियों के साहित्य में पंजाबी भाषा के अनेकानेक शब्द पाये जाते है। स्पष्ट है कि इनका उद्देश्य पंजाबी भाषा में ही अपनी अनुभूति की अभि-व्यंजना करना नहीं रहा है। पर इधर उधर भ्रमण करते-करते जो भाषागत प्रभाव इन पर पड़ते गए उसी के परिणामस्वरूप इनकी रचनाओं में पंजाबी शब्दों का प्रयोग

परिलक्षित होता है । नीचे हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–

संज्ञा

हिरदे : हृदय– हिरदे त्रिभुवन राय — कबीर ग्रंथावली, पृ० २४
बेनती : विनती– कहै रविदास एक बेनती । –रैदास संत सुधासार, पृ० ९२
बैपारी : व्यापारी–हम सतनाम के बैपारी । –धरम० संत सुधासार, पृ० १०३
पषान : पाषाण-जैसे कीट पतंग पषान । –धरम०संत सुधासार, पृ० १२२
गरंथ : ग्रंथ–असंख गरंथ मुखि वेदपाठ । –नानक संत सुधासार, पृ० १३५
पांणी : पानी–पावक पांणी पांणी पावक । –दादू०, सन्त सुधासार, पृ० २७३
लूण : लवण–लूण बिलगा पांणियां पांणी लूंण बिलग्ग । –कबीर ग्रंथा०, पृ० १३
सरधा : श्रद्धा –सील सांच सरधा नहीं । — कबीर ग्रंथावली, पृ० २९
औहि (उस) : औहि बूंद कै मोती निपजै । —रैदास,(सन्त सुधासार) पृ० ९९
कवणु : तिसु दाते कवणु समार । –नानक, (सन्त सुधासार), पृ० १५४
तिसु : सोगु वियोगु तिसु कद्दे न विआपै । –ना०,(सन्त सु०), पृ० १५५
तूं : नैना अंतर आव तूं । — कबीर ग्रंथावली, पृ० १९
जेता : जेता पाप सब जग करै । --दादू०, (सन्त सुधासार), पृ०२७७
तेता : तेता नांव बिसारे होइ । —दादू०, (संत सुधासार), पृ० २७७

क्रिया

वर्तमान काल

लिखिया : नानका लिखिया नालि । –नानक, (सन्त सुधासार), पृ० १२६
गाविए : नानक गाविए गुणी निधानु । –नानक, (संत सुधासार), पृ० १२९
आखीए : अकलि एह न आखीए । —नानक, (संत सुधासार) पृ० १५७
जाणा है : जाणा है उस देश को । —दादू०, (संत सुधासार) पृ० २८५

भूतकाल

कीता : कीता पसाउ एको कवाउ । –नानक, (संत सुधासार), पृ० १३४
मिल्या : मिल्या सुरयाग मांहि जे सिरज्या । –दादू०, (संत सु०), पृ० ३०४
धरिया : अब मन धरिया ध्यान । —कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५
श्रवण कथा सांची सुणी । –दादू०' (संत सुधासार), पृ० ३०७

भविष्यत काल

मिलसी : तौ रज्जब मिलसी आय । –रज्जब (संत सुधासार), पृ० ३११
होसी : होसी भी सचु । —नानक, (संत सुधासार), पृ० १२६
मारिसी : ना जांणो कहां मारिसी । —कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१

अव्यय

ज्यूं त्यूं :	ज्यूं जानहु त्यूं करि गति मेरी ।	–रैदास, सत सुधासार, पृष्ठ ९१
ओथै :	कच पकाई ओथै पाइ ।	–नानक सन्त सुधासार, पृष्ठ १४८
उतीथै :	उतीथै कोउ न आवई ।	–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१
कदे :	सोगु विजोगु तिसु कदे न बिआपै ।	–नानक, संत सुधासार, पृष्ठ ३०४
जे (यदि) :	दादू जे तूं प्यासा प्रेम का ।	–दादू०, सन्त सुधासार, पृष्ठ २९५
औरां :	रस की प्यास आस नहिं औरां ।	–दादू०, संत सु० पृष्ठ ३०४
कालिह, परयुं :	कालिह परयुं भ्वैं लेटणां ।	–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१

पंजाबी भाषा के पद

साचा साहिबु साचु नाइ भाखिआ भाउ अपारु ।
आखहि मंगहि देहि-देहि दाति करै दातारु ।।
फेरि कि अग्गे रखीऐ जितु दिसै दरबारु ।
मुहौकि बोलणु बोलीए जितु सणि धरे पिआरु ।।
हमृत वेला सचु नाउ वडिआई वीचारु ।
करमी आवै कपड़ा नदरी मोख दुआरु ।।
नानक एवै जाणीऐ समु आपै सचिआरु ।

–नानक, सत सुधासार, पृष्ठ १२८

आव वे सजणां आव, सिर पर धरि पांव ।
जानी मैंदा जिंद असाड़ ।
तूं रावंदा राव वे सजणां आव ।। टेक ।।
इत्थां उत्थां जित्थां कित्थां, हौं जीवा तो नाल वे ।
मीयां मैंडा आव असाडे ।
तूं लालों सिर लाल वे सजणां आव ।। १ ।।
तन भी डेवां मन भी डेवां, ड़ेवां प्यंड़ पराण वे ।
सच्चा सांई मिलि हथांई ।
जिन्द करां कुरबाण वे सजणां आव ।। २ ।।
तूं पाको सिर पाक वे सजणां तूं खूबौं सिर खूब ।
दादु भावे सजणां आवे ।
तू मीठा महबूब वे सजणां आव ।। ३ ।।

–दादूदयाल की बानी, पृ० ४४

आय असाडे या तूं चिरकि कूं लाया ।
हाल तुसा मालूम है तनु जोबन आया ॥(टेक)
जदि मैं हों दीन कडी तद कुझ न जाना ।
हुंण मैंनौं कल ना पवै सम खेड भुलाना ॥१॥
मा मैं नूं ई आषदी तूं धीय असाडी ।
प्योदी गल्ह अभावणी मैं सभी छाड़ी ॥२॥
हिबक सहा उभि राउदा में नूं संमुझावै ।
नालि तुसांडे हों चला जे कंतु न आंव ॥३॥
जे तेहुण आया नहीं तामें हुंणु आंवां ।
सुन्दर आपं बिरहनी मनु कित्यं लांवां ॥४॥

—सुन्दरदास, सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ८६०

बुल्ला गैन गरूरत साड़सुट्ट, हों मैं खूह पाय ।
तन मन दी सुरत गंवाय दे, घर आप मिलेगा आय ॥१॥
बुल्ला हुच्छै दिन तां पिच्छै गये, जब हरि किया न हेत ।
अब पछुतावा क्या करै, जब चिड़ियां चुग लिया खेत ॥२॥
बुल्ला दौलतमदां ने बूहैं, उत्तै चोबदार बहाये ।
पकड़ दरवाजा रब सच्चेदा, जित्थे दुख दिल का मिट जाये ॥३॥
बुल्ले नै लोक मत्ती दें दे, तूं जा बहु बिच्च मसीती ।
बिच्च मसीतां की कुज की हौंदा, जे दिलौं नमाज न लीती ॥४॥
बाहरों पाक कीते की होंदा, जो अंदरो न गई पलीती ।
बिनु मुरशिद कामिल बुल्ला तेरी, ऐवें गई इबादत कीती ॥५॥

—बुल्लेशाह, (संतबानी संग्रह), पृ० १५३

संत-साहित्य में भोजपुरी भाषा के शब्द

भाषा क्षेत्र में बिहारी की तीन बोलियां:—मगही, मैथिली तथा भोजपुरी पाई जाती हैं। इन तीनों बोलियों में पारस्परिक एकरूपता होते हुए भी अनेक रूपों में भिन्नता पाई जाती है। इनमें से भोजपुरी भाषा का ही विशेष महत्व है। यों तो इस बोली के बोलने वाले प्रायः सभी स्थानों में मिल जावेंगे, पर बिहार प्रान्त के शाहाबाद, सारन, चम्पारन, रांची, जशपुर स्टेट, पालामऊ के कुछ भाग तथा मुजफ्फरनगर के उत्तरी-पश्चिमी कोने में इस बोली के बोलने वाले निवास करते हैं। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के बनारस, गाजीपुर, बलिया, जौनपुर के अधिकांश भाग, मिरजापुर, गोरखपुर, आजमगढ़ तथा बस्ती जिले के हरैया तहसील में कुवानी नदी तक भोजपुरी बोलने वालों का आधिपत्य है[1]।

१. उदयनारायण तिवारी:—भोजपुरी भाषा और साहित्य, १

शाहाबाद जिले में भोजपुर नाम का एक परगना है। कहा जाता है कि इसी के नाम पर भोजपुर नाम पड़ा है। इस भाषा में यद्यपि साहित्यिक कृतियाँ अधिक संख्या में प्राप्त नहीं होतीं, फिर भी जिस रूप में वे उपलब्ध हैं, उसमें जीवन का रस विद्यमान है। संत-साहित्य में भोजपुरी शब्दों एवं पदावलियों की एक बहुत अच्छी संख्या है। प्रायः अधिकांश संत कवि बिहार क्षेत्र में या तो उत्पन्न हुए अथवा उस प्रदेश में भ्रमण करते रहे। संत कबीर का भोजपुरी प्रदेश से विशेष सम्पर्क होने के कारण उनकी कृतियों में भोजपुरी भाषा का प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक था। उनकी शिष्य-परम्परा में आने वाले संतों में भी उनकी भाषा एवं अभिव्यंजना शैली दोनों का ही प्रभाव यदि पड़ा तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? जो संत कवि न तो भोजपुरी प्रदेश के थे और न सीधे कबीर के शिष्य थे, वे भी परस्पर सम्पर्क-जनित प्रभाव को लेकर यदि यत्र-तत्र भोजपुरी भाषा-शब्दों को अपना सके तो यह स्थिति भाषा-विकास एवं प्रसार की एक स्वाभाविक स्थिति ही मानी जानी चाहिए। तात्पर्य यह कि संतों की भाषा में एकरूपता का दर्शन नहीं होता, वह भाषा सम्बन्धी अपने युगगत प्रभावों को लेकर चलती है।

आगे के विवेचन में हम पहले भोजपुरी भाषा की सामान्य विशेषताओं को देखेंगे और तत्पश्चात् संतों की भाषा में यत्र-तत्र फैले हुए भोजपुरी शब्दों के रूपों पर विचार करेंगे।

उच्चारण की दृष्टि से हिन्दी की कुछ ध्वनियाँ भोजपुरी भाषा में बदल जाती हैं। परिवर्तित होने वाली ध्वनियों के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

हिन्दी	भोजपुरी	उदाहरण
ड़	र	पड़ा—परल
ल	र	डाल—डार
ल	न	लगोटी—निंगोटी

हिन्दी खड़ी बोली के प्रारम्भ में प्रयुक्त होने वाले 'इ' और 'उ' भोजपुरी में 'ए' और 'ओ' बन जाते हैं। यथा हिन्दी शब्द 'इसमें—उसमें' भोजपुरी में 'एमे—ओमे' हो जायेंगे। इसी प्रकार हिन्दी 'ऐ' तथा 'औ' स्वर भोजपुरी में 'ए' तथा 'अउ' बन जाते हैं। यथा हिन्दी 'कैसे' भोजपुरी में 'कइसे' होगा, तथा हिन्दी 'कौर' भोजपुरी में 'कउर' बन जायेगा।

भोजपुरी शब्द रूप

1. हिन्दी सर्वनाम 'जो' भोजपुरी में 'जे' बन जाता है।
2. हिन्दी खड़ी बोली सर्वनाम सम्बन्ध सूचक 'ए' भोजपुरी में 'ओ' बन जाता है। यथा खड़ी बोली का 'मेरा' शब्द भोजपुरी में 'मोर' होगा।

३. हिन्दी में कर्त्ता कारक का चिह्न 'ने' भोजपुरी में नहीं प्रयुक्त होता है। यथा हिन्दी के 'इसने दिया' को भोजपुरी में 'इ दिहिल' कहेंगे।

४. व्यंजन से अन्त होने वाले संज्ञा शब्दों के तिर्यक रूप भोजपुरी भाषा में 'अ' अथवा 'ए' मिलाकर पूर्ण होते हैं। यथा–'वह बोलना चाहता है' भोजपुरी में 'उ बोले के चाहेला' हो जायेगा।

५. हिन्दी सम्बन्ध-कारक से चिह्न यथास्थान परिवर्तित होते रहते हैं। यथा हिन्दी में 'उसका लड़का', 'उसकी लड़की' प्रयोग चलता है. पर भोजपुरी में 'ओकर लरिका', 'ओकर लरकी' कहेंगे।

भोजपुरी क्रिया–रूप

१. हिन्दी में भूतकाल में 'आ' का प्रयोग होता है यथा 'किया', 'रहा' पर भोजपुरी में 'करल', 'रहल' होगा।

२. भविष्यत काल में हिन्दी 'ग' का प्रयोग होता है यथा–गिरूँगा, करूँगा, चलूँगा। पर भोजपुरी भाषा में गिरब, करब, चलब रूप बनेंगे।

३. खड़ी बोली में प्रेरणार्थक क्रिया के लिये 'अ' अथवा 'अय' जोड़ते हैं। यथा–'करना' से 'कराना' या 'कराया' बनेगा। पर भोजपुरी भाषा में इसका रूप होगा–'करावल'।

४. हिन्दी क्रिया 'है' तथा 'था' के लिये भोजपुरी में 'बाटै' तथा 'रहल' प्रयुक्त होते हैं। यथा 'वह है' के लिये 'उ बाटै' तथा 'वह था' के लिये 'उ रहल' प्रयुक्त होंगे।

कतिपय अन्य विशेषतायें

हिन्दी खड़ी बोली में निषेधात्मक भाव के लिये 'मत' शब्द का प्रयोग होता है पर भोजपुरी में 'मति', 'जिन', 'जनि' का प्रयोग होता है।

हिन्दी सम्प्रदान कारक में 'लिए' शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु भोजपुरी भाषा में 'वदेव', 'खातिर', 'लागि', 'लेल्' तथा 'ले' का प्रयोग किया जाता है।

भोजपुरी अनुसर्गों की हिन्दी अनुसर्गों से भिन्नता एवं अनुरूपता इस प्रकार है–

कारक	हिन्दी	भोजपुरी
कर्म एवं सम्प्रदान	को	के, कें, ला [illegible] खातिर
करण	से	[illegible]
अपादान	से	से

सम्बन्ध	का, की, के	के, कें, कर्, (केरा, केरी)
अधिकरण	में, पर	में, पर, परि।

भोजपुरी संज्ञा शब्द

देसवा : अचरज ख्याल हमारे देसवा। –धरमदास० (शब्द०), पृ० ३५

लहुंगवा : तन सारी मन रतन लहुंगवा। –धरमदास० (शब्द०), पृ० ७४

पियरवा : समुझ देख मनमीत पियरवा।
–कबीर सा० (शब्दा० भाग २), पृ० ९

रंगरेजवा : जहं रंगरेजवा है सतवाना।
–कबीर साहब (शब्द०, भाग २), पृ० ४६

मनुवां : लागिलो चरनन से दीदार मनुवां यों लहै।
–बुल्ला० (शब्दसार), पृ० १७

किवरिया : कपट किवरिया खोल के रे यहि बिधि पिय को जगाव।
–क० (श० भाग २), पृ० ९

महलिया : ऊँची महलिया साहिब कै हो। –क० (शब्द० भाग २), पृ० ४८

जोगिया : भासत काहे न जोगिया। –बुल्ला० (शब्दसार), पृ० १०

सेजिया : पकरि स्वामी सेजिया बिछावै।
–धरमदास० (शब्द०), पृ० ६८

बुकनियां : काहे की कै लै बुकनियां। –कबीर सा० (शब्द०) पृ० १४

वियना : सुन्न महल में वियना बारि ले। –कबीर सा० (श०), पृ० ७९

बंभना : पुरब देस कर आपुहिं बंभना। –बुल्ला० (शब्दसार), पृ० १६

लोगवै : लोगवै बड़ मतलब के यार।
–कबीर सा० (शब्दा०, भाग २), पृ० ४४

भतारा : सदा सोहागिन नारि सो जाके राम भतारा।
–मलूकदास०, पृ० २

जियरा : जियरा दोइ घरी के सुख को। –मलूकदास, पृ० १२

मंबिल : कहत मलूक ता मंबिल में सदा रहत हैं भूत।
–मलूकदास, पृ० ३८

भोजपुरी अव्यय शब्द

ओर : प्रीति उसी से कीजिये जो ओर निभावै।
–कबीर (शब्द०, भाग २), पृ० २

अवर : दूसरो न अवर है यहि काल में। –बुल्ला० (शब्दसार), पृ० २१

इहवां : इहवां गांठ न ठांव, नहीं पुर पास हो । –धरमदास०, पृ० ४६

ऐसन : लोभ मोह सब दूरि बहाओ, ऐसन अदल चलावो ।
–धरमदास०, पृ० ७०

कबहुं : कबहुं राम न चीन्ह । –मलूकदास०, पृ० १३

जुगन-जुगन : जुगन-जुगन हम आप जनाई कोइ कोइ हस हमारा हो ।
–क० श०, भाग २, पृ० ५

जहवां : जहवां सुमिरन होय धन्य सो ठाम है । –मलूकदास०, पृ० ५

तब लग : तब लग चाह बड़ी । –कबीर श०, भाग २, पृ० ४४

नगीच : बहुत खूब ऐसा जो नगीच कर पाइये । –मलूकदास०, पृ० २८

भोजपुरी क्रिया शब्द

वर्तमान काल

चलत, बोलत : चलत निहारत छांह तमक के बोलत बातें ।
–कबीर साहब की श०, भाग २, पृ० ३

पतियाइ : जो न पतियाइ साधु है साखी । –रैदास (सं० सु०), पृ० ९७

सुतल : जिवन हमार सुफल भो हो, सइयां सुतल समीप ।
–बुल्ला सा० शब्द०, पृ० ३०

बसल : बहुत दिनन पिय बसल बिदेसा । –धरनीदास, पृ० १

उधराइल : सेमर है संसार, भुवा उधराइल हो । –धरमदास०, पृ० ४५

भूतकाल

डसिया : काया काली नागिनी जिन डसिया सब संसार हो ।
–मलूकदास०, पृ० ९

चीन्हिया : सुन्दर सहजें चीन्हिया एकै राम अलाह ।
–सुन्दरदास (संत सुधासार), पृ० ३५०

रहलों : खेलत रहलों बाबा चौबरिया । धरमदास०, पृ० ३४

रहली : जब हम रहली हठिक दीवानी तब पिय मुखहु न बोले ।
–क० सा० की श० (भाग २), पृ० २३

गैली : संग कै सखी सब पार उतर गैली ।
–धरमदास की बानी, पृ० १२

दिहलें : सतगुरु दिहलें जगाइ पायों सुखसागर हो ।–धरमदास०, पृ० ४५

पुरइल : ज्ञान की चुनरी धूमल भइ सजनी मन की न पुरइल आशा हो ।
–धरमदास०, पृ० ६८

दीहल : दास कबीरा अब की दीहल निर्गुन के टकसार ।
—कबीर साहब शब्दा०, पृ० ६३

भइला-गइला : सनमुख भइला रे तब दुख गइला रे ।
—दादू० बानी (भाग २), पृ० ८०

आइल-समाइल— कहवां से जीव आइल, कहवां समाइल ।
—धरमदास (संत सुधासार), पृ० ११०

भविष्यत काल

सरिहै : बिन थाके तेरो काज न सरिहै ।
—कबीर शब्दावली (भाग २), पृष्ठ २

होइहै : गुरु बिन रहनि न होइहै । —क० सा० श०, पृष्ठ ४

जाउब-आउब : तीन लोक ओहि पार हंसा जहाँ जाउब हो ।
कहै कबीर धरमदास बहुरि नहि आउब हो ।
—क० सा० श०, पृष्ठ ५९

आइब : बहुरि न यहि जग आइब हो । —बुल्ला साहब, पृष्ठ ३०

जैबो : न्हान को गंग जमुन तट जैबो । —बुल्ला साहब, पृष्ठ १०

देबा-लेबा : तन मन तुम कों देबा, तेज पुंज हम लेबा ।
—बुल्ला साहब,

गोहराइब : सतगुरु बैठे मुख मोरि, काहि गोहराइब हो ।
—धरमदास की श०, पृ० ४५

पूर्वकालिक क्रिया

उकताय : उपजत बिनसत थकि पड़ा, जियरा गया उकताय ।
—मलूक० (संत सुधासार), पृष्ठ १९१

बूड़ि : रिद्धि सिद्धि में बूड़ि मरोगे । —मलूक० बानी, पृष्ठ १५

निकसि : विषय वासना सूं निकसि आवै हरि की ओर ।
—चरनदास बानी, पृष्ठ १७

काढ़ि : इतना कियो करार, काढ़ि गुरु बाहर कीन्हा ।
—कबीर श० (भाग २), पृष्ठ ३

भोजपुरी सर्वनाम शब्द

तोहि : तनिक न तोहि बिन बिसारि हौं, यह तन रहै कि जाय ।
कबीर (श० भाग २), पृष्ठ ३

तोहीं : गर्भवास में रह्यो कह्यो, मैं भजिहौं तोहीं ।

तेही : कहै कबीर तेही जन आवै, मैं तें तजै बिकारा ।
—कबीर साहब श० (भाग २), पृष्ठ १६

तिन्हां : तिन्हां का छूटै जमत्रासा । —धरमदास०, पृष्ठ ५८

तुही : तुही मातु तुही पिता तुही पितु बन्धु है । —मलूकदास०, पृष्ठ ५

हमरे : हमरे गुरु की अद्‌भुत लीला —मलूकदास०, पृष्ठ ५

हमहीं(या हमीं): हमहीं दिन अरु हमहीं राती । —मलूकदास०, पृष्ठ ५

सोई : अनहद नाद सबद धुनि जाके सोई खसम हमारा ।
—क० (श० भाग २), पृष्ठ १७

इहब : परजन हाथी घोरा इहब कहत मोरा । —धरनीदास०, पृष्ठ १

इनहिं : इनहिं भरोसे मत कोई रहियो, इनहूं मुक्ति न पाई ।
—कबीर श० (भाग २), पृष्ठ १७

जौन : जौन कहै जड़ मूलहिं त्यागी । —मलूकदास०, पृष्ठ १६

जेकरे : पूजो निरकार बहु भाँती । जेकरे पुजत सितल मोर छाती ।
—बुल्ला साहब, पृष्ठ १७

केकरे : यह माया कहो कौन की केकरे संग लागी ।
—कबीर साहब श० (भाग २), पृष्ठ ११

कवने : कवने द्वारा आवै जाय । कवने द्वारा रहै समाय ।
—बुल्ला साहब श०, पृष्ठ १६

आपुइ : ज्ञान ध्यान आपुइ हर लेइ । —मलूकदास०, पृष्ठ १३

भोजपुरी विशेषण शब्द

बड़ : लोगवै बड़ मतलब के यार, मोहिं जान पड़ी ।
—कबीर श० (भाग २), पृष्ठ ४४

ऐसन : ऐसन दास कबीर, सलोना आप है ।
—कबीर शब्दावली (भाग २), पृष्ठ ८

पियरवा : समुझ देख मन मीत पियरवा आसिक होकर सोना क्या रे ।
—कबीर शब्दावली, पृष्ठ ९

लबरा : गीता बाँचि के होइ गैले लबरा ।
—कबीर शब्दावली (भाग २), पृष्ठ १४

अधिका : घर-घर बाढ़े बैद रोग अधिका रचि दीन्हा ।
—कबीर साहब शब्दावली (भाग २), पृष्ठ २१

सुघर- हंसा सुघर दास दिखलावा।

—कबीर साहब शब्दावली (भाग २), पृष्ठ ११७

भोजपुरी भाषा के पद

सूतल रहलूं मैं नीद भरि हो, गुरू दिहले जगाइ।
चरन कंवल कै अंजन हो, नैना लेलूं लगाइ।
जा से निदिया न आवे हो, नहिं तन अलसाइ।
गुरू के वचन निज सागर हो, चलु चली हो नहाइ।
जनम-जनम के पपवा हो, छिन में डारब धुवाइ।
वहि तन के जग दीप कियो, सुत बतिया लगाइ।
पाँच तत्त के तेल चुआये, ब्रह्म अगिन जगाइ।
सुमति गहनवां पहिरलो हो, कुमति दिहलो उतार।
निर्गुन मंगिया संवरलौ हो, निर्भय सेंदुर लाइ।
प्रेम पियाला पियाइ के हो, गुरू दियो बौराइ।
बिरह अगिन तन तलफै हो, जिय कछु न सुहाइ।
ऊँच अटरिया चढ़ि बैठलु हो, जंह काल न खाइ।
कहै कबीर बिचारि के हो, जन देखि डेराय।

—कबीर साहेब की शब्दावली (भाग २), पृष्ठ ६९

सूतल रहलों में सखियां, तो विष कर आगर हो।
सतगुरू दिहले जगाइ, पायौ सुख सागर हो।
जब रहली जननी के ओदर, परन सम्हारल हो।
जब लौं तन में प्रान, न तोहि बिसराइब हो।
एक बुंद से साहेब, मंदिल बनावल हो।
बिना नेंव के मंदिल, बहु कल लागल हो।
इहवां गांव न ठांव, नहीं पुरा पाटन हो।
नाहिन बाट बटोही, नहीं हित आपन हो।
सैमर है संसार, भुवा उधराइल हो।
सुन्दर भक्ति अनूप, चले पछिताइल हो।
नदी बहै अगम अपार, पार कस पाइब हो।
सतगुरू बैठे मुख कोरि, काहि गोहराइब हो।
सत्तनाम गुण गाइब, सत न डोलाइब हो।
कहै कबीर धर्मदास, अमर घर पाइब हो।

—धनी धरमदास जी की शब्दावली, पृष्ठ १३

हिन्दी संत—साहित्य और मराठी भाषा

मराठी भाषा के सम्बन्ध में सामान्यत: यह मत मान्य है कि इसकी उत्पत्ति महाराष्ट्रीय अपभ्रंश से हुई है। बौद्धकाल में प्राकृत भाषाओं का अधिक प्रचलन था। साधारण जन-समाज में अपभ्रंश भाषायें प्रचलित थीं। संस्कृत भाषा में प्राय: साहित्यिक कृतियाँ ही उपलब्ध होती थीं। जन-जीवन के बीच में उसका प्रचार न था। फलत: संस्कृत भाषा का शुद्ध उच्चारण प्राय: लुप्त-सा होता जा रहा था। पर मराठी भाषा का धार्मिक दृष्टि से संस्कृत से अपना सम्बन्ध बना रहा।

सांस्कृतिक एवं साहित्यिक दृष्टि से महाराष्ट्र-समाज का एक प्रमुख स्थान रहा है। भवभूति तथा भास्कराचार्य जैसे लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान व्यक्तियों को जन्म देने का श्रेय इस समाज को प्राप्त है। महाराष्ट्री ब्राह्मण श्री राजशेखर ने अपनी कृति 'काव्य मीमांसा' द्वारा न केवल स्वत: कीर्ति अर्जित की है, अपितु उसने समस्त महाराष्ट्र प्रदेश को गौरवान्वित किया है। मैसूर, खानदेश, बम्बई आदि विभिन्न दूरस्थ स्थानों में सन् ९७९ और १२७० ई० के बीच के ऐसे अनेक उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए हैं जिनसे यह पता चलता है कि उस समय मराठी भाषा एक विस्तृत भूखंड में जन-जीवन के बीच प्रचलित भाषा के रूप में थी। इस तथ्य की पुष्टि विभिन्न दान-पत्रों एवं राजाज्ञा-लेखों से भी होती है। सन् १२७३ ई० का राज-शिरोमणि रामदेवराव का पण्ढरपुर का शिलालेख प्राप्त हुआ है। यह विशुद्ध मराठी भाषा में है।

मराठी भाषा का समग्र साहित्य पाँच विभिन्न कालों में बाँटा जा सकता है—[1]

(१) सन् ११८९–१३२० तक यादवकाल।
(२) सन् १३२०–१६०० तक बहमानीकाल।
(३) सन् १६००–१७०० तक मराठाकाल।
(४) सन् १७००–१८५० तक पेशवाकाल।
(५) सन् १८५०–१९५० तक अंग्रेजों का काल।

मराठी गद्य और पद्य दोनों में ही अत्यन्त उपयोगी एवं स्थायी साहित्य का निर्माण हुआ है। काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध तथा समालोचना—सभी दृष्टियों से मराठी साहित्य विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य के समक्ष अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

मराठी साहित्य के यादव काल में 'महानुभाव' नामक सम्प्रदाय का उदय हुआ था। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक चक्रवर थे। इनका प्रारम्भिक नाम हरपाल था। ये गुजरात के राजा त्रिमल्लदेव के मन्त्री विशालदेव के पुत्र थे। सन् १२६७ ई० में इन्होंने संन्यास ग्रहण किया और एक पारिव्राजक के रूप में अपना शेष जीवन व्यतीत

१. भारतीय वाङ्मय, पृ० १९४

किया। ये न केवल दार्शनिक चिन्तक थे, अपितु सामान्य जीवन से सम्बद्ध अनेक आचार परक बातों के सम्बन्ध में भी सदा उपदेश दिया करते थे।

महानुभाव-सम्प्रदाय के विद्वान लेखकों ने अपने गुरु चक्रधर के उपदेशों को संस्कृत भाषा में न लिख कर जन-जीवन की भाषा में लिखना उचित समझा जिससे सामान्य व्यक्ति भी उनसे लाभ उठा सकें।

महानुभाव-सम्प्रदाय ने जात-पाँत के बन्धनों को तोड़कर भक्ति का मार्ग सभी वर्ग के व्यक्तियों के लिए सुलभ करने का प्रयत्न किया। इसने परम्परागत रूढ़ियों और धार्मिक बन्धनों को अमान्य करके भक्ति के लिए एक सरल मार्ग निर्धारित किया। इस दृष्टि से ज्ञानदेव का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। इनके प्रभाव से विभिन्न वर्गों में भक्त-जनों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। ये भक्त गा-गा कर अपने उपदेशों को सुनाया करते थे। नामदेव जाति के दर्जी थे, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में इनका प्रमुख स्थान है। इसी प्रकार सावत माली, गोरा, कुम्हार, नरहरि सोनार, चौका महार आदि को जो जातीय दृष्टि से उच्च वर्ग के न थे, भक्तों की श्रेणी में अग्रिम स्थान प्राप्त हुआ। इन्होंने भागवत धर्म का प्रतिपादन किया और समस्त धार्मिक रूढ़ियां के अन्धानुसरण का विरोध किया।

मराठी संतों की यह परम्परा हिन्दी संतों के मेल में है। हिन्दी संत कवि भी जाति-पाँति के भेद को तथा बाह्याडम्बर को साधना के क्षेत्र में बाधक मानते थे। ये लोग भी अधिकांशतः निम्न वर्ग के ही प्राणी थे तथा जन-बोली में अपने अनुभवों का दान करते फिरते थे। इस प्रकार ये लोग जनता के अधिक निकट आ सके। मराठी तथा हिन्दी संत-कवियों का यह विचार-साम्य इस बात की भी पुष्टि करता है कि इनके विचारों का परस्पर आदान-प्रदान भी होता रहा होगा। दोनों ही वर्गों के संतों के जीवन का उद्देश्य एक था और ये संत घूम-घूम कर यत्र-तत्र अपने विचारों का प्रचार करते थे। फलतः न केवल भावों एवं सिद्धांतों का ही विनिमय हुआ, अपितु भाषा-सम्बन्धी आदान-प्रदान भी हुआ। सम्भवतः इसीलिए हिन्दी संत कवियों की रचनाओं में मराठी भाषा के भी शब्द पाये जाते हैं।

वर्ण-परिवर्तन की दृष्टि से हिन्दी का 'न' और 'र' भी महत्व रखते हैं। मराठी भाषा में क्रमशः 'ण' और 'ड' का रूप ग्रहण कर लेते हैं। यथा—

(१) कौण देश कहां आइया, कहु क्यूं जाणां जाइ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१

(२) दादू पड़दा भरम का रहा सकल घट छाइ।

—दादू०, भाग १, पृ० ८

हिन्दी में 'कौण' का 'कौन' और 'जाणां' का 'जाना' तथा 'पड़दा' का 'परदा' होगा। इसी प्रकार हिन्दी का 'ल' लिपि की दृष्टि से भी कुछ अंतर लिए हुए है

और कुछ-कुछ 'ण' के रूप में उच्चरित होता है ।

स्वर एवं व्यंजन के किंचित अंतर के साथ परिवर्तित मराठी शब्द संत-साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं । यथा—

यह तन काचा कुंभ है, लिया फिर था साथि ।
धबका लागा फूटि गया, कछू न आया हाथि ।।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४

हिन्दी का 'देवालय' शब्द मराठी में ग्राम्य प्रयोग 'देवल' और साहित्यिक रूप 'देऊल' पाया जाता है । संत-साहित्य में 'देवल' प्रयुक्त हुआ है—

ना मैं देवल ना मैं मसजिद ना काबे कैलास में ।

—कबीर साहेब की शब्दावली, प्रथम भाग, पृष्ठ ९६

संत-साहित्य में मराठी के कितने ही ऐसे शब्द पाए जाते हैं जो यातो हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं और यदि हैं भी तो अल्प मात्रा में ही हैं । कतिपय उदाहरण देखिये—

गुरु गारुड़ी मिल्यो नहिं कवहीं, विष पसर्‌यो बिकरारा ।

—कबीर शब्दावली १, पृ० ८

माटी मलणि कुम्भार की घणीं सहै सिर लात ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३

दुनियां भांडा दुख का भरी मुहांमुह भूष ।

—कबीर ग्रंथावली, पृ० २५

कबीर सुपने रैनि के ऊघड़ि आये नैन ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३

कबीर कूता राम का मुतिया (मोत्या) मेरा नाऊं ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०

इसी प्रकार 'गंजिफा', 'कागद', 'आणिये', 'अन्न', 'खजिना', 'जतनकरि' आदि शब्द भी संत-साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं जो मराठी में व्यवहृत होते रहते हैं । इस प्रसंग में 'अन्न' शब्द पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है । हिन्दी में अन्न शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से अनाज के लिए होता है। पर मराठी में अन्न का प्रयोग पके हुए भोजन के लिए ही किया जाता है । यथा—

अन्न न भावै नींद न आवै गृह बन धरे न धीर रे ।

—कबीर (शब्दावली १) पृ० ८

संत-साहित्य में पाए जाने वाले ठेठ मराठी भाषा के कतिपय अन्य शब्द ये हैं—

अम्हंचा (शुद्ध मराठी रूप आमचा)—हमारा

तुम्हें अम्हंचा सिव, तुम्हें अम्हंची शक्ति ।
तुम्हें अम्हंचा आगम, तुम्हें अम्हंची उक्ति ।।

—दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० ९३

तुम्हंचा—शुद्ध मराठी रूप तुमचा—तुम्हारा ।

तूं सति तूं अवगति तूं अपरंपार, तूं निराकार तुम्हंचा नाम ।

—दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० ९३

आपण—स्वयं ।

कबीर आपण राम कहि औरो राम कहाइ । —क० ग्रं०, पृ० ६

आणी—लाता है ।

जालण आणी लाकड़ी, ऊठी कूंपल मेल्हि ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८६

पाणी काढ़ि—पानी निकाल कर ।

सद पाणी पाताल का, काढ़ि कबीरा पीव ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७९

संत-साहित्य में घाल्यां, हलयो, आण्या आदि कतिपय ऐसी क्रियायें भी प्रयुक्त हुई हैं जो प्रत्यक्षतः पंजाबी-सी प्रतीत होती हैं, पर वे मराठी भाषा में भी प्रचलित हैं । यथा—

कबीर केसौ की दया संसा घाल्यां खोई ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ७९

साथ संभोई हल्यो, पोइ पसंदो करे ।

—दादू०, (भाग १), पृ० १०२

दीपक पावक आंणियां, तेल भी आंण्यां संग ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११

पर ये प्रयोग विशुद्ध मराठी नहीं हैं । इन्हें हम मिश्र प्रयोग मान सकते हैं, जिनमें मूल धातु मराठी है पर प्रत्यय पंजाबी या गुजराती, प्रभाव से प्रभावित हैं ।

मराठी भाषा में संस्कृत भाषा की भाँति कतिपय रूपों में विभक्ति सूचक शब्द अलग न होकर विभक्तिगत रूप शब्द में ही निहित होता है । यह प्रवृत्ति सप्तमी विभक्ति में देखने को मिलती है । यथा—

'घर में' न कह कर 'घरि'[1] कहेंगे । इसीप्रकार 'अंत में' न कह कर 'अंति'[2]

१. तिहि घरि किसको चानिणो, जिहि घरि गोबिंद नाहिं ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २

२. खाता मीठी खांड सी अंति कालि विष होइ । —कबीर ग्रन्थावली, पृ०

और 'उर में' न कहकर 'उरि'[1] कहेंगे ।

अष्टमी (सम्बोधन) में अकारान्त शब्दों को दीर्घ करने की प्रवृत्ति भी मराठी में पाई जाती है । यथा 'देव' शब्द को हिन्दी में सम्बोधन में कहेंगे 'हे देव' पर मराठी में 'हे देवा[2]' कहा जायेगा ।

संत साहित्य में प्रयुक्त शब्द 'मध्य' मराठी भाषा में 'मद्धे' हो जाता है । संस्कृत अथवा हिन्दी में जिस अकारान्त शब्द के साथ यह संयुक्त होता है वह मराठी में दीर्घ हो जाता है । यथा—

'गगना मद्धे'[3] घरा मद्धे होगा । संस्कृत-हिन्दी में 'गगन मध्य', 'घर-मध्य' लिखा जाता है ।

संत-साहित्य में गुजराती भाषा के शब्द

गुजराती भाषा अति मधुर है । इसके लालित्य और माधुर्य ने इसे प्रियत्व प्रदान किया है । आधुनिक युग में गुजराती को महात्मा गाँधी ने समृद्ध किया है और उनकी रचनाओं के कारण इस भाषा का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है ।

गुजराती भाषा की वर्णमाला भी हिन्दी वर्णमाला के ही समान है । स्वर और व्यंजनों की संख्या भी लगभग समान ही है । केवल गुजराती में एक ऐसा 'ल' अधिक है जो हिन्दी के 'ल' के समान है, किन्तु उच्चारण कहीं-कहीं 'ड़' के समान किया जाता है, कहीं 'र' के समान और कहीं-कहीं 'र' और 'ड़' के बीच का-सा होता है ।

हिन्दी भाषा में 'ज्ञ' का उच्चारण 'ग्यां' के समान किया जाता है जबकि इसका शुद्ध उच्चारण 'ज्न' के समान होना चाहिए । गुजराती भाषा में 'ज्ञ' का उच्चारण 'ग्न्य' होता है ।

फारसी भाषा के कुछ वर्णों के लिए हिन्दी में उनके लिए नीचे बिन्दी लगाई जाती है, किन्तु गुजराती में ऐसा नहीं किया जाता है । जैसे क, ग, ज, फ । यह वर्ण गुजराती भाषा में बिना नीचे बिन्दी दिये ही लिखे जावेंगे और इनका उच्चारण सामान्य वर्णों के समान होगा । यथा 'कागज' (काग़ज), 'कलम' (क़लम), 'जमीन' (ज़मीन), फसल' (फ़सल) ।

गुजराती में 'ड' और 'ढ' के नीचे बिन्दी लगाकर अलग ध्वनि नहीं बनाई जाती, वरन् ज्यों का त्यों रखकर उसका उच्चारण 'ड़' और 'ढ़' के समान कर लिया जाता है । अलीगढ़ को लिखा जायेगा 'अलीगढ' और गड़बड़ को 'गडबड' लिखा जायगा ।

१. एक हमारे उरि बसै, दूजा मेल्या दूरि । —दादू०, (भाग १) पृ० ९४
२. देवा हमन पास करंत अनंता, पतित पावन तेरा बिरद क्यों कहंता ।—रैदास०, पृ०१५
३. गगना मद्धे जोती झलके, पानी मद्धे तारो । —क० (शब्दावली १), पृष्ठ ४४

अनुस्वार (ं) और चंद्रबिंदु (ँ) दोनों के लिए गुजराती में अनुस्वार का ही प्रयोग किया जाता है। उच्चारण में भेद होता है, लिखने में नहीं। जहाँ पूर्ण अनुस्वार हो वहाँ पूरी ध्वनि का उच्चारण होता है। अतएव गुजराती में स्थान देख कर काम लिया जाता है।

हिन्दी या संस्कृत भाषा के समान गुजराती में ङ, ञ, ण, न, म की अन्य व्यंजनों से संधि नहीं होती, केवल अनुस्वार से ही काम चला लिया जाता है। जैसे—

हिन्दी रूप	गुजराती रूप
अङ्ग	अंग
घण्टा	घंटा
कम्प	कंप
पञ्च	पंच
अन्त	अंत

अल्पप्राण और महाप्राण व्यंजन जब संयुक्ताक्षर के रूप में आते हैं तब अधिकांश गुजराती शब्द द्वित्व हो जाते हैं। जैसे 'चिट्ठी' और 'पत्थर' शब्द गुजराती में चिट्ठी' और 'पथ्थर' हो जावेंगे।

अधिकांश दीर्घ शब्दों का बहुवचन बनाने पर भी ईकारान्त में कोई अन्तर नहीं आता। जैसे—'नदी' का 'नदीओ' खूबी का 'खूबीओ।

हिन्दी भाषा में कोई विभक्ति चिह्न शब्द के साथ लगाते हैं तो कोई शब्द से से अलग लगाते हैं। किन्तु गुजराती भाषा में विभक्तियाँ सदैव शब्द के साथ ही लगती हैं।

मात्रायें भी गुजराती और हिन्दी में एक ही प्रकार से लगाई जाती हैं। केवल 'ज' और 'र' का रूप ही थोड़ा बदल जाता है।

गुजराती भाषा में तालव्य 'श' का उच्चारण दन्त्य 'स' के समान होता है। इसका कारण गुजराती का व्रजभाषा से निकट का होना ही विदित होता है। गुजराती में लिखा तो जायगा 'शुं छे' (क्या है ?) किन्तु उच्चारण 'सूं छै' के समान किया जावेगा।

गुजराती भाषा के सर्वनाम रूप

	एक वचन		बहुवचन	
	हिन्दी	गुजराती	हिन्दी	गुजराती
उत्तम पुरुष—	मैं	हुं	हम	अमे, आपणे
मध्यम पुरुष—	तू	तू	तुम	तमे
अन्य पुरुष—	वह	ते	वे	ते ओ
निश्चयवाचक—	यह	आ	ये	ए, ओ
	वह	ते, पेलो	वे	ते, ओ, ओलो

विशेषण शब्द

हिन्दी	गुजराती	हिन्दी	गुजराती
अक्खड़	अक्कड	देहाती	गामडियो
अपरिचित	अजाडयों	निरक्षर	अमण
छोटा	नानों	मोटा	जाडो
दायां	जमणो	व्यर्थ	नकाओ
दूसरा	बीजो	सयाना	डाह्यो

अव्यय

हिन्दी	गुजराती	हिन्दी	गुजराती
अतएव	एटला माटे	कब तक	क्यां सुधी
और	अने	जब तक	ज्यां सुधी
तरह	जेवुं	अब से	अत्यार थी
परन्तु, भी, पर	पण	क्योंकि	कारण के
यदि	जो	बाद	पछी
लिए	माटे	बिना	वगर

क्रिया पद

हिन्दी व्याकरण के समान ही गुजराती भाषा में भी क्रिया के दो रूप होते हैं। गुजराती में भी संयुक्त क्रिया, प्रेरणार्थक क्रिया आदि होती हैं। क्रिया पदों को स्पष्ट करने के लिए 'लाना' क्रिया के रूप सब भेदों में नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

वर्तमान काल	हिन्दी	गुजराती
शुद्ध वर्तमान	वह लावे।	ते लावे।
अपूर्ण वर्तमान	वह लाता है।	ते लावे छे।
प्रथम पूर्ण	वह लाया है।	ते लाव्यो छे।
द्वितीय पूर्ण	वह लाया हुआ है।	ते लावे लोछे।

भूतकाल	हिन्दी	गुजराती
(१) **शुद्ध भूत**		
प्रथम	वह लाया	ते लाव्यो।
द्वितीय	वह लाया हुआ	ते लावेलो।
नियमित	वह लाया करता	ते लावतो हतो।
	वह लाया करता था	ते लाव्यो हतो।
(२) **अपूर्ण भूत**	वह लाया हुआ था	ते लाव्यो हतो।

(३) पूर्ण भूत	वह लाया था	ते लावेलो हतो ।
	वह लाया था	ते लाव्यो हतो ।
(४) इच्छावाचक	वह लाने वाला था	ते लावनार हतो।
	वह लाने वाला था	ते लावंवानो हतो।
	उसे लाना था	तेने लाववुं हतुं ।

भविष्यत्काल भेद

	हिन्दी	गुजराती
(१) शुद्ध-	वह लायेगा ।	ते लावशे ।
(२) अपूर्ण-	वह लाने वाला था ।	ते लाववानो हतो ।
(३) पूर्ण-	वह लाया हुआ होगा ।	ते लावेलो हशे ।
(४) इच्छावाचक-	वह लाने वाला होगा ।	ते लावनार हशे ।
	वह लाने वाला होगा ।	ते लाववानो हशे ।
	उसे लाना होगा ।	तेने लाववुं हशे ।

विभक्ति

हिन्दी भाषा के समान ही गुजराती में आठ विभक्तियाँ हैं, किन्तु आठवीं सम्बोधन विभक्ति को कर्त्ता कारक का ही एक रूप गिन लिया गया है । इस प्रकार गुजराती भाषा में सात विभक्तियों को ही माना जाता है । छठी विभक्ति (सम्बन्ध कारक) का सम्बन्ध संज्ञा के साथ होने के कारण उसे गुजराती में विशेषण विभक्ति भी कहते हैं । शेष सभी विभक्तियों का सम्बन्ध क्रिया के साथ होने के कारण ही उन्हें कारक विभक्ति कहते हैं ।

हिन्दी भाषा में विभक्ति को कारक कहते हैं और कारक बताने वाले चिह्न को विभक्ति या विभक्ति चिह्न कहते हैं । गुजराती भाषा में विभक्ति या विभक्ति चिह्न को प्रत्यय कहते हैं । गुजराती भाषा में विभक्ति चिह्न शब्द के साथ जुड़ता है, किन्तु हिन्दी में यह अधिकतर अलग लिखा जाता है । यद्यपि कुछ लोग विभक्ति चिह्न को शब्द के साथ भी लिखते हैं ।

गुजराती भाषा में विभक्तियों के चिह्न नीचे दिए जाते हैं–

पहली विभक्ति :	(कर्ता, सम्बोधन कारक)	कोई चिह्न नहीं
दूसरी ,,	(कर्म कारक)	ने
तीसरी ,, :	(करण कारक)	ए, ई
चौथी ,, :	(सम्प्रदान कारक)	ने, माटे
पाँचवीं ,, :	(अपादान कारक)	थी, थकी
छठी ,, :	(सम्बन्ध कारक)	नो, ना, नी, नुं, नां
सातवीं ,, :	(अधिकरण कारक)	मां, ए, ऊपर

इन विभक्तियों के प्रयोग इस प्रकार हैं–

	गुजराती	हिन्दी
पहली विभक्ति :	मोहन पुस्तक वांचे छे० (कर्ता या संज्ञा के अर्थ में)	मोहन पुस्तक पढ़ता है ।
	बहेन हवे तोफान बंद कर (सम्बोधन के अर्थ में)	बहिन अब तूफान बंद कर
दूसरी ,, :	राम पाठ वांचे छे ।	राम पाठ पढ़ता है ।
तीसरी ,, :	राम दीवे वांचे छे ।	राम दीपक के द्वारा पढ़ता है ।
चौथी ,, :	मोहने मित्रने पत्र लख्यो ।	मोहन ने मित्र को पत्र लिखा ।
पांचवीं ,, :	मोहन राम थी नानो छे ।	मोहन राम से छोटा है ।
छठी ,, :	पेली माटीनी माटली छे ।	वह मिट्टी की मटकी है ।
सातवीं ,, :	ते शहर मां रहे छे ।	वह शहर में रहता है ।

संत कवियों की भाषा में पाए जाने वाले कतिपय गुजराती प्रयोगों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं–

सर्वनाम

कांई : (कोई) : कांई न थी वस्तु तां अन्य कल्पना मात्र है । –सुं० ग्रं०, पृ० ८५३

जेन्हों (जिसका) : जेन्हों आदि न अन्त न मध्य महावाक्यें कह्यो ।
–सुं० ग्रं०, पृ० ७५३

तम्हें (तुम) : तम्हें सांभालिज्यौ श्रुतिसार वाक्य सिद्धांतना ।
–सुं० ग्रं०, पृ० ८५४

तेन्हीं (तिसका) : तेन्हीं पटतर न थी अनेक सर्वसुख स्वर्गना ।–सुं० ग्रं०, पृ० ८६४

पोतानी (अपना) : सतगुरु मिलैत संसय जाये । पोतानी बांणै महिमाये ।
–सुन्दर ग्रंथावली, पृ० ८४०

विशेषण

कड़वो : अमृत कड़वो विष हम लागी, खातां अति मीठो ।
–दादू०, (भाग २), पृष्ठ ७६

घणा (बहुत) : चहुं दिसि मंगलचार, आनन्द अति घणाये ।
–दादू० (भाग २), पृ० ६९

घणेरा (बहुत) : हस्ती, घोड़ा, बैल वांहणी, संग्रह किया घणेरा ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०९

मोटे (बड़े) : मोटे भाग कबीर के, तहाँ रहे घर छाइ ।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१

मोकला (स्वतन्त्र): मुकति दुआरा मोकला, सहजै आवौ जाउ ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २५०

रूड़ी (सुन्दर) : ए ही एक तूं राम जी, नांव रूड़ी ।—दादू० (भाग २), पृष्ठ ७६

अव्यय

केम (कैसे, किस प्रकार) : हवे केम मने जागे मेली । —दादू० (भाग २), पृ० ९

काकर (किस तरह) : मुये मर्म को काकर जाना । —कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६४

ज्यारें (जैसे ही) : ज्यारें कीधौं भांन प्रकास, भ्रम ततक्षण गयौं ।

—सुन्दर ग्रंथावली, पृ० ८५३

नै (और) : हूं ताहरो नै तैं कीधो । —दादू० (भाग २) पृ० १७०

पणि (पर, किन्तु) : श्रवण छै पणि सुरति नाहीं, नैंन छै पणि अंधरे ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१७

पेणौं (तरह) : औधूत जोगी आतमां काई, पेणौं सजम न्हाहिरे ।

—कबीर ग्रंथावली, पृ० २१८

सगलै (सर्वत्र) : तेन्हीं सगलै आवै बास । —सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ८५३

हुवै (अब) : हवै केम मने जागे मेली । —दादू० (भाग २), पृ० ९

क्रिया

वतमानकाल

छे (है) : दाम छे पणि कांम नांहीं, ग्यांन छे पणि धंध रे ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१७

जाणें (जानता है) : जेन्हें अनुभव जाणें तेहज किम कहवाइ छे ।

—सुन्दर ग्रंथावली, पृ० ८५४

भूतकाल

उभैषै : (खड़ा ही रह गया)

ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या मैं रह्या उभैषै । —क० ग्रं०, पृ० १४१

थे (हुए) : बहुत दिनन थे मैं प्रीतम पाये । —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८७

यथा (हुआ), **जारायो, पिछाण्यों** : जीव यथा ज्यारैं देह हूं जारायौं,

निज सरूपनथी आ पिछाण्यौं । —सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ८४०

बुणियां (बुना) : पीछैं बुणियां वाणो —क० ग्रं०, पृ० १८६

लीधी (लिया) : तुझ विना हूं आंतरे रव ल्यो कीधी कमाई लीधी रे ।

—दादू० (भाग २), पृष्ठ ५५

भविष्यतकाल

थाशे (होगा) : छूटको मारो केहि पर थाशे सक्यो न राम अराधीरे ।

—दादू० (भाग २), पृष्ठ ५५

राखिस (रखूंगा) : राखिस तूनें रिदा मझारि । –दादू० (भाग २), पृष्ठ १११

आज्ञार्थ

आपै आप (दे) : सुमिरतां संतनै साद आपै । –दादू० (भाग २), पृष्ठ ७६

रमाड़ो (आनन्द दो) : दादू रंग भरि राम रमाड़ो । –दादू० (भाग २), पृ० ६४

गुजराती भाषा के पद

ते मैं कीधला राम जी, जै तै वास्या ते ।
मारग मेल्हि अमारग अणसरि, अकरम करम हरे ।।टेक।।
साधू को संग छाड़ीनै, असंगति अणसरियौ ।
सुकिरत मूकी अविद्या साधी विषिया विस्तरियौ ।।१।।
आन कह्यो आन सांभलियौ, नेणौं आन दीठौ ।
अमृत कड़वो विष हम लागो, खांता अति मीठौ ।।२।।
राम रिदा थैं बिसारी, मैं माया मन दीधौ ।
पांच प्राणी गुरमुखि बरज्या, ते दादू कीधौ ।।३।।

–दादूदयाल की बानी, पृ० ११७

जो वो पूरण ब्रह्म अखंड अनावृत एक छे ।
न थी बीजां अवर न कोई यह बिबेक है ।। (टेक)
इम बाह्याभ्यंतर व्योम तिम व्यापी रह्यो ।
जेन्हो आदि न अन्त मध्य महा बाक्यें कह्यो ।।१।।
ते जे देहादिक भ्रम रूप ते इम जांणि ज्यो ।
इम मृग तृष्णा में नीर निश्चय आंणि ज्यो ।।२।।
ये जे शेष नाग पर्यंत ऊर्द्ध लोक छै ।
ये तां जे दीसै नानात्व ते सब फोक छै ।।३।।
जेन्हें उपनो आत्मज्ञान तेन्हौं भ्रम टल्यो ।
कहै छै सुन्दर पानी माँहि इम पालो गल्यो ।।४।।

–सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ८५२

संत-साहित्य में फारसी, अरबी के शब्द एवं पद

भारतवर्ष की प्राचीनतम भाषा 'वैदिक भाषा' के नाम से प्रख्यात है और फारस की अति प्राचीन भाषा 'जेन्द' मानी जाती है । पारसियों के धर्म-ग्रन्थ अवेस्ता की भाषा 'जेन्द' ही है । यदि हम 'जेन्द' शब्द को पाणिनीय छंद शब्द से मिला दें तो यह अनुपयुक्त न होगा । पाणिनि ने वैदिक भाषा को छंद भाषा नाम दिया है–"छंदसि लुङ् लङ् लटिच" भाषा वैज्ञानिक अध्ययन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वैदिक भाषा और 'जेन्द' भाषा में अत्यधिक साम्य है । इस साम्य के मूल में ऐतिहासिक घटनायें

कार्य कर रही हैं। अरब-निवासी-इस्लाम धर्ममतावलम्बियों ने ईरान (फारस) पर आक्रमण करके वहाँ अपने धर्म का प्रचार करना चाहा। पैतृक सम्पत्ति की ममता से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अधिकांश ईरानियों ने अरबों के इस्लाम को स्वीकार कर लिया पर कुछ ऐसे भी ईरानी थे जिन्होंने स्वधर्म को स्वदेश से भी अधिक महत्व प्रदान किया। उन्होंने ईरान छोड़कर भारतवर्ष में गुजरात के हिन्दू नरेश की शरण स्वीकार की। फारस (पारस) से आए हुए ये फारसी (पारसी) लोग भारतीय जन-जीवन से अधिकाधिक मिल जुल गए। इस मेलजोल का परिणाम भाषा पर भी पड़ा।

पश्चिमी ईरान की भाषा पहलवी है। इसी से वर्तमान फारसी भाषा की उत्पत्ति मानी गई है। जिस प्रकार वैदिक भाषा और पारसियों की धार्मिक भाषा 'जेन्द' परस्पर साम्य रखती है उसी प्रकार संस्कृत और फारसी भाषा में भी बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। दोनों ही भाषाओं की गणना आर्यभाषा-परिवार में की जाती है। यहाँ पर संस्कृत और फारसी का रूप-साम्य देख-लेना अप्रासंगिक न होगा।

संस्कृत	फारसी	संस्कृत	फारसी
पितृ	पिदर	बाहु	बाजू
मातृ	मादर	पञ्च	पन्ज
तनु	तन	गौ	गाव
आप: (जल)	आब	दश	दह
शर्करा	शकर	हर्म	हरम
वर्षा	बारिश	शृगाल	शगाल
द्वार	दर	सायं	शाम
नव	नौ	कपोत:	कबूतर

ऊपर के उद्धरणों द्वारा संस्कृत और फारसी शब्दों की जो एकरूपता व्यक्त होती है, उसका व्याकरणिक आधार भी है। निश्चित नियमों के अनुसार शब्दों में परिवर्तन भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ—संस्कृत शब्द के आकार का लोप हो जाने से फारसी शब्द बन जाता है। यथा वृक्ष की डाली के अर्थ में शाखा (संस्कृत) और शाख (अरबी) तथा भय अर्थ में त्रास संस्कृत और त्रस (फारसी) शब्द बनेंगे। ह्रस्व स्वर के दीर्घ स्वर बन जाने से भी संस्कृत शब्द से फारसी शब्द बन जाते हैं। यथा पुत्र (संस्कृत) और पूर (फारसी) कर्पूर (संस्कृत) और काफूर (फारसी)।

संस्कृत शब्दों का संयुक्त 'ष्ट' फारसी में 'श्त' हो जाता है—

संस्कृत	फारसी	संस्कृत	फारसी
अंगुष्ट	अंगुश्त	मुष्टि	मुश्त
सृष्टि	सरश्त	उष्ट्र	उश्तर (शुतर)

संस्कृत शब्दों के अन्त में आने वाला 'त' अक्षर फारसी में 'द' बन जाता है। यथा—

संस्कृत	फारसी	संस्कृत	फारसी
वाताम	बादाम	वेत्र, वेत	वेद
दन्त	दन्द	शत	सद
जामातृ (जामाता)	दामाद	मातृ	मादर

ऊपर के इन उद्धरणों द्वारा हमने यह देखने का प्रयत्न किया कि संस्कृत और फारसी शब्दों में कितनी अधिक एकरूपता है। आगे हम उन कारणों पर विचार करेंगे जिनसे हिन्दी भाषा के अन्तर्गत विभिन्न विदेशी शब्दों का अधिकाधिक समावेश होता गया है।

जातियों का पारस्परिक सम्पर्क ही भाषा सम्पर्क का कारण बनता है। पुर्तगाली शब्द अलमारी, गिरजा, फाल्तो (फालतू) आदि जातीय सम्पर्क के परिणाम हैं। हिन्दी भाषा में पाये जाने वाले अरबी और फारसी शब्दों की भी यही कहानी है। हिन्दी साहित्य का आदि काव्य-ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो जातीय सम्पर्क के प्रभाव का उद्घाटन करता है। रासोकार कवि चन्दवरदाई लाहौर का निवासी था। चन्द से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व से ही पंजाब पर मुसलमानों के प्रभाव काम कर रहे थे। शासन अथवा व्यवसाय के माध्यम से मुसलमानों का सम्पर्क हिन्दुओं से बढ़ता गया।

मुसलमानों ने भारतवर्ष में प्रवेश करते ही सर्वप्रथम यहां की भाषा हिन्दी को सीखना प्रारम्भ किया। किसी भी भाषा का उच्चरित रूप लिखित रूप की अपेक्षा सरल होता है। अस्तु उन्होंने हिन्दी को अपनी ही लिपि में लिख-लिख कर काम चलाया। मुसलमानों ने हिन्दी का व्यवहार केवल अपने ही कार्य के लिए किया, किसी प्रकार के भाषा-प्रेम-वश नहीं। खुसरो सरीखे व्यक्ति इस तथ्य के अपवाद हो सकते हैं। पर सामान्यतः मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता उनके भाषा सम्बन्धी व्यवहार में भी देखी गई है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उर्दू के व्याकरण का मूल आधार अरबी व्याकरण है उर्दू आर्यभाषा परिवार में पालित-पोषित होती हुई भी सेमेटिक परिवार की भाषा अरबी के व्याकरणिक नियमों से नियमित होने में गौरव अनुभव करती है।

मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता का प्रभाव उनकी चिंतन-पद्धति पर भी विशेष रूप से पड़ा है। भारत का प्रत्येक मुसलमान यहीं के धूलिकणों से पालित-पोषित होता है, यहीं की भूमि में प्रवाहित होने वाली सिंध, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, गोदावरी आदि नदियों के जल-सीकरों को ग्रहण करता है, यहीं की शस्यश्यामला से उदरपोषण के लिए धन-धान्य प्राप्त करता है, यहीं पर उसे ऊषा की अनुराग लालिमा का पुनीत दर्शन प्राप्त होता है, यहीं पर उसे कोकिल अपनी रस भरी तान द्वारा ऋतुराज वसंत के आगमन का संदेश सुनाती है, सरसों में कुसुमित होने वाले शतदल यहीं पर तो उसे कोमलता, स्निग्धता, शान्ति एवं विकास का संदेश देते हैं, यहीं

पर उसके समक्ष हिमाच्छादित उत्तुंग शैलमालायें आत्मा को महानता और उसके गौरव का स्वरूप उपस्थित करती है पर उसके लिए सामान्यत: इनमें कोई आकर्षण नहीं है । किसी भी तथ्य के अपवाद भी हो सकते हैं, पर सामान्यता: देखा यही जाता है कि मुसलमान शायर उपमानों को खोजने के लिए अपने भाव-लोक में नदियों, बीहड़ बनों और पर्वत मालाओं को फांदता हुआ अरब और ईरान पहुँच जाता है, भले ही वहां उसे पहचानने वाला कोई भी न हो । वह आँखों के सौन्दर्य-वर्णन के लिए अपने सामने के कमल, खंजन, मीन, तथा मृगछौनों की आँखों को नहीं देख पाता और बादाम के दानों की तलाश करने लगता है । कभी-कभी उसकी ख्याली दुनियाँ में नर्गिस का एक गोल कटोरी के समान फूल खड़ा हो जाता है जिसमें आँख के उपमान के लिए कोई भी सारूप्य नहीं है । जो वस्तु भारत की है उस पर गर्व न करके ऐसी वस्तुओं की ओर दौड़ लगाना जिनसे हमारा कभी साक्षात्कार भी नहीं हुआ, यह धार्मिक कट्टरता नहीं तो और क्या ? इस प्रसंग में अमीर खुसरो, मलिक मोहम्मद जायसी, अब्दुल रहीम खानखाना, रसखान आदि उदारचेता एवं परम मनीषी एवं रससिद्ध व्यक्तियों को विस्मृत नहीं किया जा सकता । इन्होंने अपनी पीयूषसिक्त वाणी द्वारा कोटि-कोटि हृदयों की पिपासा को न केवल शांत ही किया है, वरन् उनके जीवन की महानता की ओर अग्रसर भी किया है । पर अधिकांशत: इस्लाम की प्रवृत्ति कट्टरता की ओर ही रही है । इसने भारत में अरबी और फारसी भाषाओं को बल प्रदान किया । उर्दू के समर्थकों ने न केवल काव्य रचनाओं द्वारा अरबी और फारसी को महत्व दिया, अपितु पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में भी अरबी का आश्रय लेकर हिन्दी और उर्दू इन दोनों भाषाओं के बीच में एक बहुत बड़ी पुष्ट दीवाल खड़ी करने का श्रेय भी प्राप्त किया । इन सब प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो हिन्दी के नाम पर ब्रज, अवधी, भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, छत्तीसगढ़ी आदि भाषायें एवं उप-भाषायें प्रचलित हुईं और दूसरी ओर उर्दू फारसी और अरबी के प्रभाव को लेकर भाषा-क्षेत्र में आगे बढ़ी ।

मुसलमानों के शासन ने भारतीय हिन्दुओं को जीविकोपार्जन के लिए अरबी फारसी प्रधान उर्दू भाषा के अध्ययन के लिए विवश किया । कालान्तर में हिन्दी भाषा में अरबी, फारसी के ऐसे अनेक शब्द आकर इतने अधिक घुलमिल गये कि उनका विदेशीपन प्राय: लुप्त-सा हो गया । हिन्दी के विशाल प्रांगण में घूमते-फिरते एवं उसमें क्रीड़ा करते हुए वे उसके ही हो गये, जामा-बगल बन्दी, मिरजई, रूमाल पायजामा, दोशाला, तकिया, जंजीर, गुलूबन्द, पिस्ता, बादाम, मुनक्का, सेब, अनार, हलुआ, जलेबी आदि शब्दों को हिन्दी से कैसे अलग किया जा सकता है । हम यदि प्रयत्नपूर्वक वकील, दलाल, सर्राफ, बजाज, दावत, स्याही, चश्मा, लगाम, मस्तूल, दालान, मल्लाह, कारीगर आदि शब्दों से पिण्ड छुड़ाना भी चाहें तो नहीं छुड़ा सकते । ऐसे कितने ही शब्द विदेशी होते हुए भी हमारी श्वास-प्रश्वास से मिल

कर हमारे अपने ही शब्दों के समान हो गए हैं ।

इस अत्यधिक आत्मीयता के परिणामस्वरूप आज हिन्दी की प्रायः प्रत्येक रचना में कुछ-न-कुछ फारसी-अरबी शब्द अपना प्रभाव रखते ही हैं। संत कवियों की भाषा में इनके दर्शन स्पष्टतापूर्वक किये जा सकते हैं । हिन्दी संत-कवियों के आदि गुरु महात्मा कबीर पर इस्लाम का प्रभाव प्रत्यक्ष ही है । सूफियों ने भी उनकी चिंतनधारा को प्रभावित किया था, अस्तु उनकी भाषा में अरबी-फारसी शब्दों का आना स्वाभाविक था । आगे आने वाले संत-कवियों ने शिष्य-परम्परा के कारण जहाँ एक ओर सिद्धान्त पक्ष को ग्रहण किया, वहीं दूसरी ओर भाषागत प्रभाव से भी प्रभावित हुए । यही कारण है कि इन संतों में फारसी और अरबी के शब्द यत्र-तत्र पाये जाते हैं । कतिपय संत-कवियों ने तो कुछ रचनायें विशुद्ध अरबी-फारसी शब्दों में ही की हैं । इससे उनके वाणीविलास और रुचि वैशिष्ट्य का पता चलता है । यहाँ हम कुछ फारसी-अरबी के शब्द तथा इन्हीं से निर्मित पदावलियाँ उपस्थित करेंगे जिससे संतों द्वारा प्रयुक्त भाषा वैचित्र्य के रूप का पता चल सके ।

फारसी भाषा के शब्द

अंदेसा : जाने जीव कहं परा अंदेसा । —कबीर बीजक, पृ० १५

आब—(संस्कृत 'आपः') : आब की बुंदहि वजूद पैदा किया ।
—सुंदर विलास, पृ० ४

कमीन—(नीच) : अधम कमीन जाति मति हीना । —दरिया बानी, पृ० १६

खानेजाद—(खाना जाद)—घरेलू नौकर : खानेजाद कदीमी कहियो तुही आसरो मेरो ।
—चरनदास बानी, पृ० ४४

गुनेगार (गुनहगार) रोम रोम गुनेगार है बखसो हरि मेरे ।
—चरनदास बानी, पृ० ४४

जिमीं—(जमीन) : मेह बरसै कालर जिमीं, खेत न उपजै छित्त ।
—सहजोबाई, पृ० १२

तुरक—(तुर्क) : पेटे न काहू वेद पढ़ाया, सुनति कराय तुरक नहिं आया ।
—कबीर बीजक, पृ० १

दिवाना—दीवाना : भया दिवाना और की सपनी । —कबीर बीजक, पृ० १०

दरिया : दरिया लहरि समानी । —कबीर बीजक, पृ० २८

दाइम (निरंतर) : दाइम दुवा करद बजावैं मैं क्या करूं भिखारी ।
—क० ग्रं० पृ० १९७

दरगाह—(दरवाजे का स्थान) : हिम राखै दरगाह में तो प्यारा होवै ।
—मलूकदास०, पृ० १६

दरीजै–(दरीबा)–झरोखा : मनवाँ जाइ दरीबै बैठा, मगन भया रस लागा ।
—क० ग्रं०, पृ० १७०

पीर–बुड्ढा : मुरसिद पीर तुम्हारै है को, कहा कहाँ थैं आया ।
—क० ग्रं०, पृ० ११०

पैमाल–(पायमाल) : एक कनक अरु कामिनी दोऊ अगनि की झाल'
देखें तौ तन प्रजलै, परस्या है पैमाल । —क० ग्रं०, पृ० ४०

फरमाया–(फरमाना)– आज्ञा करना : बकरी मुरगी किन फरमाया ।
—क० बीजक पृ० १६

बखतरी–(बख्तर)–कवच : पहिरे जड़ तन बखतरी, चुभै न एको तीर ।
—कबीर बीजक, पृष्ठ १०६

बिलायत–(परदेश) : मंदिर कहल बिलायत हैं गंज । —सुन्दर विलास, पृष्ठ १२

मैदां–(मैदान) : प्रीति की रीति से जीत मैदां लिया । —बुल्ला सा० श०, पृ०२०

सहर–(शहर) : बार बार हरि का गुण गावै, गुर गमि भेद सहर का पावै ।
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०८

सुमार–(शुमार) : कोई सुमार न देखू ये सब चोभा । —रैदास बानी, १३

सिरताज–(शिरोमणि) : तुम तो है सिरताज हमारा । —दरिया (मारवाड़) पृ० ३६

हुबाब–(हुबाब)–पानी का बुल्ला : उठने में तो हुबाब है जी ।
—कबीर ज्ञान गु०, पृष्ठ ४७

अरबी भाषा के शब्द

अहमक–(अहमक) : अहमक खेहा खाय । —कबीर बीजक, पृष्ठ ६

आसिक–(आशिक) : जस बिनु जोति रूप बिनु आसिक । —कबीर बीजक, पृ० ३९

अमल–(काम) : जिन अमल पसारा । —कबीर बीजक, पृष्ठ ६८

अकिल (अकल) : घरहुं के अकिल गंवाई हो । —कबीर बीजक, पृष्ठ ७७

अजीज (अजीज)–प्यारा : ऐ अजीज ईमान तू काहे को खोवै ।
—मलूकदास, पृष्ठ १६

आजिज (लाचार) : विषय सेती भयो आजिज, कह मलूक गुलाम ।
—मलूकदास पृष्ठ ५

अरवाह ('रूह' शब्द का बहुवचन)–जीवात्माएँ : दाद दिल अरवाह का तहं मालिक ल्यौ लाइ । —दादू० (भाग १), पृष्ठ ५

कितेब (किताब) : वेद कितेब कीन्ह विस्तारा,
फैलि गैल मन अगम अपारा । —कबीर बीजक, पृष्ठ २

कसाई (कस्साब) : अहै कसाई छूरी हाथा । —कबीर बीजक, पृष्ठ ७

करीमा (करीम)–कृपालु : अल्लाह राम करीमा केसो । —कबीर बीजक, पृष्ठ ४०

कलिमा (कलमा)--पूरी बात : कलिमा पढ़ि पढ़ि भई तरुकनी --क० बी०, पृ० ४४
काजी (काजी) : काजी तुम कौन कितेब बखानी । --क० बी०, पृष्ठ ५७
कुफ़र[1] (कुफ़्र) : कुफ़र जे के मन में, मीयां मूसलमान । --दादू(भाग १) पृ० १३५
खसम (खसम) : खसमहिं छोड़ि दोजख को धावै । --कबीर बीजक, पृष्ठ २
खलक (खल्क)--संसार : ई सभ खलक समाना । --कबीर बीजक, पृष्ठ ४१
खुदी (खुदी) : हवा न हिर्स खुदी नहिं खूबी अनल हक्ल जहं बानी ।
चरन० बानी (भाग २), पृ० २९
गैब (गैब)--अप्रत्यक्ष : (दादू) गैब माहिं गुरदेव मिल्या, पाया हम परसाद ।
--दादू० बानी, (भाग १), पृ० १
गौस (पवित्र) : गौस औ कुतुब दिल फिकर जा का करै ।
--कबीर ज्ञा० गू०, पृ० २८
गुसल (गुस्ल)--स्नान : ज्ञान का गुसल कर पाक का ओजू कर ।
--कबीर ज्ञान गुदड़ी, पृष्ठ ३०
तबक (तबक)--पर्त : चौदह तबक औलिया जिसमें भेंट न होहि जुदाई ।
---चरनदास बानी, पृ० ३९
निसाफ (इन्साफ) : काजी माते द निसाफ । --कबीर बी०, पृष्ठ ८२
फहम (फ़हम)--समझ : फहम आगे फहम पीछे, फहम वायें डेरी ।
---कबीर बी०, पृष्ठ १०९
बिसमिल (बिस्मिल)--आहत करना : तब कहु बिसमिल किन फुरमाई ।
कबीर बीजक पृष्ठ १४
भिस्त (बिहिश्त)--स्वर्ग : भिस्त फारिग हुआ पीर परचै लहा ।
--कबीर ज्ञान गुदड़ी, पृष्ठ ३०
मुसाफ (मुसाफ) परमात्मा की स्तुति : मोलाना माने पढ़ि मुसाफ ।
---कबीर बीजक, पृष्ठ ८२
मसकला (मशकल) : मनहि मसकला देय । ---कबीर बीजक, पृष्ठ १०६
मुरसिद (मुरशिद) शिष्य : मुरसिद की मोहर से मोम दिल पाक है ।
--कबीर ज्ञान गुदड़ी, पृष्ठ २९
रब्ब (रब) पालक : दास मलूका रब्ब को, क्यों कर पहिचानै ।
--मलूकदास०, पृष्ठ १६
वजूद (वजूद) सत्ता : हरदम तिसको याद कर जिन वजूद सवांरा ।
--मलूकदास०, पृष्ठ १५
हजरत (हजरत) : हरि हजरत नाम धराया । --कबीर बीजक पृष्ठ ४०
हक्क (हक) : हक्क हलाल ईमान साबूत कर । --क० ज्ञा० गु०, पृ० २९

१. कुफ्र---संसार के प्रति राग तथा प्रभु के प्रति विराग की भावना ।

अरबी–फारसी शब्द–बहुल पद

संत कवियों ने अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग किया ही है, साथ ही कतिपय ऐसे भी शब्द पाये जाते हैं जिनमें अरबी-फारसी शब्दों का नितान्त बाहुल्य है। ऐसी रचनायें एक प्रकार से अरबी-फारसी की नागरी लिपि में लिखी रचनायें कही जा सकती हैं। इस प्रकार की रचनाओं के नीचे कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

नफ़्स गालिब किब्र काबिज, गुस्स:मनी ऐश।
दुई दरोग हिर्स हुज्जत, नामे नेकी नेस्त।
हैवान आलिम गुमराह गाफिल, अव्वल शरीअत पंद।
हलाल हराम नेकी बदी, दर्स दानिशमंद।

—दादू बा० भाग १, पृ० ५९

है हजूर नहिं दूर, हमा-जा भर पूर।
जाहिर जहान, जा का जहूर पुर नूर।
बेसबूह बेनमून, बेचगून ओस्त।
हमा ओस्त हमा अजोस्त, जान-जानां दोस्त।
शबो रोज जिकर, फिकरही में मशगूल।
तेही दरगाह बीच, पड़े है कबूल।
साहेब है मेरा पीर, कुदरत क्या कहिये।
कहता मलूक बंदा, तक पनाह रहिये। —मलूकदास पृ० २०

महबूब सलौने मै तुझ काज दिवाना।
आसिक को दीदार दे मेरा देषि दरद सुबिहाना।

—सुन्दर ग्रं०, पृ० ९२१

हुआ है मस्त मंसूरा, चढ़ा सूली न छोड़ा हक
पुकारा इश्कबाजों को, अहै मरना यही बरहक
जो बोले आशिकां यारां, हमारे दिल में है जो शक
अहै यह काम सूरी का, लगायै पीर से अब तक
शम्सतबरेज की सीफत, जहां में जहिरा अब तक
निजामुद्दीन सुल्ताना, सभी मेटे दूनी के धक
निरख रहे नूर अल्लह का, रहे जीते रहे जब तक
हुआ हाफिज दिवाना भी, भये ऐसे नहीं हर यक
सुना है इश्क मजनू का, लगी लैलां कि रहती झक
जलाकर खाक तन कीना, हुये वह भी, उसी माफिक

दूलन जन को दिया मुरशिद, पियाला नाम का थकथक ।
वही है शाह जग जीवन, चमकता देखिये लक लक ।

—दूलनदास की बानी, पृ० १८, १९

गरकाब गरकाव एह दरियाव है लीसिम तन को नहि वारि डारा ।

\+ \+ \+

महबूब महबूब मासूक मेरा मिला वहिश्त दरवेस है पर्द फारा ।

—संत दरिया ग्रन्थावली, पृ० ७४

खालिक सिकस्ता मैं तेरा ।
दे दीदार उमेदगार वेकरार जिव मेरा ।
औवल आखिर इलाह आदम फरिस्ता बंदा ।
जिसकी पनह पीर पैगम्बर में गरीब क्या गदा ।
तू हाजरा हजूर जोग इक अवर नही है दूजा ।
जिसके इसक आसरा नही क्या निवाज क्या पूजा ।
नालीदोज हनोज बेबखत कमि खिजमत गार तुम्हारा ।
दरमांदा दर ज्वाब न पावे कह रैदास बिचारा ।

—रैदास, पृ० २९

अलह नूर मौला मगन आप है जी ।
गलतान सुबहान सही देख लीजै ।
बैठा अरस के तखत पर आप सांई ।
दीदार के वास्ते सीस दीजै ।
देख दीदार दरहाल दरिया, ।
जाके मुकुट पर संख रवि झिलमिलै जी ।
जोती जगमगै जोग बिजोग बानी ।
जाकी खलक मे पलक जहान है जी ।

—गरीबदास की बानी, पृ० ११६, ११७

८. संत-साहित्य में अलंकार तथा मुहावरे

(क) संत-साहित्य में अलंकार-विधान

काव्य का प्रधान उद्देश्य आनन्द विधान करना है। काव्य-परंपरा ही नहीं, समस्त साहित्य परम्परायें आनन्द अथवा उसके अपर पर्याय सुख के लिए प्रवृत्त रही हैं, परन्तु यह सुखोपलब्धि हमें किस प्रकार होती है, अथवा साहित्य उसका सम्पादन किस प्रकार करता है, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। किसी ने शब्दों में निहित अर्थ-विचार से सन्तोष प्राप्त किया, किसी ने शब्द के परंपरागत अर्थ को महत्व दिया, किसी ने शब्दों के परस्पर संगठन पर विचार किया। इस प्रकार साहित्य जगत के अन्तर्गत अनेक समुदाय बन गए। शास्त्रीय दृष्टि से विभिन्न समुदाय होते हुए भी काव्य-दृष्टि केवल एक ही मार्ग की ओर बनी रही और वह मार्ग था आनन्द-विधान का। आनन्द के स्वरुप के सम्बन्ध में भी भारतीय विचारक एकमत नहीं थे। कोई उसे शरीरगत लावण्य के सदृश समझता रहा, कोई उसे आत्मा मानता रहा, किसी ने उसे चमत्कृति माना और कोई मनोरमता को काव्यगत आनन्द समझता रहा। किसी ने उसे ब्रह्मास्वाद-सहोदर कहकर अलौकिक और अतर्क्य प्रमाणित किया। इतने मतभेद होते हुए भी काव्य-मार्ग अपनी अबाधगति से एक रस चलता रहा।

काव्यानन्द की उपलब्धि के लिए साधनों की दृष्टि से जिन विभिन्न सम्प्रदायों की सृष्टि हुई उनमें से एक सम्प्रदाय है अलंकार-सम्प्रदाय। इस सम्प्रदाय के मूल-प्रवर्तक थे भामह। काव्य के प्रति अलंकार की उपयोगिता को लगभग सभी ने स्वीकार किया है। परन्तु दंडी प्रथम व्यक्ति था जिसने अलंकार को विशेष महत्व दिया। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि दंडी का अलंकार सम्प्रदाय इतना व्यापक है कि उसमें सभी कुछ आ जाता है। वामन, रुद्रट, राजशेखर, मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ ने अलंकार शास्त्र को काव्य में उचित स्थान देने के प्रबल समर्थक रहे हैं।

अलंकार सम्प्रदाय के सर्व प्रथम आचार्य भामह ने अलंकार के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए कहा है कि वक्रोक्ति समस्त अलंकारों में व्याप्त है।[1] वे वक्रार्थ की सृष्टि करने वाली उक्ति को ही अलंकार मानते हैं। दण्डी के मतानुसार काव्य के

१. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।—काव्यालंकार, (२:८५)

उन धर्मों को अलंकार कहा जाता है जो उसकी शोभा को बढ़ाते हों ।[1] वामन का मत है कि अलंकार के द्वारा काव्य की उपादेयता बढ़ जाती है और वह मानव हृदय के लिए सहज ही ग्राह्य बन जाता है ।[2] रुद्रट कथन के विशिष्ट प्रकार को अलंकार की संज्ञा प्रदान करते हैं[3] आनन्द वर्द्धन ने रुद्रट के कथन का समर्थन करते हुये कहा कि वाणी की अनन्त शैलियां ही अलंकार का रूप धारण करती हैं ।[4] मम्मट ने अलंकार को इसका उपकारक माना है । इसीलिए उन्होंने कह दिया "सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।" चन्द्रालोककार जयदेव ने मम्मट के इस कथन से असंतुष्ट होकर कहा कि ऐसा ही कृती काव्य को अलंकारविहीन मान सकता है जो अग्नि को अनुष्ण मानता है—

अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।।

—चन्द्रालोक, प्रथम मयूखः

वस्तुतः अलंकार एक सुनिश्चित योजना है जिसके माध्यम से काव्य विषयक सभी स्वरूप समग्रतः सुस्पष्ट होकर मानव-हृदय को एक अलौकिक आनन्द की भूमिका में प्रतिष्ठित कराकर उसे रसमय कर देते हैं । ऐसी स्थिति में वह जागतिक व्यापारों-सम्बन्धों से ऊपर उठकर विशुद्ध रूप से भावमय हो जाता है । अलंकारों का सबसे प्रथम गुण है, उनके द्वारा भावों का अधिकाधिक तीव्र होकर हृदय द्वारा आस्वाद्यमान होना । अलंकार के प्रयोग की सफलता एवं असफलता इसी पर आश्रित है । अलंकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में इस बात का सदैव ध्यान रखना पड़ता है कि उनकी अतिशयता कहीं भावों को अपने बोझ से दबा न दे जिससे वे बेचारे सांस ही न ले सकें । अलंकार की गति भावों के साथ अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक होना आवश्यक है । दोनों ही परस्पर ऐसे हिले-मिले एक रूप होने चाहिए जिससे यह प्रतीत न हो कि ये अलंकार-आभूषण ऊपर से आरोपित हैं । इनका सौन्दर्य अन्तःस्फुरण के रूप में अधिक सार्थक होता है ।

काव्य-साहित्य में अलंकारों का प्रयोग मूलतः दो प्रकार से होता है शब्दों के द्वारा चमत्कार अथवा सौन्दर्य वृद्धि होने पर शब्दालंकार कहा जाता है और जब अर्थ की चमत्कृति उत्पन्न होती है तब अर्थालंकार माना जाता है । जब शब्द और अर्थ दोनों ही के माध्यम से काव्य सम्बन्धी प्रसाद की सृष्टि होती है तब उसकी संज्ञा

१. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकरान् प्रचक्षते ।—काव्यादर्श (२:१)
२. काव्यं ग्राह्यमलंकरात् । सौन्दर्यमलंकारः ।।(वा० वृ० १/१:१,२)
३. अभिधान प्रकारविशेषा एवं चालंकाराः । (अ० स० : ६)
४. अनन्ताहि वाग्विकल्पाः । तत्प्रकारा एव चालंकाराः । —ध्वन्यालोक(३-३७)

उभयालंकार होती है।

संत साहित्य में अलंकारों का विवेचन एक प्रकार से जटिल समस्या उत्पन्न करता है। ये संत कवि परोक्षानुभूति की तन्मया में ही जीवन का स्वारस्य अनुभव करते थे। भक्ति-भाव में डूबा हुआ इनका अत्यन्त सरल एव निर्लिप्त हृदय वचन की वक्रता एवं कथन की भंगिमा की ओर जाता ही न था। अधिकांश संतों का जीवन "मसि कागद छूयो नहीं" की सत्यता से पूर्ण था। अतः काव्य के उपकरणों एवं नियमों से वे सर्वथा अपरिचित थे। भाव की भूमिका में प्रतिष्ठित संत जन जो कुछ कह उठते थे वही उनका काव्य था। उनकी वाणी अपने प्रकृत रूप में ही अभिव्यक्ति का अलंकरण करती हुई चलती थी। अस्तु उनकी अभिव्यंजना में जो सौन्दर्य, आकर्षण एव वैचित्र्य विद्यमान है वह सहज एवं भाव-सहजात है। उनकी भाषा उनके हृदय का स्वाभाविक उद्गार मात्र है। इसीलिये उनके साहित्य में प्राप्त होने वाले अलंकार भी स्वाभाविक रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं, वाणी-विलास के प्रदर्शन हेतु नहीं। यही कारण है कि काव्य शास्त्र में यद्यपि अलंकारों की एक बहुत बड़ी तालिका प्राप्त होती है, पर संत-साहित्य में इने-गिने अलंकार ही यत्र-तत्र पाए जाते हैं। नीचे हम कतिपय उन अलंकारों को उद्धृत कर रहे हैं जो सामान्यतः अधिकांश संतों की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं।

अनुप्रास

जहां वर्णों की समता[1] होती है वहाँ अनुप्रास होता है। इसके पांच भेद होते हैं—छेकानुप्रास, वृत्युप्रास, श्रुत्यनुप्रास, लाटानुप्रास और अन्त्यानुप्रास।

अन्त्यानुप्रास छंद के अन्त में होता है। यह प्रत्येक छंद में मिलता है। लाटानुप्रास में शब्द और अर्थ की आवृत्ति में अभिप्रायमात्र की भिन्नता होती है। श्रुत्यनुप्रास में कंठ, तालु आदि किसी एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णों की समानता होती है। ये तीनों में से प्रथम अन्त्यानुप्रास तो प्रायः सर्वत्र मिलेगा। अन्तिम दो श्रुत्य तथा लाट का प्रयोग संत साहित्य में प्रायः नहीं है। छेक और वृत्ति के उदाहरण सर्वत्र मिलते हैं। नीचे इन्हीं के कतिपय रूप प्रस्तुत किये जाते हैं—

छेकानुप्रास : जहाँ किसी वर्ण की एक बार आवृत्ति हो, वहाँ छेकानुप्रास होगा।

कहत कहि गया सुनता सुंणि गया। —क० ग्रं०, पृ० १५६

जिन जीव दिआ पति तहीं मुइया मंदीसोईं।

—नानक, (संत सुधासार), पृ० १५७

---

१. वर्णसाम्यमनुप्रासः (काव्य प्रकाश नवम उल्लास)।

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने 'शब्द साम्य' को अनुप्रास माना है—"अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्ययत्" (सा० द० दशम परिच्छेद)

साइ सरिखा ह्‌वै गया दादू परसैं पीव ।

—दादू० बानी, १, पृ० ६५

आसन असथल उठि गए कुछ पिंड प्राना ।

—गरीबदास की बानी, पृ० ४१

भरमजाल भव काटिया, संका सब तोड़ी ।

रज्जब, (संत सुधासार), पृ० ३०७

अणदीठो ओलूं करै रे मो मन बारंबार ।

—बषना, (संत सुधासार), पृ० ३१९

वृत्यनुप्रास : जहाँ पर एक वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होती है, वहां वृत्युनुप्राम होगा ।

सतगुर सूर सुभाइ, सबद सलिल रसना रसनि ।

—रज्जब, बानी, पृ० ५

बोलत बोलत बढ़ै बिकारा, बिन बोल्यां क्यूं होइ विचारा ।

—क० ग्रं०, पृ० १०९

झींगुर झनकि झनिक झनकारहि, बान विरह उर लाओ ।

—दरिया विहार वाले, (संत बानी सं० २), पृ० १३८

आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु जुगु एकोवेसु ।

—नानक, (संत सुधासार), पृ० १४६

छच्छ अलच्छ अदच्छ नदच्छ नपच्छ अपच्छ न तूल भारो ।

—सुन्दर विलास, पृ० १५६

मन पवन भवन गवन प्राण कंवल मांहि ।
सांस बास आस पास आत्म अंगि लगाइ ।।

—दादू० बानी, (भाग १), पृ० १०१

जाना नाच नचावही नाचै संसार ।

—धनी धरमदास (चेतावनी कौअंग, २

यमक

जहाँ निरर्थक वर्णों या भिन्नार्थक सार्थक वर्णों की पुनरावृत्ति हो, अथवा पुनः श्रुति हो वहाँ यमक अलंकार होता है । यथा—

मन न मार्‌या मन करि, सके न पंच प्रहारि ।
सील सांच सरधा नहीं, इन्द्री अजहूं उघारि ।।

—क० ग्रं०, पृ० २९

गुण गायें गुण नाम कटै, रटै न राम वियोग ।
अहनिसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै दुर्लभ जोग ।।—क० ग्रं०, पृ० ७

बाजा बाजा रहित का, पड़ा नगर में सोर ।
(मेरे) सतगुरु संत कबीर हैं, नजर न आवै और ।।
—धर्मदास, (संतबानी संग्रह ३), पृ० ३४
डासन काढ़ि के कासन ऊपर आसन मारि पै आस न मारी ।
—सुन्दरदास (संत बानी संग्रह २), पृ० ११५

पुनरुक्तिप्रकाश

जहां पर चमत्कार अथवा रमणीयता की दृष्टि से शब्द की आवृत्ति होती है, वहाँ पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार होता है । यथा—

मीड़ि-मीड़ि देही काहे को चलना । —दादू० बा० २, पृ० ११८
सोवत-सोवत सोइ गयो सठ, रोवत-रोवत कै बेर रोयो ।
गोवत-गोवत गोइ धर्यो तन धन खोवत-खोवत तैं सब खोयो ।
जोवत-जोवत बीत गये दिन, बोवत-बोवत लै विष बोयो ।
सुन्दर-सुन्दर राम भज्यो नहिं, ढोवत-ढोवत बोझहिं ढोयो ।
—सुन्दरदास (सन्तबानी संग्रह २), पृ० ११६
ढूढंत-ढूढंत मैं थकित भई हौं, पिया पीर नहिं जानी ।
—जगजीवन (सन्त बानी संग्रह २), पृ० १२४

चमत्कार अथवा रमणीयता की दृष्टि से शब्द की आवृत्ति होने पर तो पुनरुक्ति प्रकाश होता है पर जब भावपूर्वक शब्द की आवृत्ति होती है तब वीप्सा अलंकार होता है । यथा—

खिन-खिन उठि-उठि पंथ निहारौं, बार-बार पछितांवरी
—धरनीदास (शब्द १)
तलफि-तलफि जल बिना मीन ज्यों, अस दुख मोहिं अधिकाई ।
—जगजीवन (सन्त बानी संग्रह २), पृ० १२३

उपमा

जहाँ पर दो पदार्थों के उपमान-उपमेय भाव से समान धर्म का कथन किया जाय वहाँ उपमा अलंकार होता है । यथा—

मनहिं विचार करौ ल्यौ लाई, दीवा समान जोति कहाँ छिपाई ।
—दादू० बानी, भाग २, पृ० ६७
काया काष्ट प्राणी पावक, साईं सुन्नि समान ।
इन दून्यूं पलटैं सो पावै, लीजै पद निरवान ।।
—रज्जब बानी, पृ० २२४
मागन मरण समान हैं, बिरला बंचै कोइ ।
कहै कबीर रघुनाथ सूं, मतिर मगावै मोहिं ।।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६

माया मिसरी की छुरी, मत कोई पतियाय।

मलूकदास की बानी (साखी, ७१)

रूपक

उपमेय में उपमान के निषेध-रहित आरोप को रूपक अलकार माना जाता है। यथा-

काया देवल मन धजा, बिषय लहरि फहराइ।
मन चालै देवल चलै, ताका सर्बस जाइ॥

-कबीर (मन कौअंग २८)

छिमा तराजू पुरा बाट लै, सबसे मीठी बोलै।
नाम रतन की ढेरी लागी, बिना दाम वह तोलै॥

-पलटू साहिब (शब्द १३१)

नाव सबद निज नाव है, सबद रूप संसार।
रज्जव गुरू खेवट बिना, चढ़े न पहुँचे पार॥

-रज्जब बानी, पृ० २७

ज्ञानकि तरकस सब्द तीर भरि, प्रेम-धनुष धरि तानल।
सुरति कै सीस निसाना मारल, भव का भंडा फोरल॥

-बुल्ला सा०, पृ० १६

सिष गोरू गुरु ग्वाल है, रच्छा करि करि लेइ।
दादू राखै जतन करि, आणि धनी कूँ देइ॥

-दादू० बानी १, पृ० १२

तुझ चरनारबिंद भवर मन।
पान करत मैं पायो राम धन॥
संपति बिपति पटल माया धन।
तामें मगन होइ कैसे तेरो जन॥ -रैदास बानी, पृ० १८

ज्ञान बेलि गहु टेक की दया क्यारी संवार।
जत सत के बीजहीं बो बो तासु मंझार॥

-चरनदास की बानी, पृ० ६५

उत्प्रेक्षा

जहाँ प्रस्तुत (उपमेय) की अप्रस्तुत (उपमान) रूप में संभावना की जाय वहाँ उत्प्रेक्षालंकार होता है। यथा-

कबीर तेज अनंत का, मानौ ऊगी सूरज सेणि।
पति संग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि॥

-कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२

नेह निनाके सूं किया, ध्यान धर्‌या बिन अंक ।
रज्जब मनहु जिहाज बिन, हरवंत पहुच्या लंक ॥

—रज्जब, पृ० ५६

उदाहरण

जहाँ सामान्य रूप से कहे गये अर्थ को स्पष्ट करने के लिये उसका एक अंश व्यक्त करके उदाहरण दिया जाता है वहाँ उदाहरण अलंकार होता है । यथा—

जैसे दूध जमाय कै मथि करि काढै घीव ।
पाँच बरस जप नाभि सूं, रग रग बोलै राम ॥

—चरनदास की बानी, पृ० ३१

मृग तृष्णा जल जैसा चेति देखि जग ऐसा ।

—दादू० बानी, भाग २, पृ० १७

राम पियारा छाँड़ि करि, करै आन का जाप ।
बेस्वाँ केरा पूत ज्यों कहै कौन सूं बाप ॥ —क० ग्र०, पृ० ६

जैसे कामी देखि कामिनी, हृदय सूल उपजाई ।
कोटि बैद विधि ऊचरै, वाकी बिथा न जाई ॥

—रैदास बानी, पृ० ५

मृग तृष्ना ज्यों जग-रचना यह देखो हृदे बिचार ।
कहु नानक प्रभु राम नाम नित, जाते होत उधार ॥

—नानक (संत बानी संग्रह २), पृ० ४३

तिलनि माँहि ज्यौं तेल है, सुन्दर पय मैं घीव ।
दार माँहि है अग्नि ज्यौं, देह माँहि भौं सीव ॥

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ७८१

कहि दरिया तुम हमहिं एक, ज्यों हारिल की लकड़ी टेक ।

—दरिया बिहार वाले (संतबानी संग्रह २), पृ० १३९

उदाहरणमाला

जहाँ पर अनेक उदाहरणों द्वारा किसी तथ्य का निरूपण किया जाता है वहाँ उदाहरणमाला अलंकार होता है । यथा—

ज्यों कपड़ा दरजी गह ब्योतत, काठहिं को बढ़ई कसी आनै ।
कंचन को जु सुनार कसै पुनि, लोह की धार लुहारहि जानै ।
पाइन को कसि लेत सिलाबर, पात्र कुम्हार के हाथ निपानै ।
वैसेहि सिष्य कसै गुरुदेव जू, सुन्दरदास तबै मन मानै ।

—सुन्दर बिलास, पृ० ४

दृष्टान्त

जहाँ पर उपमेय, उपमान और साधारण धर्म का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से कथन हो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। यथा–

जिन विष खाया ते मुए, क्या मेरा क्या तेरा ।
आगि पराई आपणी, सब करै निवेरा ॥

–दादू० बानी १, पृ० १२८

का भयो ध्यान के किये हाथ मन ना हुआ ।
माला तिलक बनाये देत सबको दुआ ।
आसा लांगा डोरी कहत भला हुआ ।
बुल्ला कहै विचारि झूठ सेमर हुआ ।

–बुल्ला साहब का सब्द सागर, पृ० २५

कबीर प्रेम न चक्खिया, चक्खि न लीया साव ।
सूने घर का पाहुणा, ज्यूं आया त्यूं जाव ॥

–कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६

जब लग नदी न समुद समावै, तब लग बढ़ै हंकारा ।
जब मन मिल्यो राम सागर सों, तब यह मिटी पुकारा ॥

–रैदास बानी, पृ० ३

संदेह

जहाँ किसी वस्तु के सम्बन्ध में सादृश्यमूलक संदेह हो वहाँ संदेहालंकार माना जायगा । यथा–

किधौं पेट चूल्हो कीधौं, भाठि किधौं भाड़ आहि ।
जोइ कुछ झोंकिये, सु सब जरि जातु है ॥
किधौं पेट थल किधौं बापि किधौं सागर है ।
जेतो जल परै तेतो, सकल समातु है ॥

–सुन्दरदास (संत बानी, संग्रह २), पृ० ११३

कादिर तुमहिं कदर को जाना, मैं हिन्दू किधौं मूसलमाना ।

–धरनीदास, पृ० १९

विभावना

जहाँ पर कारण का अभाव होते हुये भी कार्य के होने का वर्णन किया जाय वहाँ विभावना अलंकार होता है। यथा–

सायर नाहीं, सीप बिन, स्वाति बूंद भी नाहिं ।
कबीर मोती नीपजैं, सुन्नि सिषर गढ़ माहिं ॥

–क० ग्रं०, पृ० १३

नैन बिन देखिबा, अंग बिन पेखिबा ।
रसना बिन बोलिबा, ब्रह्म सेती ॥
स्रवन बिन सुनिबा, चरण बिन चलिबा, ।
चित्त बिन चित्यबा, सहज एती ॥

—दादू० (बानी १), पृ० ६६

बिन तरवर फल फूल लगावै, बिन दीपक उजियारा देखै ।
बिन पंखन उड़ि जाय अकासै, बिन पायन सब जग फिरि आवै ।

—मलूकदास की बानी, पृ० २

बिन बाती बिन तेल जुगति सौं, बिन दीपक उजियारा ।

—यारी, संत बानी संग्रह २, पृ० १३५

मंत्र अमोल दुइ अच्छर बिनु रसना रट लागि रहै ।

—दूलनदास (संत बानी संग्रह २), पृ० १४४

बिनु अच्छर के अच्छरा, बिनु लिखनी का लेख ।
बिनु जिभ्या का बाँचना, धरनी लखा अलेख ॥

—धरनीदास (साखी ३३)

रूपकातिशयोक्ति

जहाँ केवल उपमान के द्वारा उपमेय का वर्णन किया जाता है, वहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार होता है। यथा—

नैया मेरी नीके चलने लगी ।
आंधी मेह तनिक नहिं डेलै साहु चढ़े बड़ भागी ॥
रामराय डगमगी छुड़ाई निर्भय कढ़िया लइया ।
गुन लहास की हाजत नाहीं आछा साज बनैया ॥
अवसर पड़ै तौ पर्बत बोझै तहू न होवै भारी ।
धन सतगुरु यह जुगत बताई तिनकी मैं बलिहारी ॥
सूखे पड़े तो कछु डर नाहीं न गहिरे का संसा ।
उलटि जाय तो बार न बाँकै या का अजब तमासा ॥
कहत मलूक जो बिन सिर खोवै सो यह रूप बखानै ।
या नैना के अजब कथा कोई बिरला केवट जानै ॥

—मलूकदास०, पृ० ३

सतगुरु लई कमाण करि, बाहण लागा तीर
एक जु बाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या शरीर । —क० ग्रं०, पृ० १

विरोधाभास

जहाँ यथार्थतः विरोध न होकर विरोध के आभास का वर्णन होता है वहाँ

विरोधाभास अलंकार होता है। यथा–

पाणी माँहैं प्रजली, भई अप्रबल आगि।
बहती सलिता रह गई, मंछ रहे जल त्यागि। –क० ग्रं०, पृ० १२
+ + +
जिन्य कछू जांण्यां नहीं तिन्ह सुख नीदड़ी बिहाइ।
मैं रे अबूझी बूझिया, पूरी पड़ी बलाइ॥ –क० ग्रं०, पृ० १२

अर्थान्तरन्यास

जहाँ विशेष से सामान्य का या सामान्य से विशेष का साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा समर्थन किया जाता है वहाँ अर्थान्तिरन्यास अलंकार होता है। यथा–

मूरषि संग न कीजिये, लोहा जल न तिहाइ।
कदली सीप भुवंग मुखी, एक बूंद तिहुं भाइ॥– क० ग्रं०, पृ० ४७
हम कूं तो रैन दिन, संक मन माहिं रहै।
उनको तौ बातनि में, ठीकहु न पाइये।
कबहूं संदेशा सुनि अधिक उछाह होइ।
कबहुंक रोइ रोइ आसुन बहाइये।
–सुन्दरदास (संत सुधासार), पृ० १०२

विनोक्ति

विनोक्ति का अर्थ है किसी के बिना उक्ति का होना।

जहाँ एक वस्तु के अभाव में दूसरे को शोभित अथवा अशोभित कहा जाता है, वहाँ विनोक्ति अलकार होता है। बिना, रहित, हीन आदि शब्द इसके वाचक हैं। यथा–

गुरु बिन पार नाहिं, कौड़ी बिन हार नहिं,
सुन्दर प्रकट लोंक वेद यों कहतु है। –सुन्दर विलास, पृ० ६
वैसेहि देह परी पुनि दीसत
एक बिना सब लागत खंडी। –सुन्दर विलास, पृ० ३३

मानवीकरण

जहाँ पर भावनाओं अथवा वस्तु में मानवगुणों का आरोप किया जाता है वहाँ मानवीकरण अलंकार होता है। इस अलंकार द्वारा जो मूर्तविधान किया जाता है उससे काव्य की भाषा में एक विशिष्ट वक्रता एवं चमत्कृति उत्पन्न होती है और अभिव्यक्ति प्रभावपूर्ण बन जाती है। यथा–

कबीर माला काठ की, कहि समुझावै तोहि।
मन न फिरावे आपणां, का फिरावै मोहि॥ –क० ग्रं०, पृ० ४५

उल्लेख

उल्लेख का अर्थ है लिखना, वर्णन करना। जहाँ एक ही वर्णनीय विषय का

निमित्त भेद से अनेक प्रकार का वर्णन होता है वहाँ उल्लेख अलंकार होता है । यथा–

काहू को निकट राखै, काहू कूं तो दूरि भाखै
काहूं सूं नेरे न दूर ऐसी जाकी मति है
रागहू न द्वेष कोऊ, सोक न उछाह दोउ
ऐसी विधि रहै कहूं रति न विरति है :
–सुन्दर (सं० बा० स० २), पृ० १०८

काया देवा काया देवल, काया जंगम जाती ।
काया धूप दीप नैवेदा, काया पूजो पाती ।
–पीपा (सन्त वानी संग्रह २),पृ० २६

चाँद ना सूर ना ब्रह्मा न बिस्नु है,
पहुँच न सकै कोउ ब्रह्मज्ञानी ।।
–पलटू सा० बानी २ (रेखता ७५)

ज्ञानी आपु आपु है ध्यानी, आपुहि मन्त्र सिखावै ।
आपुहि परगट, सबहि दिखावत, आपुहि गुप्त छिपावै ।
–जगजीवन साहेब (शब्दावली ६०) भाग २

लोकोक्ति

जहाँ पर लोकोक्ति के माध्यम से किसी तथ्य का निरूपण किया जाता है वहाँ लोकोक्ति अलंकार होता है । यथा–

सरपहि दूध पिलाइये, दूधै विष ह्वै जाइ ।
ऐसा कोई नां मिलै, स्यूं सरपै विष खाइ ।। –क० ग्रं०, पृ ८४

अन्योक्ति

जहाँ पर अप्रस्तुत (उपमान) के द्वारा प्रस्तुत (उपमेय) का वर्णन किया जाता है वहाँ अन्योक्ति अलंकार होता है । यथा–

माटी मलणि कुम्हार की, घणी सहै सिर लात ।
इहि औसरि चेत्या नहीं, चूका अबकी घात ।।
–क० ग्रं०, पृ० २३

ऊंचा विरष अकासि फल, पंखी मूये झूरि ।
बहुत सयाने पचि रहे, फल निरमल परि दूरि ।।
–क० ग्रं०, पृ० ६९

धवणि धवंती रहि गई, बुझि गये अंगार ।
अहरणि रह्या ठमूकड़ा, जब उठ चले लुहार ।
–क० ग्रं०, पृ० ७५

विशेषोक्ति

प्रबल कारण रहते हुए भी कार्य सिद्ध न होने का जहाँ वर्णन होता है वहाँ

विशेषोक्ति अलंकार होता है। यथा–

आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास ।
पाणी माहैं घर करैं, तो भी मरै पियास ।। –क० ग्रं०, पृ० १९

बिकल्प

जहाँ दो समान बलवती विरुद्ध बातों के एक ही काल और एक ही स्थिति में विरोध होता है अथवा यह कहा जाता है कि या तो यह या वह, वहाँ विकल्प अलंकार होता है । यथा–

भावै करवत सिर पर सारि, भावै ले कर गरदन मारि ।
भावै चहुँ दिसि अगिनि लगाइ, भावै काल दसौं दिसि खाइ ।
भावै गिरिवर गगन गिराइ, भावै दरिया माँहि बहाइ ।
भावै कनक कसौटी देहु, दादू सेवग कसि-कसि लेहु ।
–दादूदयाल, (संतबानी संग्रह, भाग २) पृ० ९२

एकनि के वचन सुनत, अति सुख होइ,
फूल से झरत हैं, अधिक मनभावने ।
एकनि के वचन तो, असि मानौ बरसत,
स्रवण के सुनत, लगत अलखावने ।
एकनि के वचन, कटुक कहु विषरूप,
करत मरम छेद, दुक्ख उपजावने ।
सुन्दर कहत घट घट में वचन भेद,
उत्तम मध्यम अरु,अधम सुहावने ।
–सुन्दरदास, (संतबानी संग्रह २), पृ० १०७

(ख) संत–साहित्य में मुहावरों का प्रयोग

अभिव्यक्ति की सशक्तता भाषा की प्रौढ़ता पर अवलम्बित है । लेखक की प्रारम्भिक अवस्था में शब्दों का बाहुल्य और भावों की न्यूनता पाई जाती है, पर ज्यों-ज्यों लेखक की भाव-धारा परिपक्वता प्राप्त करती जाती है त्यों-त्यों शब्द समूहों की न्यूनता एवं भावों तथा विचारों का आधिक्य आता-जाता है। सिद्ध लेखक गिने-चुने शब्दों में ऐसी भावभरित पंक्तियाँ प्रस्तुत करता है जिसमें शब्द अर्थ-गाम्भीर्य के साथ ही साथ भाषा में एक विशिष्ट आकर्षण एवं लोच प्रतीत होता है ।

उत्तम लेखन-शैली का गुण है संक्षिप्तता । जिस बात को व्यक्त करने के लिए हम एक से अधिक लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग कर सकते हैं उसे मुहावरा अपने अत्यन्त लघु रूप में व्यक्त कर देता है । मुहावरे के प्रयोग से भाषा में रोचकता की सृष्टि होती है और यह रोचकता मानव-मन पर पड़ने वाले प्रभावों को अधिक सजग

एवं सजीव बना देती है। भाव समूह मुहावरे का संस्पर्श प्राप्त कर अधिकाधिक तीव्र हो उठते हैं। भाव की यह तीव्रता ही रस-दशा की सृष्टि करती है "वह कौन सी पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटांक नहीं" में मन का लेना और छटांक का देना श्लिष्ट शब्द हैं। एक तो इनसे परिमाण का बोध होता है और दूसरे मन (चित्त) की क्रिया का प्रिय की ओर आकृष्ट हो जाना तथा उसके बदले में किंचित-मात्र भी प्रतिदिन का न मिलना लक्षित होता है। 'मन लेना' लाक्षणिक प्रयोग है। मन कोई ऐसी स्थूल वस्तु नहीं है जिसको हम उठाकर उधर से इधर कर सकें। ऊपर उद्धृत यह पंक्ति प्रेमी-हृदय की उस भाव-दशा का अत्यन्त तीव्र आभास प्रदान करती है जहाँ जीवन में सतत प्रदान ही प्रदान है; आदान में एक कण भी प्राप्त नहीं होता।

स्पष्ट है कि मुहावरे के सफल प्रयोग भाषा में एक ऐसी शक्ति सम्पन्न तीव्रता उत्पन्न कर देते हैं जिससे वह मानव-हृदय को बेध कर उसके अन्तराल में समा जाती है।

मुहावरों का प्रयोग मानव-क्रिया-व्यापार सापेक्षता रखता है। यथा—'आँख टेढ़ी करना'। क्रोध के समय भौंहों पर बल पड़ जाना, उनकी गति का अपेक्षाकृत कुछ अधिक वक्र हो जाना स्वाभाविक होता है। अस्तु किसी को भी क्रोध की मुद्रा में देखकर हम कह उठते हैं कि वह 'आँख टेढ़ी कर रहा है', 'तुम आँख टेढ़ी क्यों करते हो' आदि। कतिपय मुहावरे सामान्य व्यवहार की दृष्टि से प्रचलित हुए हैं। यथा—'हाथ फैलाना'। किसी से जब हम कोई वस्तु लेते हैं तो प्रायः हाथ फैला कर ही लेते हैं। हाथ फैलने से तात्पर्य हथेली तथा अंगुलियों की गति से है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक वस्तु के लेने में पांचों अंगुलियाँ पूरी-पूरी खुलें ही। इसी प्रकार किसी से कोई वस्तु उधार या दान में माँगने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम हाथ फैलाकर ही उस वस्तु को प्राप्त करें। पर सामान्यतः माँगने के अर्थ में इस मुहावरे का प्रयोग प्रचलित हो गया है। कुछ मुहावरे भावों का सादृश्य रखते हैं। यथा—'नाक काटना'। नाक कट जाने से मुखाकृति में विरूपता आ जाती है। जब कोई व्यक्ति ऐसे कार्य करता है जिससे उसकी प्रतिष्ठा में किसी प्रकार का आघात पहुँचता है तो हम कह देते हैं कि अमुक की 'नाक कट' गयी। यहाँ पर विरू-पता का अपमान से सादृश्य है।

मुहावरे अपने प्रयोग में कोई न कोई समानता अवश्य रखते हैं। इनमें प्रायः शब्द की लक्षणा शक्ति कार्य करती रहती है।

सन्त-साहित्य में मुहावरों का प्रयोग यत्र-तत्र प्राप्त होता है। जहाँ कहीं भी ये प्रयुक्त हुए हैं वहाँ वे प्रयोग की स्वाभाविक स्थिति का ही परिचय देते हैं। सन्त-कवि न तो अधिक पढ़े-लिखे भाषा-मर्मज्ञ ही थे, और न इन्होंने किसी प्रयोग के औचित्य की ही समीक्षा की थी। बोलचाल की भाषा में निरन्तर प्रयुक्त होने वाले वे मुहावरे

जो अपने प्रकृतरूप में इनकी बोली के साथ हिलमिल गये थे, इन सन्तों की रचनाओं में प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ पर हम उनके द्वारा व्यवहृत कतिपय मुहावरों को देखेंगे।

क्रिया-सादृश्यमूलक मुहावरे

रांड़ का रोना भांड़ गावे। —कबीर, ज्ञान गूदड़ी, पृ० ६८

जानि बूझि वै सुन भई सावव, संग जनन ने पीठ दयो रे।

—कबीर शब्दावली, पृ० ८५

मन तोहि नाच नचावै माया। —कबीर शब्दावली, पृ० ८६

हूं करिया आगे धसै कायर खेलै दाँव। —दरिया, पृ० १२

भेष फकीरी जे करें मन नहिं आवै हांथ। —मलूकदास०, पृ० ३२

फल-सादृश्यमूलक मुहावरे

कोस पचीस इक बथुआ नीचे जड़ से खादि बहावै।

—कबीर शब्दावली, पृ० १०६

सुरत लकुटिया ले फटकारै भागत राह न पावै।

—कबीर शब्दावली, पृ० १०६

बालू माँहि तेल नहिं निकसत काहू विधि।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ११३

जनम अनेक दगा में खायो बिन गुरु बाजी हारो।

—कबीर शब्दावली २, पृ० ५१

कहैं कबीर गूंगे गुड़ खाया बिद रसना क्या करै बड़ाई।

—कबीर शब्दावली २, पृ० ८१

उलटि जाई तो बाल न बाकै पाकर अजब तमाशा।

—मलूकदास०, पृ० ३

हीरा यह तन पाइ कर कौड़ी बदले जाइ रे। — रैदास०, पृ० ३६

ऊपर फल-सादृश्यमूलक उद्धरण दिये गये हैं। कुछ मुहावरे ऐसे भी होते हैं जो फल-वैपरीत्य को सूचित करते हैं। यथा—

पानी के मथे ते कहूं घीउ नहिं पाइयत।

भूकस के कूटे कहूं निकलत कन है। — सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० १३

ऊपर के उदाहरण में पानी और घी, भूसी और कण की विपरीतता द्वारा ऐसे व्यक्ति की ओर व्यंग है जो सारहीन है और जिससे कुछ प्राप्त नहीं हो सकता है अथवा जिस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता है।

भाव-सादृश्यमूलक मुहावरे

दूर के ढोल सुहावने निसफल मरो बिसूर ।

—क० शब्दावली, पृ० १०५

बांह गहे की लाज गहर मत कीजिए ।—क० शब्दावली, पृ० १०५

बलि बलि जाऊं आपने गुरु की । —क० शब्दावली, पृ० १०६

आपन अनत और नहिं मानत ताते मूल गंवाई ।

—रैदास०, पृ० ५

दरिया सदगुरु सब्द सों मिट गई खेंचातान । —दरिया०, पृ० १०

स्वभाव-सादृश्यमूलक मुहावरे

कोटिन बेवे स्वान के लागे मिटै न पूंछ टेढ़ाई ।

—क० शब्दावली ३, पृ० ४१

गंगा उलटी फेरि करि जमुना माहैं आंणि ।

—दादू०, (भाग१), पृ० ९०

तेल सुं भिजोइ करि चीथरा लपेटि राखै,

कूकर पूंछ सूधो होत नाहिं तबहूं । —सुन्दर ग्रंथावली, पृ० १३

व्यवहार-सादृश्यमूलक मुहावरे

मुकुति के द्वार आय सावधान क्यों न होइ ।

बार बार चढ़त न त्रिया सों तेल है ।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ १३

औरन को नहिं नाऊं सीस हरि ही हरिहैं बिसवै बीसा ।

—चरणदास०, पृ० १२

ख्वाब की दुनियां दिल को करै न सात पांच ।

—धरणीदास०, पृ० ३०

शास्त्र-व्यवहारमूलक मुहावरे

सांचा सुमिरन कीजिए जामैं मीन न मेक ।

—चरणदास०, (भाग २,), पृ० ३६

साईं सरिखे संत हैं यामें मीन न मेख । —गरीबदास०, पृ० ८७

लोकोक्तियां

मुहावरों की ही भांति लोकोक्तियां भी भाषा और भाव-सौन्दर्य की सृष्टि करती हैं । इन दोनों में अन्तर यह है कि मुहावरे में लाक्षणिक अर्थ लिया जाता

है और लोकोक्ति के पीछे कोई घटना होती है जिसके द्वारा प्रस्तुत विषय का समर्थन किया जाता है । यथा—"नाच न जानै बावरी कहै आंगन टेढो ।" तात्पर्य यह है कि कार्य करने का कौशल तो है नहीं और अपनी अकुशलता एवं अनिपुणता को प्रच्छन्न रखने के अभिप्राय से किसी न किसी कारण का उल्लेख कर देना । साधारणतः लम्बे-चौड़े एक क्रमयुक्त आँगन में नृत्य करने में सुविधा होती है, पर प्रत्येक आँगन टेढ़ा होने के कारण असुविधाजनक हो, ऐसा भी नहीं है । अन्य कतिपय उदाहरण देखिये—

अ : **'कुल्हिये में गुड़ फोड़ना'**

दास कबीर विचारि कहैं क्या कुल्हिये में गुड़ फोड़ना जी ।

—क० ज्ञानगूदड़ी, पृ० ४९

अकबर और बीरबल की मनोरञ्जक कथाओं में इस प्रकार के अनेक प्रसंग आये हैं जहाँ पर असम्भव कार्यों की अभिव्यक्ति के लिए ऐसे प्रयोगों की उद्भावनायें हुई हैं ।

आ : **'जैसी करनी तैसी भरनी'**

बहु दुख खोटी करनी, जैसी करनी तैसी भरनी ।

—चरनदास की बानी, (भाग २), पृ० ६६

यह लोकोक्ति शास्त्रीय मत का समर्थन करती है । परम्परा से हम देखते चले आ रहे हैं कि मानव को कर्मफल का भोग भोगना पड़ता है । इसके प्रमाण हमें प्राचीन आख्यानों में भी उपलब्ध होते हैं ।

इ : **'जो गुड़ खाये सो कान दाभिये'**

सुन्दर क्यों पहिले न संभारत, जो गुड़ खाये सो कान भिदाये ।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० १७

गाँवों में कान छिदाने वाले बालक को गुड़ दिया जाता है । वह गुड़ की मिठास के प्रलोभन में कान छिदाने की पीड़ा को सहन कर लेता है । प्रस्तुत प्रसंग में तात्पर्य यह हुआ कि सुख उठाने वाले को कष्ट भी सहन करना पड़ता है ।

ई : **'चौबे चले छब्बे होने रहे दुब्बे'**

ज्यूँ कोउ चौबे छबै को ल्यो पुनि, होइ दुबे दुइ गाँठ के खोए ।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६९

इस लोकोक्ति में परिणाम की ओर संकेत है । महत्वाकांक्षा की लालसा में प्रायः प्राणी अपनी वर्तमान स्थिति से भी हाथ धो बैठते हैं । (चौबे—चतुर्वेदी, दुबे द्विवेदी, छबे से तात्पर्य होगा—षटकुल वाले) ।

उ : **साँप को दूध पिलाना,**

सरपहिं दूध पिलाइए दूधै विष ह्वै जाइ ।

ऐसा कोई ना मिले, स्यूं सरपै विष खाइ । —क० ग्रं०, पृ० ८४

नागपंचमी के दिन भारतीय-सामाजिक-परम्परानुसार नाग को दूध पिलाया जाता है। पर उस दूध के कोई अनुसारी परिणाम न मिलकर सदा बिकारी परिणाम ही प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि दुष्ट को चाहे कितना भी सद्व्यवहार क्यों न किया जाय, पर वह अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता है।

सन्त-साहित्य में और भी कितने ही मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं। प्रस्तुत प्रसंग में हमने उदाहरण के रूप में कुछ ही उद्धरण दिए हैं। इन उद्धरणों द्वारा हमें यह भी पता चलता है कि ये सन्त लोक-जीवन में कितना अधिक घुले-मिले थे।

---

९. संतों की भाषा में शब्द-शक्ति

काव्य की परिभाषा लिखते समय भारतीय साहित्य-शास्त्रकारों का ध्यान ऐसी विशेषता की ओर सदैव से ही रहा है जो काव्य के आकर्षण और आनन्द प्रदान का कारण रही हो। मम्मट ने शब्दार्थ को काव्य बताते हुए दोषयुक्त होना, गुणवान होना और अलंकार युक्त होना, उस की विशेषता माना है।[1] परन्तु गुण-दोष और अलंकार की विवेचना करते-करते काव्य की परिभाषा में किसी कमी का अनुभव किया गया। अतः अलंकारिकों ने उस अनिर्दिष्ट विशेषता को जो काव्य के आनन्द-प्रदान का प्रधान कारण थी, किसी न किसी अलंकार के अन्तर्भुक्त करना चाहा।[2] वक्रोक्तिकार ने उसे विच्छित्ति विशेष नाम वाली वक्रोक्ति[3] बताया और ध्वनिवादी ने जो व्यंजना का आधार लेकर चले थे, उसे ध्वनि बताया।[4] पंडितराज जगन्नाथ उसे रमणीयता का नाम देते हैं।[5] वस्तुतः काव्य में जो तन्मयत्व उत्पन्न कर देने वाला भाव है, वही इन विशेष नामों से पुकारा जाता रहा है, फिर भी किसी नाम, सीमा से आबद्ध न हो सकने के कारण वह मूल कारण भी अनिर्वचनीय ही है। हम यहाँ इस अनिर्वचनीयता का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि पूर्व मतों का खण्डन परवर्ती आचार्य ने इतना स्पष्ट और प्रबल रूप में किया है कि पूर्वगामी मत की सदोषता के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती।

कारण कोई भी क्यों न हो, परन्तु उसकी भी अभिव्यक्ति शब्दार्थ द्वारा ही होती है। अतएव शब्दार्थ का महत्व कम नहीं किया जा सकता। हम नहीं कह सकते कि शब्दार्थ में शब्द प्रधान है अथवा अर्थ। कालिदास ने 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' कह कर दोनों की पृथक सत्ता मानते हुए भी उनको सम्पृक्त माना है, परन्तु तुलसी उससे एक पग आगे बढ़ कर कहते हैं—'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।' वे 'कहियत भिन्न' मानते हुए 'न भिन्न' मानते हैं। अतएव अद्वैतवाद की भाँति वे 'गिरा' और 'अरथ' में भी एकत्व का प्रतिपादन करते हैं। केवल नाम और

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि —मम्मट, (काव्यप्रकाश,)
२. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। —काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः १-१
३. वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्। —कुंतक
४. काव्यस्यात्मा ध्वनिः। —ध्वन्यालोक
५. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। —रसगंगाधार

रूपात्मक दो उपाधियों के द्वारा उसे भिन्न कहा जाने वाला कहते हैं।

फिर प्रश्न उठता है कि जब शब्द और अर्थ में इस प्रकार का अभेद है तो शब्द का जो अर्थ हमारे सम्मुख जाता है वह अतिभिन्न ही होता है और वह शक्ति नि:सांकेतिक ही होती है। 'कहियत भिन्न' अवस्था में ही व्यवहार जगत का काम चलाने के लिए उसकी भिन्न शक्तियों की कल्पना की गई है।

व्यवहार जगत में इसका काम चलाने के लिए शब्द की तीन शक्तियों का नाम लेते हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। शब्द का कोषगत अर्थ अथवा लोक व्यवहार में प्रचलित अर्थ अभिधा का अर्थ माना जाता है। लक्षणा वह शक्ति है जिसके द्वारा शब्द के लक्षणों द्वारा उस शक्ति का समीपवर्ती सम्बद्ध अर्थ लिया जाता है। जैसे हम किसी मनुष्य को बैल कह दें तो वह सींगपूंछ वाला पशु न समझा जावेगा। यद्यपि बैल शब्द का अर्थ ऐसा ही एक पशु है, परन्तु बैल का मुख्य लक्षण मूर्खता है। इसका सादृश्य उस व्यक्ति में उपस्थित दिखाई देता है। अतएव सादृश्य सम्बन्ध के कारण वह मनुष्य बैल के समीप हुआ और उस मनुष्य को बैल कहा गया। इस प्रकार बैल शब्द का अर्थ 'मूर्ख मनुष्य' लक्षणा शक्ति से व्यक्त हुआ।

ऊपर के उदाहरण में बैल शब्द का अर्थ मनुष्य क्यों लिया जाय परन्तु बैल कहने के उपरान्त उस मनुष्य में हम बैल पन का बोध न करके उसे मूर्ख समझते हैं। यह मूर्खता का विशेषण और तत्सम्बन्धी बोध देने के लिए आचार्यों ने व्यंजना शक्ति की कल्पना की है। एक और उदाहरण आचार्यों ने दिया है जिससे व्यंजना शक्ति का व्यापार अधिक स्पष्ट हो जाता है। दस-पाँच व्यक्ति एक साथ बैठे हुए हैं। किसी ने आकर कहा सन्ध्या हो गयी है। अब पंडित जी ने समझा कि भजन-पूजा का समय हो गया। लाला जी सोच रहे हैं कि अब दूकान बढ़ा देनी चाहिए। चोर के मन में आता है कि रात्रि के कार्यक्रम के लिए आवश्यक उपकरण एकत्र करने का समय है। कोई प्रेमी प्रिय-मिलन का संकेत-काल समझता है। साधारण काल-सूचना से इन विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन केवल अभिधा या लक्षणा का व्यापार नहीं है। इसके लिये किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता है और वह शक्ति व्यंजना के नाम से पुकारी जाती है।

यद्यपि कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्ति जीवित' लक्षण ग्रन्थ में शब्द के ये तीनों व्यापार अभिधा के ही व्यापार बताये हैं और हमारी दृष्टि में मनुष्य की मानसिक रचना साहचर्य नियमों के अनुसार एक ही अभिधा शक्ति के विभिन्न अर्थों को ग्रहण करती रहती है, फिर भी जैसा हम पहले कह आये हैं व्यावहारिक दृष्टिकोण से हमें अर्थ के ये तीन रूप, अभिधेय, लक्ष्य और व्यंग्य दिखाई पड़ते हैं। अत: इनको व्यक्त करने वाली तीन शक्तियाँ अभिधा, लक्षणा और व्यंजना मान लेने में कोई विशेष आपत्ति नहीं। भले ही कुन्तक के मतानुसार वर्म, चर्म, मर्म छेदन पूर्वक प्राणहरण

करना केवल एक ही 'इषु' व्यापार का परिणाम क्यों न हो, अर्थात् एक ही अभिधा शक्ति से अभिधेय लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ भले ही प्राप्त क्यों न होते रहें, किन्तु एक मुख्य शक्ति के ही इन तीन विभिन्न व्यापारों को मान लेना अनुचित न होगा।

अभिधा

संस्कृत साहित्यकारों ने इसका नाम आख्यात (धातु) कृत् और तद्धित रूपों में स्वीकार किया है। वस्तुतः कृत् और तद्धित नाम और समास के अन्तर्गत माने गये हैं, क्योंकि यद्यपि ये रूप आख्यात अथवा नामों से निष्पन्न होते हैं तो भी अन्ततः वे नाम का काम करने लगते हैं। अव्यय, उपसर्ग विभक्ति और प्रत्यय अविकारी होते हुए भी अभिधार्थ बोध में सहायक होते हैं। अतएव अभिधार्थ में इन शब्दों से जो निश्चित सांकेतिक अर्थ हमें प्राप्त होता है वह सब अभिधा शक्ति का परिणाम है। राम ने रावण को मारा। राम और रावण दो नाम हैं। 'मारा' आख्यात है। 'ने' और 'को' विभक्तियाँ हैं जिनसे 'राम' में कर्तृत्व और 'को' में कर्मत्व का बोध होता है।

> द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां, समागमप्रार्थनया पिनाकिन ।
> कला च सा कांतिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥
>
> —कुमारसंभव, पंचम सर्ग

'गतं' का कृत्, 'सम्प्रति' का अव्यय, 'समागमप्रार्थनया' तथा 'नेत्रकौमुदी' का समास, 'कांतिमती' और 'कलावतः' का मतुप् और वतुप् प्रत्यय जिन-जिन स्व सम्पादित तथ्यों का सम्पादन करते हैं वे सब अभिधा व्यापार के परिणाम हैं। अभिधा के विशिष्ट और व्यापक विवेचन के लिए यहाँ पर पर्याप्त स्थान नहीं है। अतएव हम इस सामान्य परिचय से ही सन्तोष किये लेते हैं।

लक्षणा

लक्षणा के मुख्यतः दो रूप किए गये हैं–(१) शुद्धा, (२) गौड़ी। जब सादृश्य के आधार पर शब्द किसी दूसरे अर्थ का बोध कराता है तब गौणी लक्षणा कहलाती है। परन्तु किसी अन्य व्यापार के आधार पर जब हम कोई दूसरा अर्थ ग्रहण करते हैं तब शुद्धा लक्षणा का प्रयोग होता है।[1] गौणी का उदाहरण हम ऊपर दे आये हैं। जब हम दही वाले को 'ओ दही इधर आओ' कहते हैं तो दही से दही का अर्थ न लेकर 'दही वाले' का अर्थ होता है।

जब हम किसी धनीमानी व्यक्ति को देख कर कह देते हैं कि वह राजा है तब हमारे कहने का अभिप्राय राजा के समान ऐश्वर्यादि-सम्पन्न व्यक्ति होता है, वस्तुतः

१. सादृश्येतरसम्बन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि ।
सादृश्यात्तु मताः गौण्यः.........॥ —साहित्य दर्पण, पृ० ६

राजा नहीं। पहले उदाहरण में सादृश्य न होने के कारण शुद्धा लक्षणा है। दूसरे में सादृश्य सम्बन्ध के कारण गौणी लक्षणा समझी जावेगी। इसी प्रकार 'मुख-पंकज खिल गया' में गुणसादृश्य के कारण गौणी लक्षणा होगी।

लक्षणा को रूढ़ि और प्रयोजनवती इन दो भेदों में भी बाँटा गया है। तिल से जो वस्तु उत्पन्न होती है उसे तैल कहते हैं। क्योंकि तैल शब्द का अर्थ तिल से उत्पन्न होने वाला ही है। परन्तु तैल शब्द न केवल तिल से उत्पन्न होने वाले एक विशेष पदार्थ का नाम है, वरन् सरसों, लाही, महुआ आदि से निकलने वाले तैल को भी तैल ही कहते हैं। इनके अतिरिक्त और न जाने कितने तैल हैं, वे सब तैल ही कहे जाते हैं। इन सबको तैल कहने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं है फिर भी एक बार लक्षण निश्चित हो जाने पर सभी प्रकार के वैसे प्रयोगों के लिए तैल शब्द रूढ़ हो गया है। यह रूढ़ि लक्षणा का सादृश्यमूलक उदाहरण है। ऊपर जो बैल का उदाहरण दिया गया था उसमें मनुष्य को बैल कहना उसकी मूर्खता प्रकट करने के अर्थ से प्रयोजन रखता है। वह उदाहरण प्रयोजनवती लक्षणा का है।

लक्षणा के भेद एक अन्य प्रकार से भी किये जा सकते हैं। इन्हें जहत्स्वार्था (लक्षण लक्षणा) और अजहत्स्वार्था लक्षणा (उपादान लक्षणा) कहते हैं। 'मार्ग देखते-देखते आँखें फूट गईं।' 'आँखें फूट जाना' शब्द का अर्थ यहाँ वाच्य नहीं है, वरन् कहना केवल इतना ही है कि अत्यधिक कष्ट हुआ। यहाँ 'फूट जाना शब्द का प्रयोग कष्ट होने के लिए 'जहत्स्वार्था लक्षणा' के लिए प्रयुक्त हुआ है और 'फूट जाना' कारण है, उसका अर्थ कष्ट होना है।

'युद्ध में रथ दौड़ रहे थे।' वस्तुतः घोड़े सारथियों द्वारा दौड़ाये जा रहे थे। रथ उनके साथ खिंच रहे थे। अतएव रथ दौड़ने के अर्थ में घोड़े और रथ सारथी आदि सबका दौड़ना सम्मिलित है। इस अर्थ में रथ का दौड़ना छूट नहीं जाता। अतएव 'रथ दौड़ने' में 'अजहत्स्वार्था लक्षणा' मानी जावेगी।

इसके अतिरिक्त लक्षणा के और भी अनेक प्रकार से भेद किए जा सकते हैं, किन्तु उनका विस्तृत विवेचन साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में देखना अधिक उपयुक्त होगा। नीचे हम सन्त-साहित्य में प्राप्त होने वाले लक्षणा-सम्बन्धी कतिपय उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

शुद्धा लक्षणा

सेवें सालिगराम कूं, मन की भ्रान्ति न जाइ।
सीतलता सुपिनै नहीं, दिन दिन अधिकी लाइ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४४

ऊपर के उद्धरण में सीतलता सुख का कारण और लाइ (अग्नि) दुख का कारण है। जन्य-जनक अथवा कार्य-कारण भाव होने से यहाँ 'शुद्धा लक्षणा' मानी

जायगी । 'मन की भ्रांति न जाय' में रूढ़ि शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा होगी ।

प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना लक्षणा

भगति बिगाड़ी कामियां, इन्द्री केरे स्वादि ।
हीरा खोया हाथ थै, जनम गंवाया बादि ।।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४०

हीरा से तात्पर्य है हीरा के समान मूल्यवान वस्तु । इन्द्रिय-जनित स्वाद के लिए भक्ति का रूप नष्ट हो गया है और हीरा के समान श्रेष्ठ वस्तु-प्रभु की भक्ति नष्ट हो जाने से समस्त जीवन नष्ट हो गया । इसमें आरोप्य वस्तु लुप्त होने से साध्यवसाना लक्षणा है । जन्म को विषयों द्वारा नष्ट न किया जाय, यह इस साखी का प्रयोजन है । अतः सम्पूर्ण साखी में 'प्रयोजनवती गौड़ी साध्यवसाना लक्षणा' होगी । एक दूसरा उदाहरण देखिये—

काजल केरी कोठरी, मसि के कर्म कपाट ।
पाहन बोई पृथमीं, पंडित पाड़ी बाट ।।

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४३

ऊपर के उदाहरण में 'काजल केरी कोठरी' में विषय का लोप है । कोठरी क्या है और कैसी ? उससे लक्ष्य किस वस्तु की ओर है ? यह पद में व्यक्त नहीं है । इसी प्रकार 'पाहन बोई पृथमी' में भी विषय का लोप है । अतः यहाँ साध्यवसाना लक्षणा हुई । 'मसि के कर्म कपाट' में कर्म में कपाट का आरोप किया गया है । अतः यहाँ सारोपा लक्षणा है । प्रयोजनवती गौड़ी लक्षणा का एक उदाहरण और देखिए—

केसो कहा बिगाड़िया, जे मूड़ै सौ बार ।
मन को काहे न मूड़िये, जामैं विषय बिकार ।।

—कबीर ग्रन्थावली पृ० ४६

मूड़ना में विषय-विकार की प्रवृत्तियों के विनाश का भाव है । अतः सादृश्य सम्बन्ध से गौड़ी लक्षणा होती है । विषय-विकार का सर्वांशतः विनाश ही प्रयोजन है । अतः सम्पूर्ण साखी में प्रयोजनवती गौड़ी लक्षणा हुई ।

रूढ़ लक्षणा

आषी साखी सिर कटै, जौ रे बिचारी जाइ ।
मन परतीति न ऊपजै, तौ राति दिवस मिलि गाइ ।।

—कबीर ग्रन्थावली

सिर काटना, अहंकार के विनाश के लिए रूढ़ प्रयोग है । अतः यहाँ रूढ़ लक्षणा हुई ।

व्यंजना

व्यंजना में हम शब्द के अभिधा और लक्षणा दोनों का उपयोग करते हैं । कभी व्यंजना अभिधा से ही अपना काम ले लेती है । कभी वह लक्षणा का सहारा लेकर किसी विशेष भाव को व्यक्त करती है और कभी व्यंजना एक अर्थ को प्रकट करके अपने भीतर से किसी अन्य व्यंग्य अर्थ को व्यक्त करने लगती हैं । इस प्रकार व्यंजना का व्यापार विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है ।

"जो मैं राम तो कुल सहित कहिय दसानन आइ ।" –तुलसी०

इस पद में राम शब्द अपने अभिधार्थ दशरथ-नंदन भगवान राम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु राम शब्द केवल दाशरथि को व्यक्त करके समाप्त नहीं हो जाता । कुछ विशिष्ट शक्ति-सामर्थ्य और आत्माभिमान की भी व्यंजना करता है । वह विशिष्ट शक्ति आदि व्यंजना-शक्ति से उपलब्ध व्यंग्यार्थ है ।

लक्षणा से व्यंग्य अर्थ का उदाहरण हम पहले दे आये हैं । प्रत्येक प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोजन उसका व्यंग्यार्थ होता है । संस्कृत आचार्यों का एक बहुत प्रसिद्ध उदाहरण है–'गंगायां घोषः ।' गंगा में किसी 'घोष' की स्थिति असम्भव है । अतएव लक्षणा द्वारा गंगा का समीपवर्ती तट गंगा शब्द का अर्थ लेना होता है, किन्तु तट न कह कर 'गंगायाम्' कहने का प्रयोजन गंगा के शैत्य और पावनत्व को तट में स्थापित करना है । यही प्रयोजन है जो लक्षणा के माध्यम से होने वाली व्यंजना-शक्ति से प्राप्त होता है ।

"खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रवीना ॥
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं : प्रिया बेगि प्रगटति कस नाहीं ॥"

–रामचरित मानस

ऊपर के पहले पद में कुछ ऐसे उपमान हैं जो जगज्जननी जानकी के अंगों का साधर्म्य रखते हैं । इन उपमानों के दर्शन से भगवती जानकी का स्मरण पहली व्यंजना है जो पहले चरण से व्यक्त हुई है और इस स्मरण के उपरान्त हृदय में अभाव जन्य पीड़ा की व्यंजना से व्यक्त होने वाला दूसरा व्यंग्यार्थ है । इसी प्रकार दूसरे चरण में भी यदि 'तू प्रकट हो जाय तो इन रूप गर्वित उपमानों का गर्व ध्वस्त हो जाय' पहली व्यंजना है और 'मेरी मानसिक अशांति मिट जाय' यह दूसरी व्यंजना है जो पहली व्यंजना से व्यंग्यार्थ रूप में है । उक्त उदाहरण में हम शब्द और अर्थ से प्रकट होने वाली व्यंजनाओं का संकेत कर चुके हैं जो व्यंजना अभिधा, लक्षणा और

व्यंजना तीनों से होती है । अब हम संक्षेप में आर्थी व्यंजना के[1] कतिपय उदाहरणों सन्त-साहित्य के संदर्भ में देखने का प्रयत्न करेंगे ।

वक्तृ वैशिष्ट्य संभवा व्यंजना

वाक्य में तीन पुरुषों का विवेचन होता है । उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष । वक्ता को उत्तम पुरुष कहते हैं । जिससे बात कही जाती है उसे मध्यम पुरुष कहते हैं और जिसके सम्बन्ध में बात की जाती है उसे अन्य पुरुष कहते हैं । जहाँ वक्ता कोई ऐसा विशेष व्यक्ति होता है जिसके कथन से किसी विशेष अर्थ की व्यंजना होती है, तब वहाँ 'वक्तृ वैशिष्ट्य संभवा व्यंजना' होती है । यथा–

गुरु गोबिन्द दोउ खड़े, काके लागौं पांय ।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोबिन्द दियो बताय ॥

–क० ग्रं०, पृ० १

इस पद में वक्ता 'गुरु-गोबिंद' की महत्ता का तुलनात्मक विवेचन करने में असमर्थता व्यक्त करता है । अपनी असमर्थता रूप व्यंग्य को हम वक्तृ वैशिष्ट्य व्यंजना मानेंगे । यहाँ पर यह भ्रम न करना चाहिए कि 'काके लागौं पांय' में 'काकु' द्वारा कोई व्यंग्य उत्पन्न हुआ है । यह केवल प्रश्न है जो उस असमर्थता से उत्पन्न होता है ।

बोद्धव्य वैशिष्ट्य व्यंजना

मध्यम पुरुष की विशिष्टता से जब कोई व्यंग्य होता है तब वह बोद्धव्य वैशिष्ट्य व्यंजना कहलाती है । यथा–

साईं तेरा कुछ नहीं, मेरा होय अकाज ;
बिरह तुम्हारे लाज का, सरल करेगी काज ॥

–क० (संत बानी १), पृ० २

हे प्रभु यदि तुम मुझे पार नहीं उतारते तो तुम्हारा तो कुछ नहीं बिगड़ेगा पर मेरा अकाज हो जावेगा । तुम्हारे नाम का यश सुनकर मैं आया हूं । अब तुम्हें "सरन परे की लाज निबाहनी होगी", में अभिधार्थ है, परन्तु व्यंग्यार्थ के द्वारा मानो

---

१. वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्य संनिधेः,
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थ धीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेवसा । –काव्य प्रकाश, पृ० ३

वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाच्य, अन्य व्यक्ति का समीप्य, प्रसंग, देश, काल आदि की विशेषता से विशेष प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों को एक अर्थ से जो किसी अन्य अर्थ का बोध होता है वह अर्थशक्ति से जन्य व्यंजना कहलाती है ।

कबीर स्पष्ट कहना चाहता है कि तुम्हारा यश भी नष्ट होता है। यह बोद्धव्य वैशिष्ट्य संभवा व्यंजना कहलाती है।

वाक्य वैशिष्ट्य संभवा व्यंजना

जब किसी वाक्य में वाक्यार्थ से ही किसी दूसरे भाव की व्यंजना होती है तब वाक्य वैशिष्ट्य संभवा व्यंजना मानी जाती है। यथा–

> सूर न जाने कायरी, सूरा तन से हेत।
> पुरजा पुरजा ह्वै पड़ै, तऊ छाँड़ै खेत ॥

–दरिया (मारवाड़), संतबानी, पृ० १३

उक्त छंद में वीर हृदय की भावना व्यक्त हुई है। परन्तु सामान्य मानव का सांसारिक बाधाओं से अपराजित रहना तथा ज्ञान-मार्ग पर चलते हुए अविचल भाव से अपने अहं का बलिदान कर देना व्यंग्यार्थ है जो वाक्य सिद्ध होता है। अन्योक्ति अलंकार इसी वाक्य वैशिष्ट्य संभवा व्यंजना पर आधारित है। उक्त छंद में भी अन्योक्ति कही जा सकती है। परन्तु यदि हम इस छंद में अन्योक्ति निश्चित मानें और दूसरी बार देश-भक्त के लिए इसी अर्थ का प्रयोग करें तो अन्योक्ति वहाँ निरवकाश होगी।

वाक्य वैशिष्ट्य संभवा व्यंजना

वाक्य वैशिष्ट्य सम्भवा व्यंजना पूरे वाच्यार्थ से व्यक्त होने वाला विशेष भाव होता है। वाक्य वैशिष्ट्य सम्भवा व्यंजना और वाच्य वैशिष्ट्य सम्भवा व्यंजना में अन्तर केवल इतना ही है कि वाक्य व्यञ्जना केवल विशेष से सम्बन्ध रखती है और वाच्य वैशिष्ट्य सम्भवा व्यञ्जना अर्थविशेष से निष्पन्न वह विशिष्ट व्यंग्य है जो भाव-विशिष्ट से सम्बन्ध रखता है। नीचे वाच्य वैशिष्ट्य सम्भवा व्यञ्जना का उदाहरण दिया जाता है–

> किधौं पेट चूल्हो कीधौं भाठि कीधौं भाड़ आहि।
> जोइ कछु झोकिये सु सब जरि जातु है ॥
> किधौं पेट थल किधौं, वापि किधौं सागर है।
> जेतो जल परै तेतो, सकल समातु है ॥
> किधौं पेट दैत किधौं, भूत प्रेत राक्षस है।
> खाउं खाउं करै कछु, नेक ना अघात है ॥
> सुन्दर कह प्रभु कौन पाप लायो पेट।
> सबही जनम भयो् तबही को खातु है ॥

–सुन्दरदास, (संतबानी संग्रह भाग २), पृ० ११३

भाव में कभी तृप्त न होने वाली तृष्णा का परित्याग करना ही अच्छा है। यह 'वाच्च वैशिष्ट्य सम्भवा व्यञ्जना' से अर्थ लिया जायगा।

प्रस्ताव वैशिष्ट्य संभवा व्यंजना

जागु जागु आतमा पुरान दाग धोउ रे।
कर्म भर्म दूर करु, कौन काम खाउ रे॥
अपनी सुधि भूलि गई, और की क्या टोउ पे।
सन्त बात झूठ करै, झूठ ही को गोऊ रे॥
इहै बात जानि जानि द्वार द्वार रोउ रे।
सत्तर पानी साबुन का, प्रेम पानी मोउ रे॥
लाग दाग धोय डारु, वाह वाह होउ रे।
दूलन बेकूफ काम, गाफिल ह्वै न सोउ रे॥

—दूलनदास, संतबानी संग्रह २, पृ० १४८

इस पद के प्रसंग में जिसका अर्थ अपने मन की मलिनता दूर करना है। दाग कील क्षणा पाप कर्मों में है, वह तुझे लग गया है। उसे तू नहीं जानता इससे तेरी वाह-वाह होती है! तू मूर्ख है तू काम में गाफिल होकर सो रहा है। यहाँ सोने में आत्मसुधार के प्रति अनवधान होने की लक्षणा है परन्तु इस समस्त प्रकरण का मुख्य व्यंग्य मनुष्य को सचेत करना है। यह निर्देश प्रकरण के उत्पन्न होने के कारण प्रस्ताव वैशिष्ट्य सम्भवा व्यञ्जना मानी जावेगी।

देश वैशिष्ट्य संभवा व्यंजना

यह किसी देश विशेष से उत्पन्न होने वाले भाव विशेष का संकेत करती है।

ढोल दमामा बाजिया, सबद सुना सब कोय।
जो सर देखि सती भगै, दोऊ कुल हांसी होय॥

कबीर, (सन्त बानी संग्रह १), पृ० ४१

श्मशान में चिता मृत्यु का स्थान है। इस स्थान को देखकर तुझ पर सब हसेंगे : किन्तु इसका व्यंग्य अर्थ यह है कि मैं ऐसे विपदा के स्थानों से भयभीत नहीं होऊंगा। यहाँ देश वैशिष्ट्य सम्भवा व्यञ्जना से व्यंग्यार्थ हैं।

काल वैशिष्ट्य सम्भवा व्यंजना

काल विशेष से उत्पन्न होने वाला व्यंग्य अर्थ काल वैशिष्ट्य सम्भवा व्यंजना माना जायगा।

आठ पहर चौसठ घड़ी, मरे और न कोय।
नैना मांही तू बसै, नींद को ठौर न होय॥

—कबीर, संतबानी संग्रह १, पृ० ४१

केवल एक दिन का वर्णन नहीं है। समस्त जीवनव्यापी प्रेम की व्यंजना 'काल वैशिष्ट्य सम्भवा व्यंजना' के आधार पर मानी जायेगी।

काकु वैशिष्ट्य सम्भवा व्यंजना

कौन सखी सुख बिलसै, कौन सखी दुख साथ।
कौन सखियाँ सुहागिनि हो, कौन कमल गहि हाथ।।
—दरिया (बिहार) संत बानी संग्रह २, पृ० १४१

संसार में कोई सदैव सुख नहीं पाता और सदैव दुखी भी नहीं रहता। किसी स्त्री का सौभाग्य भी सदैव स्थिर नहीं रहता और किसी को प्रियतम की संप्राप्ति सुलभ नहीं हो पाती। यह व्यंग्यार्थ काकु वैशिष्ट्य सम्भवा व्यंजना से व्यक्त हुआ है।

चेष्टा वैशिष्ट्य सम्भवा व्यंजना

जब शारीरिक चेष्टाओं से कोई भाव व्यंग्य रूप में प्रकट होता तब चेष्टा वैशिष्ट्य सम्भवा व्यंजना होती है। यथा—

उनहीं सौ कहियो मोरी जाय।
ए सखि पैयाँ परि मैं बिनवौं, काहे हमैं डारिन बिसराय।
मैं का करौं, मोर बस नाहीं, दीन्ह्यो अहै मोहिं भटकाय।।
ए सखि साईं मोहिं मिलावहु, देखि दरस मोर नैन जुड़ाय।
जगजीवन मन मगन होउं मैं, रहौं चरन कमल लपटाय।।
—जगजीवन० (सन्तबानी संग्रह २) पृ०, १२

पैयाँ पड़ने के द्वारा अपनी दीनता को प्रकट करना 'चेष्टा वैशिष्ट्य सम्भवा व्यंजना' है।

---

१०. संतों की भाषा और संस्कृति

संस्कृति और सभ्यता इन दो शब्दों में मानव तथा समाज का अन्त: एवं बाह्य जगत संगुंफित है। संस्कृति उसके अन्त: का विकास है और सभ्यता उसका बाह्य प्रकटन है। संस्कृति अन्त: विकास के लिए सर्वत्र एक समान है, परन्तु सभ्यता प्रत्येक देश के सुसंस्कृत नागरिक में उदारता, त्याग, सहनशीलता, क्षमा, परोपकारिता आदि वे सभी सद्वृत्तियां पाई जाती हैं जो मानवात्मा के विकास के लिए अपेक्षित हैं। चाहे कोई राम को माने या रहीम को, अथवा मसीह को; चाहे कोई मन्दिर में जाकर नवधाभक्ति के स्वरूपों का विधान करे, चाहे मसजिद में जाकर नमाज पढ़े और चाहे गिरजाघर में जाकर प्रभु का ध्यान करे, पर सबके अन्तस् में रमण करने वाली वह परम दिव्य ज्योति सतत एक रूप होकर सर्वत्र भक्त के लिए प्रकाशस्तम्भ बना करती है। यही कारण है कि प्रत्येक देश के ईश्वरोपासक प्राणी जीवन-तत्वों के निरूपण में एक रूपता की सृष्टि करते हुए पाए जाते हैं। सत्य सर्वत्र एक रूप होता है। अस्तु उसका दर्शन भी समस्त कालों एवं समस्त देशों में एक समान ही होगा। अन्तर केवल उस सत्य के व्यावहारिक रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह व्यावहारिकता ही सभ्यता के विभिन्न रूपों की सृष्टि किया करती है। देश और काल की सीमाएँ उन रूपों को निरन्तर बनाती-सँवारती रहती हैं। जीवन का एक ही सत्य विभिन्न देश और काल की सीमाओं के अन्तर्गत विभिन्न रूपों में व्यक्त होता रहता है।

जीवन का सत्य

अन्त: विकास मन से प्रारम्भ होता है। मानसिक विकास में नैतिकता का स्थान प्रमुख है। मन के संकल्प-विकल्प जब सदाचार की वृत्ति पर आधारित होते हैं तभी वे परिष्कृति प्राप्त करते हैं। संकल्प शुभ एवं अशुभ दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। शुभ संकल्प मानव-विकास के कारण हैं। अशुभ सकल्प उसका ह्रास करते हैं और उसे अध: पतन की ओर ले जाते हैं। इसीलिये मनीषियों ने मन को पकड़ने का सतत प्रयास किया है। मन में शिव, अशिव सभी कुछ छिपा है। अविकसित, अनुन्नत प्राणी दोनों को धारण किए हुए है। पर उन्नत पथगामी मानव शिव को ही पकड़ता है, अशिव को नहीं; शुभ का संचय करता है, अशुभ का नहीं। यही शिव संकल्प निर्णयात्मिका बुद्धि के निर्माण में सहायता देते हैं।[1] "तन्मे मन: शिवसंकल-पमस्तु" की प्रार्थना का उद्देश्य ही अशिव को छोड़ कर शिव की ओर जाना है।

१. डा० मुंशीराम शर्मा--प्रथमजा, पृ० ५२

विकसनशील मानव समाज के लिए वरदान बन कर आता है। वह अपने शिव संकल्पों द्वारा न केवल आत्म-कल्याण ही करता है, अपितु अपने चतुर्दिग समस्त वातावरण को शिव—कल्याण से पूर्ण कर देता है। समाज में उसके तप द्वारा घ्रणा के स्थान पर पारस्परिक सौहार्द्र, ईर्ष्या-द्वेष एव वैमनस्य के स्थान पर प्रेम, लोभ के स्थान पर त्याग, आलस्य के स्थान पर कर्तव्यनिष्ठा आदि सद्वृत्तियों का उदय होता है। ये सद्वृत्तियाँ ही सर्वतोमुखी विकास का कारण बना करती हैं। इन सद्-वृत्तियों के रूप में मानव के अन्तस् का सौन्दर्य उभर कर उसके समस्त बाह्य वातावरण को सुन्दर बना देता है। यदि मानव में शिव-संकल्प न हों, यदि वह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का दर्शन न करे, यदि उसके जीवन में संयम-नियम व्रत, यज्ञादि गुणों का सन्निवेश न हो, यदि वह जीवन की मर्यादाओं से पूर्ण विज्ञ बन कर आचरण न करे; संक्षेप में यदि उसकी सुसंस्कृत वृत्ति होकर जीवन—यापन में योग न दे तो यह विश्व घोर नरक-कुंड बन जाय।

जिस प्रकार अग्नि में व्याप्त उसकी दाहिका शक्ति अपनी परिधि में आने वाले समस्त वातावरण को ऊष्मा प्रदान करती रहती है, हिम में व्यप्त शीतलता चतुर्दिक प्रदेश को शीतल किया करती है, सुमनों में व्याप्त सुरभि वायु को सतत सुरभित किया करती है उसी प्रकार मानव के अन्तस् में व्याप्त उसकी सांस्कृतिक चेतना भी निरन्तर शान्ति एवं सुख का संचार करने में प्रवृत्त रहती है। सभ्यता के विभिन्न रूप उसी सांस्कृतिक चेतना की देन है। हमारे जीवन—व्यापी संस्कार ही हमारी मनोवृत्तियों पर शासन करते रहते हैं तथा उन्हें सत् या असत् पथ की ओर अग्रसर करते हैं। इसीलिए मानव--मन की अन्तर्दशाओं को सुनियोजित रखने के लिए विभिन्न साधनात्मक क्रियाएँ करनी पड़ती हैं।

सामान्यत: मनुष्य उपयोगी वस्तुओं का अर्जन एव संग्रह करता रहता है। विश्व में जितने भी नव-निर्माण के स्वरूप हैं वे सब उपयोगी होने के कारण ग्राह्य हैं। सभ्यता के विकास में नव निर्मित वस्तुएँ निरन्तर योगदान देती ही रहती हैं। पर वस्तुओं में चारुत्व की सृष्टि करने वाली वस्तु हमारे अन्तर्मन की वह परम दिव्य शक्ति है जो जन्मजन्मान्तर के संस्कारों द्वारा उद्भूत होती हुई अपना निर्माण करती है। फुलवाड़ी लगाने की साध किसी क्षण विशेष की सृष्टि हो सकती है पर पौधों का चयन, उनके लगाने का क्रम और उनके सँवारने की प्रक्रिया मानव के अन्तस् में संस्कार प्रसूत सुरुचि के अभाव में सम्पन्न नहीं हो सकती। अस्तु स्पष्ट है कि हमारे अन्तस् का व्यापार ही हमारे समस्त बाह्य व्यापारों का हेतु बना करता है। इसी रूप में हमारी संस्कृति ही हमारी सभ्यता को आकार प्रदान करती है।

जब-जब मानव की सांस्कृतिक चेतना प्रबुद्ध रही है तब-तब जीवन की समस्त साधनाएँ विश्व-व्यापी मंगल-विधान की ओर अग्रसर हुई है। मानव ने

स्वात्ममूलक प्रवृत्तियों को महत्व न देकर परात्ममूलक कल्याण को ही श्रेयस्कर माना है। पर सांस्कृतिक विकास के अभाव में मानव देवोपम आचरण को छोड़ कर पालक के स्थान पर संहारक बना है, रक्षक के स्थान पर भक्षक बना है, प्रेम के स्थान पर ईर्ष्या-द्वेष और वैमनस्य की सृष्टि की है। स्वार्थान्धता में आकर उसने अनुचित उचित, कर्तव्याकर्तव्य, पाप-पुण्य सब का विचार छोड़कर केवल आत्म-हित को ही प्रधानता प्रदान की है। यदि मानव की चेतना, उसके विवेक पर मायाकृत प्रलोभनों असत् व्यापारों ने आवरण न डाला होता तो नश्वर राज्य और चञ्चल लक्ष्मी के लिए एक भाई ने दूसरे भाई का बध न करवाया होता, एक पुत्र ने अपने पिता को कारागार में डालकर बन्दी जीवन व्यतीत करने के लिए विवश न किया होता। यही नहीं, आस्तिकता का दम्भ करने वाले, अन्त: बाह्य सर्वत्र अणु-अणु में ब्रह्म-व्याप्ति का उपदेश देने वाले व्यक्ति क्रूरातिक्रूर कर्म करते देखे गए हैं। अहिंसा एव सत्य के नाम पर न जाने कितनी हिंसा हुई और न जाने कितना अनृत व्यापार समाज में व्याप्त हुआ। मानव के ये असभ्य व्यवहार समाज एवं सभ्यता के लिए अत्यन्त विघातक सिद्ध हुए हैं।

सन्तों ने अपने जीवन-काल में समाज की ऐसी ही अभिशप्त अवस्था देखी थी। अत: उनके शब्दों में समाज-सुधार का स्वर बलवती घोषणा के साथ मुखरित हुआ। सन्तों ने जहाँ सामाजिक संशोधन किया है वहाँ उसके मूलकारण अर्थात् मानसिक विकारों पर भी गहरा आघात किया है। आत्मसंयम जहाँ उनके अपने व्यक्तिगत जीवन की साधना-भूमि है वहाँ वह सामाजिक सुधार की भी उतनी ही दृढ़ आधार भूमि भी है। योग–दर्शन में जिन यम-नियमों का वर्णन है वे सामाजिक एवं वैयक्तिक विकास के सुदृढ़ सोपान प्रस्तुत करते हैं। सभी सन्त, चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय के हों, इनका वर्णन करते हैं और विकास के लिए इन्हें अनिवार्यता प्रदान करते हैं। सूफियों के चार बसेरे और सात मुकामात मानसिक विकास के साधक हैं। सन्तों पर इनका भी प्रभाव पड़ा है। भक्ति-भावना सन्तों की विशिष्ट सम्पत्ति है। सामान्यत: सभी सन्त भक्ति की भाव-धारा में डूबे हुए हैं परन्तु कुछ सन्त ऐसे भी हैं जिन्होंने ज्ञान को महत्ता दी है। ज्ञान के साथ वे कर्म को विस्तृत नहीं करते। कबीर का यह कथन है—

कबीर जे धन्धे तौ धूलि, बिन धन्धे धूलै नहीं।
ते नर बिनठे मूलि जिनि, धन्धै मैं ध्याया नहीं॥–क० ग्र० पृ० २६

उक्त कथन की सत्यता प्रमाणित करता है। सन्तों की भाषा में जो शब्द आए हैं उनसे उनकी चिन्तन पद्धति की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ उनकी संस्कृति एवं सभ्यता के सम्बन्ध में भी विशद् प्रकाश पड़ता है।

संतों ने अपने सभी पूर्व विचारकों की भाँति संसार को नाशवान समझा है। अविनाशी तो केवल प्रभु है जिसका कोई आकार-प्रकार नहीं है। उसकी तो प्रातिभासिक सत्ता है। वह अपनी विशिष्ट शक्ति (प्राण) के रूप में सब में समाया रहता है। यह प्राणमयी शक्ति के निकल जाने पर समस्त प्राणी मृत्तिका के रूप में परिणत हो जाते हैं। जब तक उसमें श्वास-प्रश्वास की गति बनी रहती है तब तक उसका अहंकार प्रबुद्ध रहता है। कबीर वैभव कृत रूपों की असारता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं–

> कबीर कहा गरबियो, ऊंचे देखि अवास।
> काल्हि परयुं भ्वैं लेटना, ऊपर जामें घास ॥ –क० ग्रं० पृ० २१

दादू भी इसी असारता का प्रतिपादन करते हैं–

> कहता सुनतां देखतां खेतां देतां प्राण।
> दादू सो कत हूं गया, माटी धरी मसाण ॥
>
> –संतसुधासार, पृ० ८

धनी धरमदास संसार के निर्माण और विनाश को एक तमाशा मानते हुए कहते हैं–

> उपजि-उपजि बिनसत करैं, फिर-फिर असे गिरास।
> यही तमाशा देखि के, मनुवा भयो उदास ॥
>
> –संतसुधासार, पृ० ११५

नानक संसार को स्वप्नवत मानते हैं–

> या संसार रैन का सपना कहिं दीखा कहिं नाहिं दिखाया।
>
> –सन्तबानी संग्रह, पृष्ठ ४२

इसी प्रकार अन्य संतों ने भी संसार की असारता का अपनी-अपनी भाषा में निरूपण किया है। उनका विश्वास है कि यदि मनुष्य अहंकार को त्याग दे तो जीवन-गति में ऋजुता का समावेश हो सकता है। जीवन की समस्त वक्रता उसके अहंकार की ही देन है। जब तक मानव में अहंकार विद्यमान है तब तक उसका कल्याण संभव नहीं। दम्भादि मानव की आसुरी सम्पत्तियाँ[1] हैं। ये निश्चय ही आत्मा के विकास में बाधक हैं। इसीलिए कबीर इनसे दूर रहने की सोचते हैं। वे अहंकार को रुई लपेटी आग मानते हुए कहते हैं–

१. दम्भो दर्पोऽभिनाश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ –गीता, १६–४

मैं मैं बड़ी बलाइ है, सकै तो निकसी भागि ।
कब लग राखौं हे सखी, रुई पलेटी आगि ।।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७

रदास (अहंकार) को विनाशक तत्व मानते हैं—

मैं अरु ममता देखि सकल जग मैं से मूल गंवाई ।

—संत सुधासार, पृष्ठ ९४

नानक अहंकार के नष्ट न होने के कारण पश्चाताप की भावना व्यक्त करते हैं—

माई मैं मन को मान न त्यागो ।
माया के मद जनम सिरायो राम भजन नहिं लाग्यो ।

—सन्तबानी संग्रह २, पृ० ४९

मानव में अहंकार की सृष्टि माया के प्रभाव के कारण है । यह माया नाना रूपों में सर्वत्र व्याप्त है । माया की शक्ति अपार है । स्वतः ब्रह्म भी तो इससे अलग नहीं है । यही तो उसकी शक्ति है । ब्रह्म की मायात्मिका शक्ति के कारण ही तो इस नाम रूप का ज्ञान होता है, पर विशेषता यह है कि वह स्वतः नाम-रूप से अलग है—

वाचारम्भणमात्रत्वाच्च अविद्या कल्पितस्य नाम रूप भेदस्य ।

—२।१।१७ शांकर भाष्य

मानव-मन माया के ही प्रभाव में इस जगत के व्यापारों से इतना अधिक उलझा रहता है कि सूक्ष्म तत्व उसकी चिन्तन-परिधि में आ ही नहीं पाते । पर जब निरन्तर अभ्यास द्वारा आत्मबोध हो जाता है तब उसे वास्तविकता का ज्ञान होता है—

आत्माज्ञानात् जगद्भाति आत्मज्ञानान्न भासते ।
रज्जवज्ञानात् अहिर्भाति तज्ज्ञानाद् भासते न हि ।।
अहो विकल्पितं विश्वं अज्ञानात् मयि भासते ।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्य करे यथा ।।

—अष्टावक्र संहिता, २।७।९

इसीलिए भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत उन समस्त मायाकृत आवरणों को हटाने का बार-बार आग्रह किया जाता है जिससे वास्तविकता का, सत्य का दर्शन सम्भव हो सके—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।

—ईश० १५

भारतीय संस्कृति ने आत्मा का दर्शन ही सर्वश्रेष्ठ दर्शन माना है। उसकी समस्त साधनाओं का एकमात्र लक्ष्य आत्मा का दर्शन ही रहा है—

आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।

—बृ० २।४५

संत-साहित्य में भारतीय संस्कृति का यह रूप अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है। सभी संतों ने माया की अत्यन्त तीव्र स्वर में भर्त्सना की है और साधकों को इससे सावधान रहने का उपदेश दिया है जिससे परम तत्व के जानने, आत्मबोध होने में किसी प्रकार भी बाधा न पड़ सके। वे माया को दुर्बुद्धि की शृंखला के रूप में मानते हैं—

कबीर माया पापणीं, हरिसूं करे हराम ।
मुख कड़ियाली कुमति की, बाहण न देई राम ।।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२

वे माया को त्रिविधि तापों का मूल कारण समझते हैं—

माया तरवर त्रिविधि का, साखा दुख संताप ।
सीतलता सुपिने नहीं, फल फीका तन ताप ।।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४

दादू संसार को हरा-भरा बन मानते हैं, जहाँ मृग-रूप मन चौकड़ी भरा करता है, पर अन्ततोगत्वा वह शिकार का लक्ष्य बनता है—

यह बन हरिया देखि कर, फूल्यो फिरै गंवार ।
दादू यह मन मिरगला, काल अहेड़ी लार ।।

—सन्तबानी संग्रह १, पृष्ठ ८०

संत-कवि सुन्दरदास संसार की असारता तथा माया की चंचल गति के प्रति सावधान करते हुए कहते हैं—

बारू के मंदिर मांहि बैठे रह्यो थिर होइ,
राषत है जीवने की आसा कैऊ दिन की ।
पल-पल छीजत घटत जात घरी-घरी,
बिनसत बार कहा खबरि न छिन की ।
करत उपाइ झूंठे लैन-दैन षांन पान,
मूसा इत-उत फिर ताकि रही मिनकी ।
सुन्दर कहत मेरी-मेरी करि भूलौ शठ,
चंचल चपल माया भई किन-किन की ।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३९८

भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक गुण है उसकी अध्यात्मपरक प्रवृत्ति । वह अन्त: एवं बाह्य सभी स्थितियों में ब्रह्म की व्याप्ति मानती है । प्रकृति की समस्त क्रियायें उसी एक परम शक्ति के द्वारा संचालित होती हैं । हमारी समस्त साधनायें उसी के संधान में अनवरत रत हैं । जब तक उसका पता नहीं लग जाता तब तक इन्हें विश्राम कहाँ—

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः ।
किमपः सत्यं प्रेप्सन्तीः, नेलयन्ति कदाचन ।। —अथर्ववेद १०।७।३७

यह वायु क्यों चल रहा है ? ठहर क्यों नहीं जाता ? ये जल किसकी कामना में बहे चले जा रहे हैं ? ये स्थिर क्यों नहीं हो जाते ? इनका मन यहीं क्यों रमण नहीं करता ? प्रतीत होता है, ये सब उस सत्य-स्वरूप प्रभु की खोज में लगे हुए हैं । उनको बिना प्राप्त किए इन्हें चैन कहाँ ? इनकी गति का अन्त तो उसी अनन्त में होगा ।[1]

संत-साहित्य में भी इस बात का अनेक बार उल्लेख किया गया है कि प्रभु की प्राप्ति होने पर ही जीवन में स्थिरता सम्भव है । इस भाव की अभिव्यक्ति के लिए वे 'हद' और 'बेहद' शब्दों का प्रयोग करते हैं । हद-ससीमता में पूर्ण सुख-शान्ति सम्भव नहीं है, इसीलिए बेहद-असीमता की ओर यात्रा करनी पड़ती है—

हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्न असनान ।
मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम ।।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३

कबीर की विरहणी आत्मा अपने प्रिय परमात्मा को पाकर ही अपनी जलन शान्त कर सकेगी । पता नहीं उसके जीवन की अनन्त प्रतीक्षा किस पुण्य घटिका में सुखद संयोग में परिणत होगी ?—

कबीर देखत दिन गया, निसि भी देखत जाइ ।
बिरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलपै माइ ।।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०

दादू जीव को उद्बोधन प्रदान करते हुए कहते हैं कि यदि तू मोह-निशा में निरन्तर सोता रहेगा तो तेरा समस्त जीवन योंही नष्ट हो जायेगा और तू उस परम प्रभु को प्राप्त न कर सकेगा —

काल हमारा कर गहे, दिन-दिन खेंचत जाइ ।
अजहूं जीव जागै नहीं, सोवत गई बिहाइ ।।

—संत० १, पृष्ठ ८०

---

१. डा० मुन्शीराम शर्मा—भक्ति का विकास, पृ० १०६

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के अन्तर्गत अहिंसा पर विशेष बल दिया गया है। अहिंसा केवल कायिक ही नहीं होती, वह वचन और मन की भी होती है। हम किसी को कटु वचन न कहें जिससे सुनने वाले की आत्मा को क्लेश पहुँचे। इतना ही नहीं, हम अपने मन द्वारा भी किसी के प्रति दुर्भाव न रखें, किसी का अहित-चिंतन न करें। संतों ने भी अहिंसा-परक प्रवृत्तियों को सतत प्रेरणा प्रदान की है। समाज में मांस सेवन की प्रथा सुदूर अतीत से चली आ रही है। संतों का यह विश्वास है कि प्रत्येक प्राणी में एक ही ब्रह्म का बास है। प्रत्येक जीवधारी अपना अस्तित्व एवं महत्व रखता है। अतः उसका बध करना सर्वथा अनुचित है। सभी संतों ने एक स्वर से इन हिंसामूलक प्रवृत्तियों का विरोध किया है—

कबीर— माँस अहारी मानवा, परतछ राछस अंग।
ताकी संगत मत करो, परत भजन में भंग॥

—संतबानी संग्रह १, पृ० ६१

नानक क्या बकरी क्या गाय है, क्या अपना जाया।
सब का लोहू एक है, साहिब फरमाया॥

—संतबानी संग्रह २, पृष्ठ ४५

मलूक— पीर सभन की एक सी, मूरख जानत नाहिं।
कांटा चूभें पीर है, गला काट कोउ खाय॥

—संतबानी संग्रह १, पृष्ठ १०३

जीवन के बाह्याचार सभ्यता के अन्तर्गत आते हैं। उदाहरणार्थ तीर्थपर्यटन, उपवास, मूर्तिपूजा के विविध विधान, वर्णाश्रम व्यवस्था आदि। इन सबके मूल में जो भावना निहित है वह हमारी संस्कृति का अंग है, पर इनका बाह्य रूप सभ्यता की सीमा में परिगणित किया जाता है। संत-साहित्य में जहाँ बाह्याचारों की क्रिया मात्र तो है, पर उसके अंतराल में जो मूल भाव की प्रेरिका शक्ति है उसके अभाव में जीवन का जो विकृत रूप उपस्थित होता है उसकी भर्त्सना सर्वत्र पाई जाती है। कबीर जातिगत अथवा पदगत महत्व स्वीकार नहीं करते। उनके समक्ष तो प्रभु का ही महत्व है—

है गैं गैबर सघन छत्रपती की नारि।
तास पटंतर ना तुले, हरिजनि की पनिहारि॥

—कबीर ग्रं०, पृ० ५३

नानक का दृढ़ विश्वास है कि उस परमदानी प्रभु के समक्ष जात-पाँत का भेद नहीं रहता। वह समदृष्टि सम्पन्न है। अतः उसके यहाँ पक्षपात नहीं। सभी

अपने-अपने कर्म का फल पाते हैं—

खत्री ब्राह्मण सूद बैस, जातीं पूछि न देई दाति।
नानक मांगे पाइयै, त्रिहि पहरे पिछली राति।

—संतबानी संग्रह, पृष्ठ ७०

संत कवि रज्जब का भी यही कथन है कि भक्ति की भूमिका में जाति का स्थान नहीं है—

भक्ति जाति कूं क्या करै, सुनियों रे भाई।
बेटी सहारे बाप कै, भेजे तहं जाई॥

—संत सु०, पृ० ३०६

धरनीदास शक्ति ब्राह्मण की अपेक्षा भक्त चमार को श्रेष्ठता प्रदान करते हैं—

करनी पार उतारिहै, धरनी कियो पुकार।
साकित बाम्हन नहिं भला, भक्ता भला चमार॥

—संतबानी संग्रह १, पृष्ठ ११६

उपासना संबंधी बातों को लेकर संतों ने जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट है कि वे अन्तः साधना को ही महत्व प्रदान करते हैं। कबीर तीर्थाटन एवं व्रत की निस्सारता व्यक्त करते हुए कहते हैं—

केऊ केऊ तीरथ व्रत लपटाना, केऊ केऊ केवल राम निज जाना।
अजरा अमर एक अस्थांना, ताका मरम काहू बिरलै जाना॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ, २३८

नानक भी अन्तः साधना को बल प्रदान करते हुए कहते हैं—

बरतु नेम तीरथ भ्रमै, बहुतेरा बोलणि बूड़।
अंतरि तीरथु नानका, सोचत नाहीं मूड़॥

—संतबानी सं०, पृष्ठ ७०

सुन्दरदास भी हरिध्यान को ही महत्व देते हैं। उनका विश्वास है—

हरिनाम तें सुख ऊपजै मन छाड़ि आन उपाइ रे।
तन कष्ट करि-करि जौ भ्रमै तौ मरन दुःख न जाइ रे।
गुरु ज्ञान को विश्वास गहि जिनि भ्रमै दूजी ठौर रे।
योग यज्ञ कलेश तप व्रत नाम तुलत न और रे।
सब संत यों ही कहत हैं श्रुति स्मृति ग्रंथ पुरान रे।
दास सुन्दर नाम ते गति लहै पद निर्वान रे।

—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ८३१

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत अतिथि सत्कार का विशेष महत्व प्रतिपादित किया गया है। कबीर इस तथ्य से पूर्ण परिचित थे। जिस प्रकार एक सद्गृहस्थ सुन्दर आसन सुस्वादुमय भोजन, शीतल जल, सुखद शय्या आदि के द्वारा अपने अतिथि का अपनी सामर्थ्य के अनुसार पूर्णरूप से सत्कार करने में आत्मतोष अनुभव करता है। उसी प्रकार कबीर भी अपने परमेश्वर को पाहुन रूप में पाकर उसे सब कुछ अर्पित करके अपनी भाव-भगति का सुख लेना चाहते हैं–

घरि परिमेसुर पाहुंणा, सुणौं सनेही दास।
षट रस भोजन भगति करि, ज्यूं कदे न छांड़े पास ॥

–कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०

संत कवि यद्यपि निर्गुण के उपासक थे, पर भागवत भक्ति के कर्मवाद एवं पुनर्जन्मवाद का प्रभाव इन पर पड़ा था। क्रियामाण, संचित और प्रारब्ध कर्म के ये तीनों ही रूप इन्हें मान्य थे। हमारा कर्म ही प्रारब्ध बनता है जो दूसरे जन्म में फल-प्रदाता होता है। कबीर की निम्नांकित साखी इस तथ्य का प्रतिपादन करती है–

देखो कर्म कबीर का, कुछ पुरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ॥

–कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३

नानक भी कर्म-विपाक पर विश्वास प्रकट करते हुए भाग्यवाद की ही पुष्टि करते हैं–

मन मूरख काहे चिल्लावे, पूर्व लिखे का लेखा पावे ॥

–संतबानी संग्रह, (भाग २), पृ० ४८

सुन्दरदास बार-बार नरक-कुंड में पड़ने (जन्म-ग्रहण करने) की स्थिति को उचित नहीं मानते–

आपुही तें जात अंध नरकनि बार बार,
अजहूं न शंक मनि मांहि अब करि है।
दुःख को समूह अवलोकि कै न त्रास होइ,
सुन्दर कहत नर नागपासि परि है।

भारतीय संस्कृति में कर्म विधान पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। ऊपर हमने संत-साहित्य में प्राप्त होने वाले कर्म सम्बन्धी कतिपय संकेत उपस्थित किए हैं जिनके द्वारा यह देखने की चेष्टा की गई है कि संतों की चिन्तन धारा में सांस्कृतिक विचार पद्धति का रूप किस तरह समाया हुआ है। इसी प्रसंग में गुरु की महत्ता का प्रश्न भी विचारणीय है। सच्चे अर्थों में जीवन का पथ-प्रदर्शक है। उसके

अभाव में हमारी समस्त साधना सम्बन्धी क्रियाएँ व्यर्थ सिद्ध होती हैं । एक सच्चे गुरु की उपलब्धि जीवन वरदान बनकर आती है । जब तक प्रभु की कृपा नहीं होती तब तक सद्गुरु का मिलना असंभव है । संतों का साहित्य गुरु-महिमा से भरा पड़ा है । पिछले अध्यायों में गुरु सम्बन्धी विवेचन के अन्तर्गत हमने इस विषय पर विचार किया है । यहाँ उसकी पुन: चर्चा आवृत्ति मात्र होगी । अत: यहाँ हम इतना ही कह कर संतोष करेंगे कि भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही संतों ने गुरु के महत्व को स्वीकार किया है ।

संस्कृति जीवन की उस परिमार्जित अवस्था को भी अपने अन्दर सन्निविष्ट करती है जिसमें चित्र, संगीत तथा काव्य कला अपना विकास करती है । सभ्य होने के अतिरिक्त संस्कृति व्यक्ति में इन ललित कलाओं का विकास आवश्यक माना जाता है । संतों में रेखाओं और रंगों से बने हुए चित्रों की रचना–विधान का कौशल भले ही न रहा हो, पर उनमें साधारण चित्रकारों की चित्रकला तो क्या, उस परम विराट की चित्रकला के समझने उसके रूपों रंगों भाव–भंगिमाओं आदि के समझने और समझाने की पूर्ण क्षमता विद्यमान थी । वे जागतिक व्यापारों के नाना स्थूल एवं सूक्ष्म चित्रों के पूर्ण पंडित थे । संगीत कला सम्बन्धी ज्ञान भी इन संत कवियों को था । एकतारा बजा-बजा कर श्रवण–सुखद वातावरण की सृष्टि में ये पूर्ण निष्णात प्रतीत होते हैं । कतिपय संत-कवियों के पदों में राग-रागनियों का उल्लेख पाया जाता है । धनी धरमदास ने सोहर[1] लिखे हैं । गुरुनानक देव की रचना में राग गउड़ी, रागमलार, राग बसंत[2] आदि पाए जाते हैं । दादूदयाल की कविता में राग केदारा, रागमारू, राग सारंग, राग विलावल[3] आदि प्रचुर मात्रा में हैं । रज्जब में राग टोड़ी राग असावरी, राग मलार[4], आदि के दर्शन होते हैं । सुन्दरदास का काव्य राग जैजैवन्ती, राग रामगरी, राग बसन्त, राग गौड़, राग नट[5] आदि के बड़े ही मनोरम रूप उपस्थित करता है ।

जहाँ तक काव्यकला का सम्बन्ध है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन संतों को कवि सुलभ भावुकता प्राप्त थी । उनका भाव प्रवण हृदय निरंतर भाव की भूमिका में ही प्रतिष्ठित रहा करता था । और वे कवि-जनोचित सहृदयता एवं मार्मिकता के साथ विभिन्न भावनाओं की सन्नियोजना करने में पूर्णत: पटु थे । इस प्रसंग में संत सुन्दरदास का विशष स्मरण आता है । काव्यकला के पूर्ण पारखी,

---

१. संत सुधासार, पृ० ११०
२. संत सुधासार, पृ० १५४, १५५
३. संत सुधासार पृ० २६६–६७–६८–७०
४. संत सुधासार, पृ० ३०४, ३०५
५. सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ८९४, ८९५, ८९९, ९०३, ९०६

रचना–विधान में सर्वत्तोभावेन निष्णात संत सुन्दरदास के समकक्ष इने गिने कवि दृष्टिगोचर होते हैं। वे संत होने के साथ ही साथ पूर्ण पंडित भी थे। संत कवियों में भावात्मकता के अभाव का कतिपय आलोचकों ने दर्शन किया है, पर यह दर्शन उनके प्रति न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर संत कवियों की काव्यकला सम्बन्धिनी भावुकता का विवेचन प्रसंग–बाह्य होगा। इसकी समीक्षा तो अपना स्व-तंत्र महत्व रखती है। इस प्रसंग में केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि संतों में वाणी अक्खड़ता केवल प्रसंगगत है। जहाँ उनका सुधारक अथवा उपदेशक रूप है वहीं काव्यात्मक सौन्दर्य भले ही प्राप्त न हो, अन्यथा भाव की भूमिका में संचरण करते हुए वे कवि सुलभ सहृदयता एवं भावुकता से पूर्ण हैं।

संत सारिहय में ऐसे कितने ही अन्य विचार प्राप्त होते हैं जो भारतीय संस्कृति के पोषक प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में एक स्वतंत्र विषय के रूप में एक बड़े ग्रन्थ की रचना की जा सकती है। यहाँ पर हमने अत्यन्त संक्षेप रूप में संत साहित्य की सांस्कृतिक चेतना सम्बन्धी कतिपय संकेत मात्र दिए हैं। संतों का प्रयास जड़ता से हटकर विशुद्ध चेतन तत्व की उपलब्धि करना रहा है। भारतीय संस्कृति मानव की चेतना उसकी जागरूकता को सदैव अनुप्राणित करती रही है। संतों की बानियों, उनके पद एवं रमैनी, साखी-शब्द सभी जागरूकता, स्वतंत्र चिंतन एवं प्रगाढ़ भक्ति-भावना से पूर्ण हैं। उनका साहित्य सच्चे अर्थों में भारतीय-संस्कृति का परिचय प्रदान करता है।

११. उपसंहार

प्रारंभिक अध्यायों में हमने साहित्य के अन्तर्गत भाषा के स्वरूप और उसके कृतित्व की विवेचना करते हुए संत-साहित्य की भाषा के अध्ययन का प्रयास किया है। इस दिशा में भाषा वैज्ञानिक एवं व्याकरणिक रूपों पर विचार करने के साथ ही साथ संतों की भाषा पर पड़ने वाले विदेशी प्रभावों को भी देखा गया है। वस्तुत: किसी भी काव्य की भाषा देश और काल के बन्धनों से जकड़ी होते हुए भी स्वात्मा के पंखों की मनोरम उड़ान से अलंकृत होती है। वह जीवन की अनेक रूपताओं एवं विश्रृंखलताओं के असीम गगन में विहरणशीला होते हुए भी शास्त्रीय मर्यादाओं से परिवेष्टित होती है, वह कृतिकार के मानस प्रदेश में समस्त वन्धनों से परे रहते हुए भी एक विशिष्ट चिंतन-परिधि में समायी हुई रहती है। किसी भी काव्य का स्वरूप ग्रहण करने वाली भाषा उस प्रकाश-पुंज के रूप में है जिसकी रश्मियां अनंत दिशाओं में सतत प्रसरित रहती हैं। संतों की भाषा पर विचार करते समय इस तथ्य की सत्यता को हम चरितार्थ होता हुआ पाते हैं। उनकी भाषा में एक रूपता का अभाव है। किसी भी संत कवि की भाषा को लेकर यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी भाषा का निश्चित रूप यही है। पर यह भी निश्चित है कि संतों के साहित्य को बिना उनका नाम जाने हुए पढ़ने पर कोई भी सरलता से कह सकता है कि यह किसी संत की रचना है। तात्पर्य यह है कि संतों की भाषा अनेक रूपता में भी अपना एक विशिष्ट रूप रखती है। दूसरे शब्दों में संतों की भाषा की अपनी एक निराली धज है।

हिन्दी संत-काव्य-परम्परा में कबीर का नाम सर्वाधिक प्रमुख है। इनका साहित्य भी अपेक्षाकृत अधिक तथा कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। विद्वानों ने प्रमुखत: इन्हीं की भाषा के आधार पर संत साहित्य की भाषा पर अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि कबीर ने "पचरंगी" मिली जुली भाषा का व्यवहार किया है। (बुद्ध चरित पृ० ८४) व्याकरणिक दृष्टि से भी कबीर की भाषा के क्रिया पद एवं कारक चिह्न आदि विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के व्याकरणिक प्रभाव से अछूते नहीं रहें हैं।

अत: कबीर की ही भाषा की भांति अन्य संत-कवियों में भी भाषा की अनेक-रूपता प्राप्त होती है। इस अनेकरूपता के कई कारण हैं—

१-जिस युग में कबीर तथा उनके अन्य अनुगामी संतों ने काव्य-रचना की उस युग में हिन्दी का रूप निखर नहीं पाया था। अनेक भाषायें एवं उपभाषायें विकासोन्मुख हो रही थीं। उनकी उनींदी आँखों में एक मधुर अलसभाव विद्यमान था। उन्होंने अभी अपना शृङ्गार नहीं किया था।

२-विभिन्न भाषायें अपने-अपने क्षेत्रों में साहित्यिक अभिव्यक्तियों का माध्यम बनने जा रही थीं। पश्चिम में डिंगल भाषा में पर्याप्त साहित्य-सृजन हो चुका था। ब्रजभाषा पिंगल प्रधान भाषा होकर समस्त ब्रजमण्डल में व्यवहृत हो रही थी। अवध प्रदेश में अवधी तथा बिहार प्रदेश के आसपास भोजपुरी भाषा में साहित्यिक रचनाओं का सूत्रपात हो गया था।

३-मुसलमानों के शासन के कारण जन-जीवन में उर्दू के माध्यम से अरबी फारसी शब्द अधिकाधिक प्रचलित होते जा रहे थे।

४-संत-जन एक ही स्थान पर प्रायः नहीं जमे। वे इतस्ततः भ्रमण करते हुए अपने उपदेशों का प्रचार करते थे। परस्पर सम्पर्कजनित प्रभावों को ग्रहण करते हुए वे अपने शब्द-भण्डार को समृद्ध करते रहते थे। इसीलिए विभिन्न प्रदेशों की बोलियों एवं भाषाओं के शब्द उनकी सम्पत्ति बन जाते थे। ऐसा भी सम्भव है कि वे विभिन्न प्रदेशों के व्यक्तियों को अपनी बात समझाने के लिए उन्हीं की बोली का प्रयोग करने का प्रयास भी करते रहे होंगे। धीरे-धीरे विभिन्न भाषाओं के शब्दों से युक्त एक विशिष्ट भाषा ही संतों की भाषा के रूप में आ उपस्थित हुई।

५-इन संतों पर नाथ-पंथी योगियों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उन्होंने उनके योगपरक शब्दों को लिया। कहीं-कहीं उनकी अभिव्यक्तियाँ भी प्रायः उसी रूप में संतों ने ग्रहण कर लीं।

६-कभी-कभी संत-वाणीविलास में भी पड़ते हुए देखे जाते हैं। सामान्य बोलचाल की भाषा में कविता लिखते-लिखते विशुद्ध पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती एवं अरबी-फारसी मिश्रित पदावली का प्रयोग करने लगते हैं।[1] इसे उनका रुचि-वैचित्र्य ही कहा जायगा।

इन्हीं उपर्युक्त कारणों से संत-साहित्य की भाषा का कोई एक ऐसा स्थिर सामान्य रूप नहीं है जिसका नामकरण किया जा सके। जिन संतों ने एक से अधिक ग्रंथों की रचना की है उनकी भाषा ग्रन्थानुसार भी बदली है। यथा कबीर की साखियों की वह भाषा नहीं है जो उनकी रमैनियों की है।

आधुनिक काल में जिस खड़ी बोली का प्रयोग हम कर रहे हैं उसका सूत्रपात संतों की रचनाओं में हो चुका था, इसे हम पहले भी कह आए हैं। प्रस्तुत प्रसंग में

---

१. इस प्रकार के उद्धरण पूर्व अध्यायों में दिए जा चुके हैं।

कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे–

कबीर– प्रीति प्रतीति करो दृढ़ गुरु की । –संतबानी संग्रह २, पृ० १६

नानक– दीनानाथ सकल भय भंजन । " " " ४७

रैदास– प्रभु जी तुम चंदन हम पानी । " " " ३१

मलूक– खड़ा रहूं दरबार तुम्हारे । " " " ९३

रज्जब– सकल पतित पावन किये, अधम उधारनहार ।

–संतसुधासार, पृ० ३११

इसी प्रकार अन्य संत कवियों ने भी यथास्थान खड़ीबोली के शब्दों का प्रयोग किया है ।

भाषा सम्बन्धी विवेचन में तत्सम एवं तद्भव शब्दों के प्रयोग पर भी ध्यान दिया जाता है । सन्तों की भाषा में जहाँ तक तत्सम पदावली के प्रयोग का प्रश्न है, यह स्पष्ट ही है कि उनका ध्यान इस दिशा की ओर नहीं था । उनके समक्ष केवल भाव-प्रकाशन का प्रश्न था । भावाभिव्यक्ति हो जानी चाहिए, भाषा का कैसा भी रूप क्यों न हो । यही कारण है कि वे शब्दों के तत्सम एवं तद्भव रूपों के प्रयोग-चिंतन के चक्कर में नहीं पड़े । जब जहाँ जो शब्द आ गया उसका प्रयोग कर दिया । पर वे इतने कुशल हो गए थे कि उपयुक्तता की सृष्टि अनायास ही हो जाती थी । जन-जीवन की चलती हुई बोली में रचना करने के कारण उनकी रचनाओं में तद्भव रूपों का बाहुल्य होना स्वाभाविक ही है ।

संतों की भाषा के व्याकरण सम्मत रूप पर भी प्रायः प्रश्न उठ खड़ा होता है । इस सम्बन्ध में हमारा स्पष्ट मत यह है कि संतों ने व्याकरणिक नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं किया है । इसीलिए उसमें शिथिलता पाई जाती है । पर सामान्यतः व्याकरण के नियमों का निर्वाह करते हुए संतों ने लिखा है । वे व्याकरण शास्त्र के पंडित अवश्य न थे पर सामान्य भाषा व्यवहार के रूप से परिचित अवश्य थे ।

काव्यात्मकता की दृष्टि से संतों की भाषा पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संत कवि आध्यात्मिक जगत के प्राणी थे । अतः उन्होंने काव्यात्मक अभिव्यक्तियों की दृष्टि से अपनी रचनाओं का सृजन नहीं किया है । उनकी प्रायः समस्त अभिव्यक्तियाँ उनकी आत्मा की संदेशवाहिका के रूप में हैं । वे अपनी बात को स्पष्ट व्यक्त कर देना ही अपना एक मात्र साहित्यिक कृतित्व समझते थे । पर जहां कहीं उन्होंने प्रतीकात्मक शैली का उपयोग किया है वहाँ वह स्पष्टतः भी नहीं रह पाई है । ऐसे स्थलों पर उनकी अभिव्यक्तियां दुरूहता एवं जटिलता से आक्रान्त हैं । काव्य का प्रसादात्मक गुण ऐसे प्रसंगों में पूर्णतः तिरोहित हो गया है ।

काव्य के अन्तर्गत अभिव्यक्ति की तीव्रता की दृष्टि से अलङ्कारों का विशेषो महत्व माना जाता है। अलङ्कार एक शैली विशेष होती है। हम अपनी अनुभूति को जिस रूप में व्यक्त करना चाहते हैं वही रूप कोई न कोई अलङ्कार बन जाता है। स्पष्ट है कि संतों ने काव्य शास्त्र का अध्ययन नहीं किया था। इसीलिए आलङ्कारिक सौन्दर्य विधान का उद्देश्य संतों के समक्ष कभी रहा ही नहीं। हाँ, प्रकृत रूप से जिन अलङ्कारों का समावेश उनकी रचनाओं में हो सका, वही उनकी आलङ्कारिक सम्पत्ति हैं जिसका संभवतः उन्हें कभी भान भी नहीं हुआ। छन्द-रचना के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। कहीं-कहीं गति-यति का सम्यकरूपेण न प्राप्त होना उनकी छन्द-शास्त्रीय उपेक्षा वृति का परिचय देता है। उन्हें इतना अवकाश ही नहीं था कि वे अभिव्यक्ति की बाह्य सज्जा पर भी ध्यान देते। वे आध्यात्मिक जगत के प्राणी थे। अध्यात्म ही उनका साध्य था और अध्यात्म ही उनका साधन भी। उसकी उपलब्धि में वे निरन्तर संलग्न रहा करते थे। काव्यात्मकता आदि गुण तो उनकी घाते की सी सम्पत्ति है। वस्तुतः जब हृदय-भाव भरित हो जाता है तब भाषा स्वतः नादमय हो जाती है। संतों के काव्य में भी यही स्थिति थी। वे अपने जिस आध्यात्मिक क्षेत्र में निरन्तर विचरण किया करते थे, उसी भाव-भूमि में प्रतिष्ठित होकर उन्होंने जो कुछ भी कहा वह स्वतः काव्य बन गया। इसके लिए उन्हें प्रयास नहीं करना पड़ा। कदाचित् उन्हें अपनी अभिव्यक्तियों के पुनः अवलोकन करने तथा उनका परिमार्जित रूप उपस्थिति करने का अवसर भी नहीं प्राप्त हो सका। बहुत सी रचनाएँ तो इधर-उधर उनके भक्तों के मुख से सुनकर संगृहीत हुईं। ऐसी स्थिति में काव्य-शास्त्रीय समीक्षा के आधार पर इन भगवद् भजन में लीन रहने वाले संतों की भाषा का अध्ययन उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

संतों की भाषा का सर्वाधिक गुण है उसका सामान्य जन-जीवन के निकट होना। संतों की रचनाओं का उद्देश्य भी यही रहा है। अस्तु, उन्होंने कभी भी भाषा को पाँडित्य के भार से बोझिल नहीं बनाना चाहा। केवल संत सुन्दरदास की रचनाओं में ही उनके शास्त्रीय ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। पर यह शास्त्रीय ज्ञान उन्होंने सर्वत्र व्यक्त नहीं किया है। उनकी रचनाओं का एक अंश ही इस प्रकार है जो छंद-रचना-विधान तथा अन्य काव्य-शास्त्रीय कौशल का परिचय प्रदान करता है। साधारणतः उनकी अन्य सभी रचनाएँ संतों की परम्परा के अनुरूप हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के बाद के संत कवियों की रचनाएँ सामान्यतः परिष्कृत अवधी या ब्रजभाषा में पाई जाती हैं। पर उनमें भी यत्र-तत्र सँतई धज दिखलाई पड़ जाती है। इस दृष्टि से भीखा, चरणदास, सहजोबाई, दयाबाई तथा पलटू साहब का नाम लिया जा सकता है। यों तो कबीर तथा नानक में भी ऐसी पंक्तियां मिलती

हैं[1] जिनके पढ़ते समय सहसा सूर और तुलसी का स्मरण हो आता है । पर ऐसे भाषा रूप कुछ ही स्थलों पर उपलब्ध होता है ।

इस प्रसङ्ग में संक्षेप में यही कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि सतों की भाषा में एकरूपता नहीं है । उसमें पूर्वी प्रयोगों की बहुलता लिए हुए ब्रज तथा अवधी भाषा का अधिकाधिक रूप उपलब्ध होता है । राजस्थानी एवं पजाबी प्रयोगों के रूप भी एक अच्छी संख्या में पाए जाते हैं । पर ये प्रयोग विशेषरूप से कबीर नानक तथा दादू में ही मिलते हैं । अरबी–फारसी शब्दों के साथ–साथ गुजराती तथा मराठी भाषा के शब्द भी अपनी झलक दिखाते रहते हैं । इस प्रकार भाषागत विविध रूपता जितनी अधिक सतों की भाषा में मिलती है उतनी अन्यत्र नहीं ।

---

१. संतबानी संग्रह भाग २, पृ० ५, ४८